

मतादर्श

सामाजिक विज्ञान, मानविकी एवं वाणिज्य की शोध पत्रिका

संपादक

शैलेन्द्र सेंगर

निदेशक, एकेडमी ऑफ एडमिनिस्ट्रेटिव सर्विसेज, दिल्ली

मेखला प्रकाशन

एफ-3/139, सेक्टर-16, रोहिणी

दिल्ली-110089

वर्ष : 7 अंक : 1 □ जनवरी-मार्च, 2014

मतादर्श

मतादर्श भारत में समाचार पत्रों के निबंधक (आर.एन.आई.) द्वारा अनुमोदित है।

सलाहकार संपादक

डा. गिरीश मिश्र

संपादक

शैलेन्द्र सेंगर

संपादक मंडल

डॉ. आर. एन. कुंअर

डॉ. बामेश्वर सिंह

डॉ. विवेकानन्द शुक्ला

डॉ. रवीन्द्रनाथ राय

प्रो. राम अयोध्या सिंह

डॉ. लक्ष्मेश्वर ठाकुर

साज-सज्जा

पंकज झा

संपादकीय सम्पर्क:

448, पॉकेट-5, मयूर विहार, फेज-1,

दिल्ली-110091

फोन : 011-49050844, 22053916, 47541851, 64683387

e-mail : editorialindia@yahoo.com

मूल्य : ₹ 1500.00

मुद्रक एवं प्रकाशक अलका सिंह द्वारा एफ-3/139, सेक्टर-16, रोहिणी दिल्ली-110089 से प्रकाशित तथा बी. के. ऑफसेट, नवीन शाहदरा दिल्ली-32 से मुद्रित

नोट: पत्रिका में प्रकाशित लेखकों के विचार अपने हैं। उसके लिए पत्रिका/संपादक/संपादक मंडल को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। पत्रिका से सम्बंधित किसी भी विवाद के निपटारे के लिए न्याय क्षेत्र दिल्ली होगा।

Editorial

For parents and teachers of private schools, Anna Hazare's success in forcing the Union government to take up the Lokpal Bill seems to have provided a glimmer of hope in fighting the might of big educational institutions. For harried parents and teachers of private schools, Anna Hazare's success in forcing the Union government to take up the Lokpal Bill seems to have provided a glimmer of hope in fighting the might of big educational institutions. From Wednesday, 30 parents and teachers began a fast against the state government's inability to prevent the exploitation of parents and students by schools in the form of unbridled fee hikes. The irony for both teachers and parents of children studying in private schools is that the government has been making the right noises of reining in private schools from time to time. But it has miserably failed to actually regulate or bring private schools under the control of the state for various reasons. Whenever a new minister assumed charge of the school education department, the standard answer journalists received for the first three months was: "We are studying the department".

Finding it difficult to pay teachers as per the new scale, schools hiked monthly fees, burning holes in the pockets of parents. The parents began protesting. Soon, regulating fee hikes became the topmost priority of the school education ministry. And yet, even after two years, the state government has failed to bring in an act for the same. Incidentally, instead of introducing GRs that were struck down by the courts, the government could have at the very beginning introduced an act regulating fees. All that the state had to do was look at the recommendations of the Supreme Court's TM Pai judgement and then introduce a clause for an upper limit on profiteering in the current draft. If the state government manages to introduce a fee regulation bill in the ongoing legislature, it will provide relief to lakhs of parents and students.

—Editor

इस अंक में

इतिहास

नील पर संघर्ष और चम्पारण आन्दोलन-कुमुद कुमारी	7
मौर्यकालीन सामाजिक व्यवस्था-उमेश कुमार उन्मुक्त	11
मौर्य के बाद भारत में आर्थिक क्रियाकलाप-डॉ० शेखर सिंह	15
अलाउद्दीन खिलजी की बाजार नियंत्रण व्यवस्था का मूल्यांकन-चन्दन कुमार	19
प्राचीनकालीन आश्रम व्यवस्था की महत्ता-डॉ० श्वेता	24
प्राचीन काल में स्त्रियों की स्थिति-राकेश कुमार झा	28
ब्रिटिश भारत में धार्मिक आन्दोलन का मूल्यांकन-रणजीत कुमार	34
बाबा साहब भीमराव अम्बेडकर की दृष्टि में सामाजिक न्याय-सोनी भगत	37
ब्रिटिश भारत में दलित आन्दोलन-ब्यूटी भगत	40
1857 की क्रान्ति की ऐतिहासिक दृष्टि-रमेश कुमार गुप्ता	43
पाकिस्तान की असफल अर्थव्यवस्था: इतिहास के संदर्भ में-मनोज कुमार	47
प्राचीन भारत में बौद्ध का महत्व एवं विस्तार-डॉ० मीना कुमारी	52

संस्कृत

भवभूतिप्रणीत 'मालतीमाधव' - प्रकरण में नियतश्राव्य संवाद का नाटकीय महत्त्व-डॉ० कान्ति सिंह	58
वर्तमान युग में श्रीमद्भगवद्गीता की प्रासंगिकता-डॉ० बबीता सिंह	63
वेदकालीन वस्त्र एवं परिधान-डॉ० नमिता कुमारी	67

हिन्दी साहित्य

रामचरितमानस में ग्राम-संस्कृति की अवधारणा-प्रवीन कुमारी	70
साहित्य में विचारधारा-कुमारी गरिमा	73
निराला युग की कविताओं में मुक्तिगान-आशा	78

मनोविज्ञान

टैगोर एवं फ्रायड की कामदृष्टि-डॉ० मनोज कुमार सिंह	81
कामकाजी महिलाओं के मानसिक स्वास्थ्य का विश्लेषण-डॉ० आशा कुमारी	86

राजनीति विज्ञान

केन्द्र-राज्य संबंध: भारत के संदर्भ में विवेचन-डॉ० अनिल कुमार सिंह	92
भारत में गठबंधन सरकारों का मूल्यांकन-डॉ० नीलम कुमारी सिंह	96

समाजशास्त्र

वैश्वीकरण की चुनौतियाँ एवं भारत-डॉ० अनुराधा गौतम	100
--	-----

अर्थशास्त्र

जैविक खेती महत्ता: एक अर्थशास्त्रीय विवेचन-डॉ० रंजना सिंह	104
---	-----

शिक्षा

भारतीय शिक्षा व्यवस्था में शिक्षक का महत्व-डॉ० अनीता शर्मा	108
--	-----

भूगोल

मध्यप्रदेश की आदिवासी महिलाओं का स्वास्थ्य स्तर-संजीव सौरभ	112
--	-----

HISTORY

Myth and Reality of Aryan Invasion Theory—Dr. Rekha Choudhary	117
---	-----

ECONOMICS

The Gender Prejudice and Atrocities Against Women: The Role of Bihar Government for Girl Child Betterment—Dr. Ashok Kumar	120
Economic Dimension and Development—Dr. Arun Kumar Suman	126
Strategies for Achieving Sustainable High Growth in Agriculture—Sanjeev Kumar Singh	130
Tribal and their Economic Situation (A study on North India Tribals)—Jyotsna Tiwary	133
Trends of Cost and Profitability of Banks—Ranjay Kumar Singh	137

POLITICAL SCIENCE

Coalition Politics in India: Prospects and Challenges—Dr. Renu Mishra	141
India's Electoral Politics—Shaifali Singh	146
Good Governance—Concept and Practice—Raghwendra Kishore	150
International Politics on Climate Change—Nitu Kumari	154

LAW

Challenges to the Impartiality of State Supreme Courts: Legitimacy Theory and "New-Style" Judicial Campaigns in America—Ibrat Adnan	158
---	-----

INTERNATIONAL RELATIONS

Systemic Politics and the Origins of Great Power Conflict—Dr. Rajesh Kumar Pandey	161
---	-----

(5)/जनवरी-मार्च, 2014

मातादर्शी

LSW	164
Globalization and its Impact— <i>Dr. Vidyapati Gautam</i>	165
PSYCHOLOGY	168
Effect of Familial factors on Achievement Motivation among Adolescents— <i>Dr. S.M. Bakhteyar Fatmi</i>	169
'Functional Approach of Guidance and Counselling in the Quality Education of Schools'— <i>Isha Tonk; Akhilendera Singh</i>	173
Psychological Aspect of PET-Loving— <i>Dr. Akhila Nand Pathak</i>	178
Effects of Parenting and Peer Pressure on Adolscent Sexual Activity— <i>Dr. Dhananjay Kumar Singh</i>	183
Childhood Psycological Disorders— <i>Dr. Om Prakash Singh</i>	189
Nightmare and its Disorders— <i>Neetu Kumari</i>	192
GEOGRAPHY	
Value of Forest: Tribals and Dwellers— <i>Santosh Ram</i>	196
Combating Environmental Degradation— <i>Bisheshwar Manjhi</i>	199
Global Warming and Natural Climate Change in the Past— <i>Arjun Rai</i>	203
COMMERCE	204
Role of E-Business in the New Economy— <i>Dr. Nripendra Bharti</i>	205

नील पर संघर्ष और चम्पारण आन्दोलन

कुमुद कुमारी

शोध छात्रा, जे०पी० विश्वविद्यालय, छपरा

हम तो चले थे अकेले जानिबे मंजिल मगर,
लोग साथ आते गए और कारवां बनता गया।

1917 ई. भारतीय इतिहास का सृजनात्मक एवं चमत्कारी काल माना जाता है। इतिहास साक्षी है कि मनुष्य ने सदैव अन्याय के विरुद्ध आवाज उठायी है। 1917 ई. की रूसी क्रान्ति ने विश्व में विभिन्न स्थानों पर हो रहे अत्याचारों व शोषक प्रवृत्तियों के विरुद्ध संघर्षरत जनसमूहों की आवाज को और भी सशक्त बनाया। भारतीय जनता ने भी इससे प्रेरित होकर उनपर हो रहे अत्याचारों के विरुद्ध आवाज उठायी। भारतीयों ने इस समय अपना विरोध प्रकट करने के लिए पारम्परिक तरीकों का चयन किया। इस समय तक भारतीय राजनीतिक नभमंडल पर महात्मा गाँधी का आर्विभाव हो चुका था तथा उन्होंने भारतीयों को विरोध प्रदर्शित करने का एक नवीन मार्ग सुझाया। यह मार्ग था “सत्याग्रह”।

इसके द्वारा ही महात्मा गाँधी ने दक्षिण अफ्रिका में अपने उद्देश्यों में सफलता प्राप्त की थी। यह पूर्णतया ‘अहिंसात्मक’ तरीका था। ‘सत्याग्रह’ को परिभाषित करते हुए स्वयं गाँधी ने कहा था “सत्य पर अटल रहना ही सत्याग्रह है। सत्याग्रह असत्य को सत्य से व हिंसा को अहिंसा से जीतने का नैतिक अस्त्र है। इसका उद्देश्य धैर्यपूर्वक, कष्ट सहकर, अहिंसात्मक एवं उचित तरीके से सत्य को प्रकट करना, भूलों को सुधारना एवं भूल करने वालों का हृदय परिवर्तन करना है, सत्याग्रह एक सरल किन्तु अचूक उपाय है।”

गाँधीजी अपने राजनीतिक गुरु गोपालकृष्ण गोखले की प्रेरणा से प्रेरित होकर “‘ठहरो’ स्थिति का अध्ययन करो और आगे बढ़ो” की नीति अपनाते हुए उन्होंने तत्कालीन राजनीति का सुक्ष्म अध्ययन किया और वे देश के कोने-कोने में गए ताकि लोगों की सही आर्थिक, सामाजिक एवं राजनितिक स्थिति जान सकें।

दक्षिण अफ्रिका में प्राप्त की गई सफलताओं ने गाँधी के भावी जीवन का मार्ग प्रशस्त किया। इसी संघर्ष की अवधि में उन्होंने सत्य और अहिंसा के सिद्धांत पर आधारित ‘सत्याग्रह’ नामक नवीन संघर्ष प्रणाली का विकास किया। उनके विचार में सत्याग्रह एवं ऐसा आध्यात्मिक सिद्धान्त है जो मानव-मात्र से प्रेम पर आधारित है। इसमें विरोधियों के प्रति घृणा का भाव नहीं है। एक आदर्श सत्याग्रही सत्य एवं शांति का प्रेमी होता है वह बुराई से घृणा करता है, बुरों से नहीं।

गाँधी सत्य के समान अहिंसा पर भी बल देते थे। इनका मानना था कि अहिंसा में सभी समस्याओं के निराकरण करने की अद्भुत क्षमता है। उन्होंने अहिंसा कायरता और दुर्बलता का नहीं बल्कि वीरता, दृढ़ता और निडरता का प्रतीक बताया।

गाँधीजी साधनों की पवित्रता एवं श्रेष्ठता में विश्वास करते थे। इनका मानना था कि लक्ष्य तो उच्च होना ही चाहिए लेकिन साधन का भी उच्च होना आवश्यक है। उनका यह भी मानना था कि उच्च साध्य की प्राप्ति के लिए साधन भी श्रेष्ठ होना चाहिए।

इन्हीं अवधारणाओं को महात्मा गाँधी ने अपने जीवन का अमोघ अस्त्र बना कर भारतीय राजनीति में अपना अंगद कदम रखा और 'सत्याग्रह' जैसे अस्त्र का प्रयोग करते हुए चम्पारण की ओर 1917 ई. में कूच करने का प्रण लिया।

चम्पारण में नील की खेती क्यों ?

नीलहे गोरों ने चम्पारण को नील की खेती के लिए क्यों चुना यह एक प्रासांगिक प्रश्न है?

चूँकि देहातों में यह पूर्व कहावत है “धन देश (ईलाका) मझौवा (प्रगाना) जहाँ भात न पूछे कौवा”।

यह कहावत इसलिए प्रासांगिक है कि चम्पारण की धरती अपनी उर्वरता के लिए लोक प्रसिद्ध है। यहां की मिट्टी में इतनी उर्वरक शक्ति है कि यह सोना उगलती है। यहाँ धान की खेती, गेहूँ की खेती, गन्ने की खेती, रबी की खेती होती है और अपने अच्छी उपज के लिए लोक प्रसिद्ध है।

जब अंग्रेजों ने चम्पारण की उर्वरक मिट्टी की बखान को सुना तो वे अपने आपको इधर आने से रोक न सकें। आने के बाद यहां की शस्य श्यामला मुग्धकारी, मनुहारी भूमि पर बस गए तथा अपनी जमीनदारियां स्थापित की और अपनी सामन्तवादी पद्धति को लागू कर अपनी कोठियां स्थापित की।

चूँकि औद्योगिक क्रान्ति का तुफान इंग्लैंड में चल चूका था। मैनचेस्टर की फैक्ट्रियों के लिए अंग्रेजों को कच्चेमालों की आवश्यकता थी। अस्तु इन अंग्रेजों ने अपने कपड़ों की फैक्ट्रियों के लिए रंग की आवश्यकता महसूस की। नील उनके लिए काफी उपयुक्त नजर आया और इन लोगों ने चम्पारण में नील की खेती करना आवश्यक समझा। चूँकि चम्पारण की उपजाऊ भूमि प्राप्त हुयी। सिंचाई की सुविधा में भी उन्हें प्रकृति द्वारा प्रदत्त छोटी नदियाँ, नाले, आहर प्राप्त हो गए जिससे बिना किसी तरह के खर्च के सिंचाई सुविधा उपलब्ध हो गयी। जिससे नील के पौधों की सिंचाई भी होने लगी। अतः कम खर्च में नील की खेती होने लगी और अधिक मात्रा में उत्पादन होने लगा। इनकी जमीनदारियों में बसने वाली जनता इनका गुलाम बन जाती थी। जिन्हें कम मजदूरी देकर ये अपने खेतों में काम जबरन कराते थे। साथ ही अधिक समय तक काम लेकर कम मजदूरी देना वे अपना नैतिक दायित्व समझते थे।

19वी. सदी के प्रारम्भ में गोरे बगान मालिकों ने किसानों से एक अनुबन्ध किया जिसके अनुसार किसानों को अपनी जमीन के 3/20वें हिस्से में नील की खेती करना अनिवार्य था। इसे 'तिनकठिया' पद्धति कहा जाता था। इसके तहत उन्हें जबरन अपनी जमीन में नील की खेती करना पड़ता था। जिससे अन्य फसल उगाने में वे मजबूर हो जाते थे।

गोरे बगान मालिकों का आदेश नहीं मानने वाले निरिह जनता पर उनके द्वारा कोड़े बरसाये जाते थे, घोड़े के पैर में बांध कर उन्हें मीलों घसिया जाता था तथा स्वर्निमित्त जेलों में भूखे-प्यासे रखा जाता था, तथा लोहे की गर्म सलाखों से दागा भी जाता था। इस तरह एक तरफ उन्हें अपनी जमीन में अन्य फसल नहीं उपजाने के कारण उनके परिवार का भरण-पोषण होना नामुमकिन हो जाता साथ उनके खेतों में उपजी नील का सही मूल्य भी नहीं मिल पाता था।

अपनी जमीन में खेती करने के लिए उन्हें मालिकों को लगान की दर भी काफी अधिक देनी पड़ती थी। लगान की दर नहीं अदा करने पर अपनी जमीन मालिकों को दे देने पर मजबूर होना पड़ता था। जिससे किसानों की स्थिति इतनी दारुण हो गयी कि वे आह से अपनी भूख और आँसुओं से अपनी प्यास बुझा लेते थे।

पं. राजकुमार शुक्ल द्वारा गाँधीजी को चम्पारण आने हेतु आमंत्रण

पं. राजकुमार शुक्ल चम्पारण की धरती के सच्चे सपूत और नीलहे आन्दोलन के अग्रणी नेता थे। इनका निवास स्थान चनपटिया प्रखण्ड के सतवारिया ग्राम में था। वे स्वयं एक किसान थे जो चम्पारण की जनता पर नीलहे गोरों द्वारा किए जा रहे अत्याचार से काफी दुःखी रहा करते थे। परन्तु इन्हें इस विपत्ति से त्राण दिलाने का कोई विकल्प नजर नहीं आता था।

पं. राजकुमार शुक्ल जी को जब यह ज्ञात हुआ कि गाँधीजी नाम का एक भारत का महान सपूत दक्षिण अफ्रिका में अंग्रेजों के जुल्म से भारतीयों को राहत दिलवाया है, तो उनके मन में यह जिज्ञासा हुयी कि शायद इसी महान सपूत से हम चम्पारण वासियों को अंग्रेजों के इस जुल्म से त्राण दिलवायेंगे। जब उन्हें यह सूचना प्राप्त हुयी कि गाँधीजी जैसा भारत का महान सपूत भारत लौटा है और कांग्रेस में शामिल हो गया है, तो उन्हें यह आशा जगी कि इसी महान सपूत से चम्पारण की जनता को अंग्रेजों के अत्याचार से राहत मिल सकेगी। पं. राजकुमार शुक्ल जी को यह पता चला कि दिसम्बर 1916 में कांग्रेस का अधिवेशन लखनऊ में होने जा रहा है जिसमें गाँधीजी भी शामिल होंगे, तो उन्हें अंधेरे में एक चिराग टिमटिमता नजर आने लगा। वे लखनऊ कांग्रेस अधिवेशन में गाँधीजी से मिलने और चम्पारण की दुर्दशा सुनाने का प्रण लिया।

वे इस कांग्रेस अधिवेशन में गाँधीजी से मिलने गए और किसानों के प्रति अंग्रेजों द्वारा किए गए कठोर व्यवहार और अत्याचार की चर्चा की। साथ ही गाँधीजी से चम्पारण की दुर्दशा देखने और उससे त्राण दिलाने हेतु अनुनय-विनय किया एवं चम्पारण आने का आमंत्रण दिया। साथ ही 'तिनकठिया' पद्धति से मुक्ति दिलाने का विनय किया। इसे सुनकर गाँधी जी को काफी दुःख हुआ और इससे मुक्ति दिलाने का आश्वासन दिया।

चम्पारण के इस महान सपूत किसान पं. राजकुमार शुक्ल के अनुरोध पर गाँधी जी 1917 में चम्पारण पहुँचे। चम्पारण पहुँच कर गाँधीजी ने नील-किसानों की समस्या को सुना एवं सही पाया। जांच के क्रम में गाँधीजी को चम्पारण से चले जाने की सरकारी नोटिश दी गयी।

सरकारी आदेश की अवहेलना के कारण उनपर मुकदमा भी चलाया गया। गाँधीजी के प्रयासों से सरकार ने चम्पारण के किसानों की जांच हेतु एक आयोग नियुक्त किया। गाँधीजी को भी आयोग के सदस्य के रूप में नियुक्त किया गया। अन्ततः गाँधीजी की जीत हुयी। आयोग ने चम्पारण से 'तिनकठिया' पद्धति को समाप्त कर दिया और अंग्रेजों को अवैध वसूली का 25 प्रतिशत वापस करना पड़ा। इस प्रकार चम्पारण के रैयतों की समस्याओं का एक सीमा तक अन्त हो गया। 1917 ई. तक का अधिकांश समय महात्मा गाँधी को चम्पारण के किसानों के लिए काश्तकारी की सुरक्षा के साथ-साथ अपनी पसन्द की फसल उपजाने की आजादी दिलाने में बीता। यह अंग्रेजों पर भारत वासियों की पहली विजय का प्रतीक माना जाता है, जिसकी प्रारम्भ चम्पारण से माना जाता है।

उपसंहार

चम्पारण सदियों से इतिहास की पृष्ठभूमि का आधार स्तंभ रहा है, उपेक्षाओं का शिकार है। चम्पारण की यह भूमि महर्षि बाल्मीकी की तपोभूमि रही है जिन्हें अंगुली माल डाकू से महर्षि बनाया। अयोध्या के राजा श्रीराम के दोनों पुत्र क्रमशः लव और कुश की जन्मभूमि बाल्मीकी नगर के जंगलो में बाल्मीकी महर्षि के आश्रम में हुआ। जनक नन्दनी सीता की शरणस्थली इसी महर्षि के आश्रम में रही है, इससे स्पष्ट होता है कि विदेह राजा जनक की राज्य सीमा चम्पारण की सीमाओं

को छूती थी। यद्यपि यह शोध का विषय है। चम्पारण नन्दवंश के राजाओं के साम्राज्य को पल्लवित एवं पुष्पित होने का अवसर प्रदान किया। परन्तु निरंकुशता को प्रकटा पर पहुँचते देखकर उसका अन्त करने में पूर्णतः सहयोग भी किया। जिसका प्रमाण लौरिया का नन्दनगढ़ है।

यह भूमि महान राजनीतिज्ञ और राजनीति के मर्मज्ञ चाणक्य की कर्मभूमि भी रही है जिसने चन्द्रगुप्त मौर्य जैसे भारत के सम्राट को पैदा किया जिसकी जन्मभूमि संभवतः चम्पारण में ही रही है। यद्यपि अभी तक इसका ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है और यह शोध का विषय बना हुआ है। महान सम्राट विक्रमादित्य का भी साम्राज्य यहाँ रहा है और अपने जीवन के अन्तिम पड़ाव में तपस्या एवं शांति के लिए चम्पारण के जंगलों में ही रहे हैं। भारत के सम्राट अशोक के साम्राज्य की सीमा चम्पारण तक रही है जिसके प्रमाणिक प्रतीक के रूप में लौरिया का अशोक स्तंभ है।

महात्मा गाँधी को भी भारत का राष्ट्रपिता कहलवाने का श्रेय शायद चम्पारण को ही जाता है जहाँ से गाँधीजी अपना आन्दोलन प्रारम्भ कर भारत को अंग्रेजी साम्राज्य से आजाद कराने का स्वप्न देखे थे।

आज भी सभी पार्टियों के नेता चम्पारण से ही अपनी राजनीतिक यात्रा प्रारम्भ कर भारत के विभिन्न पदों को सुशोभित होते हैं।

इन संदर्भों के सिंहावलोकन से स्पष्ट होता है कि चम्पारण एक पारस पत्थर के रूप में है जो सबों को सोना तो बना ही देता है स्वयं पत्थर का पत्थर ही रह गया।

संदर्भ ग्रन्थों की सूची

1. बिहार राज्य अभिलेखागार निदेशालय बिहार सरकार, पटना
2. Bihar district Gazetteer, Champaran. P.C. Roy Chaudhary – Secretariate press, Patna.
3. बिहार राज्य विधायिका सभा वादवृत (सरकारी रिपोर्ट राजकीय मुद्रणालय, बिहार, पटना)
4. The Journals of Bihar March & June 1933
5. जब गाँधीजी चम्पारण आये- डॉ. डी.जी. तेन्दुलकर की पुस्तक- Gandhi in Champarna का हिन्दी रूपान्तरण राजभाषा विभाग, पटना।
6. बिहार स्वतंत्रता संग्राम से जुटे हुए बिहार के कुछ ऐतिहासिक स्थल के विवरण- मंत्रीमंडल सचिवालय एवं समन्वय विभाग, पटना (बिहार)
7. बिहार विधानसभा वादवृत रिपोर्ट (सरकारी रिपोर्ट).
8. असरफ कादरी- राष्ट्रीय आन्दोलन और चम्पारण के स्वतंत्रता सेनानी।
9. राधा गोविन्द प्रसाद & Secretariate Patna 1976.
10. National Movement in India – Dr. Rajendra Prasad.

मौर्यकालीन सामाजिक व्यवस्था

उमेश कुमार उन्मुक्त

शोध छात्र, वीर कुंवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा

मनु महाराज की व्यवस्थाओं में, बौद्ध एवं मौर्य युग के तत्वावधान में ब्राह्मण समाज पर जो आघात हुए थे, उसकी क्षतिपूर्ति का प्रयास दृष्टिगोचर होता है। सामाजिक नियमन के विधान तो लगभग धर्मसूत्रों की पुनरावृत्ति हैं।¹ लेकिन आर्थिक दृष्टि से शूद्र वर्ण को हीन बनाए रखने के तमाम बौद्धिक व्यायाम² के बाद भी मौर्य युग में आर्थिक गतिविधियों में इनकी बढ़ती हुई हिस्सेदारी को कम नहीं किया जा सका।³ कौटिल्य के बाद मनु की व्यवस्था में निम्न वर्णों की आबादी को लेकर ठीक विपरीत मान्यताओं के दर्शन होते हैं। कौटिल्य की मान्यता है कि जनपद में निम्नवर्णी लोग अधिक संख्या में निवास करने चाहें⁴ जबकि मनु महाराज इससे ठीक विपरीत अभिमत रखते हैं कि जिस राज्य में शूद्रों की जनसंख्या अधिक हो जाती है वह अकाल एवं व्याधि से पीड़ित होकर शीघ्र ही विनाश को प्राप्त होता है।⁵ ऐसा प्रतीत होता है कि शायद कौटिल्य से मनु तक आते-आते निम्नवर्णी लोग संगठित होने लगे थे और व्यवस्था के प्रति विद्रोह भी जताने लगे थे मनु महाराज शूद्र आबादी इसीलिए कम रखना चाहते हैं।

कौटिल्य ने जिस आबादी को 'श्रम' की तलाश में एकत्र किया था बहुत संभव है इसने उन्हें तत्कालीन व्यवस्था के विरुद्ध भी गोलबन्द होने का अवसर प्रदान किया हो क्योंकि मनुस्मृति में सामाजिक उथल-पुथल के कई चित्र मिलते हैं।⁶ एक जगह तो बड़े स्पष्ट शब्दों में मनु ने क्रान्ति के परिणाम स्वरूप उच्च वर्णों को होने वाली असुविधाओं के परिशमन हेतु उनके शस्त्र ग्रहण का विधान किया है।⁷ औद्योगिक नहीं तो प्राक् औद्योगिक समाज में यह मजदूरों की एकता का प्राचीनतम् साक्ष्य तो नहीं?

अब एक विचार दास प्रथा एवं तत्कालीन समाज में दासत्व की अवधारणा पर भी आलोच्य कालावधि में दासता यद्यपि सिर्फ शूद्रों के लिए ही आरक्षित नहीं थी।⁸ तथापि अपनी जर्जर आर्थिक अवस्था एवं निम्नतम सामाजिक स्तर के चलते दासत्व की स्थिति तक पहुँचने वाले भी शूद्र ही थे।⁹ दीघ निकाय में उल्लिखित 'सुदो वा सुद दासो वा'¹⁰ के आधार पर ओल्डेनवर्ग ने निष्कर्ष से सहमत हुआ जा सकता है कि यहाँ शूद्र और दास में कोई अन्तर नहीं किया गया है।¹¹ प्रो. रामशरण शर्मा अपने एक वैदुष्य विवेचन में लौह तकनीक के कृषि में प्रवेश को कृषि दासों के उद्भव का कारण ठहराते हैं। उनकी व्याख्या है कि लोहे के फाल ने बड़े-बड़े खेतों का अस्तित्व सम्भव बनाया। एक-एक घर के पास इतनी जमीन हो गई जिसे वे स्वयं के श्रम से नहीं जोत सकते थे।¹² फलतः बुद्ध कालीन विशिष्टता के तौर पर खेती में दासों का नियोजन सामने आता है और चरम पर इसका निदर्शन राज्य नियंत्रित मौर्य युगीन अर्थ व्यवस्था में होता है। कौटिल्य स्पष्ट तौर पर यह व्यवस्था देते हैं कि आर्य को दास नहीं बनाया जा सकता।¹³ मनु भी इसी तरह का मन्तव्य रखते हैं और कहते हैं कि दासवृत्ति के लिए शूद्रों को ही क्रय किया जाय।¹⁴ बौद्ध साहित्य, अर्थशास्त्र एवं मनुस्मृति में दासत्व एवं तदजन्य परिस्थितियों के बहुविध चित्र अंकित हैं।¹⁵ पालि त्रिपिटक में आठ प्रकार के दासों का वर्णन है।¹⁶ अर्थशास्त्र नौ प्रकार बताता है।¹⁷ जबकि मनुस्मृति में सात प्रकारों की चर्चा है।¹⁸

दासत्व के कारणों पर यदि विचार करें तो प्रथम दृष्टया जो कारण समझ में आते हैं, उनमें धनाभाव, ऋणग्रस्तता, युद्ध, प्राकृतिक आपदाएं तो कभी-कभी न्याय एवं दण्ड विधान प्रमुख हैं। दासों की जीवन स्थितियों के बारे में सर्वाधिकार उनके स्वामी के अधीनस्थ था। दासों के प्रति बुरे या कहे, अमानवीय व्यवहार के निदर्शन होते हैं।¹⁹ तो सहृदयता के दृष्टान्त भी मिलते हैं।²⁰ बहुत संभव है कि

दास और स्वामी के सम्बन्ध सौहार्द्रपूर्ण ही होते रहे होंगे शायद इसीलिए यूनानी लेखक भारतीय समाज में दास प्रथा को चिन्हित नहीं कर पाए।²¹

‘दासभोग’²² शब्द के आधार पर दासों के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार भी अनुमित किए गए हैं परन्तु स्वामी की सहमति के बिना यह सम्भव नहीं प्रतीत होता।²³ दासों की मुक्ति के भी अनेक प्रावधान किए गए हैं। दीघनिकाय के अनुसार दासत्व से छुटकारा तीन स्थितियों में हो सकता था²⁴ (1) संन्यास लेने पर (2) स्वामी स्वयं मुक्त कर दे (3) आवश्यक शुल्क चुका देने पर कौटिल्य ने भी बड़े विस्तार से दासों की मुक्ति से सम्बन्धित स्थितियों का जायजा लिया है²⁵। उपरोक्त व्यवस्थाओं के सन्दर्भ में यह लगभग प्रमाणित हो जाता है कि आलोच्य कालावधि में दास प्रथा ऐतिहासिक विकास के क्रम में विद्यमान तो थी लेकिन समकालीन विश्व में अन्य अनेक देशों की अपेक्षा काफी मानवीय सहृदय एवं खुले रूपों में।

अधीत कालीन सामाजिक संरचना में पारिवारिक जीवन का अध्ययन एवं अनुशीलन उस काल की बेहतर एवं सापेक्षिक समझ के लिए आवश्यक प्रतीत होता है। यदि परिवार के स्वरूप से प्रारम्भ करें तो सर्वप्रथम यह अभिज्ञात होता है कि प्रायः परिवार संयुक्त ही होते थे।²⁶ हालांकि पारिवारिक विघटन के भी साक्ष्य मिले हैं। कभी-कभी स्त्रियों के आपसी कलह के कारण²⁷ तो कभी आर्थिक दवाबों के चलते²⁸ परन्तु बहुधा सम्बन्ध स्नेहिल बने रहते थे। परिवार का ज्येष्ठतम पुरुष सदस्य घर का मुखिया होता था। पिता की मृत्यु के बाद पुत्र सम्पत्ति के उत्तराधिकारी होते थे। परन्तु उत्तराधिकारी की अनुपस्थिति के अवसर पर सारी सम्पत्ति राज्य की हो जाती थी।²⁹ ज्येष्ठ पुत्र को सम्पत्ति में शायद कुछ अधिक हिस्सा मिलता रहा होगा।³⁰ जिसके चलते बहुत संभव है कि भाईयों में कभी-कभी विवाद भी उत्पन्न हो जाता रहा होगा, ऐसी स्थिति में उसका निराकरण ‘वोहारिक महामत’ करता था।³¹

सूत्रकारों ने पिता की मृत्यु के बाद बड़े भाई को पितृतुल्य बताया है एवं अनुजों से उसके नियंत्रण में रहने एवं समतुल्य सम्मान प्रदर्शित करने को कहा है।³² पाणिग्रहण के बाद ही पारिवारिक जीवन का प्रारम्भ मानते हुए पारिवारिक जिम्मेदारियाँ उठानी पड़ती थी।³³ परिवार में माता की प्रतिष्ठा का विशद वर्णन है³⁴ वैसे सामान्यतया स्त्रियों की स्थिति इस युग में पहले से कुछ बेहतर प्रतीत होती है, पुत्री का जन्म अब उतना कष्टकर नहीं रहा।³⁵ बुद्ध एवं महावीर ने स्त्रियों की स्थिति में गुणात्मक सुधार हेतु अप्रत्यक्षतः बड़ा काम किया। संघों में प्रवेश अपने आप में एक क्रान्तिकारी कदम था। थैरीगाथा में कई स्त्रियों को निर्वाण प्राप्त करते हुए बताया गया है,³⁶ जो यह अभिव्यंजित करता है कि बौद्धिक एवं दार्शनिक क्षेत्रों में वे भी पुरुषों के स्तर तक जाकर उच्चतम पद प्राप्त कर सकती थीं।³⁷ बौद्ध विनय में एक भिक्षुणी को बड़े प्रशंसात्मक लहजे में पण्डिता एवं मेधाविनी इत्यादि कहा गया है।³⁸

थैरी गाथा में एक कन्या को पिता की सम्पत्ति में हिस्सेदारी प्रदान की गई है³⁹ और आगे चलकर मनु ने भी कुमारी कन्या को प्रत्येक भाई के हिस्से में चौथाई हिस्से की अधिकारिणी घोषित किया।⁴⁰ परन्तु चूँकि समाज पितृ सत्तात्मक ही था अतः परम्परागत रूप से स्त्री का स्थान पुरुष के नीचे था। वह हमेशा किसी न किसी पुरुष वर्ग के सदस्य के अधीन रखी गई कभी पिता के, कभी पुत्र के।⁴¹ पति सेवा को स्त्री का परमधर्म बताया गया एवं विवाह के उपरांत आज ही की भाँति तत्कालीन समाज में भी स्त्री पर पति तथा सास-श्वसुर का अधिकार समझा जाता था।⁴² आर्दश वधू एवं गुणी पत्नी के लिए मनु एवं याज्ञबल्क्य जैसे स्मृतिकारों की व्यवस्था है कि वह सदा प्रसन्न रहे; घर की प्रत्येक सामग्री सहेज कर रखे. गृहकार्य में निपुण हो. अपव्यय न करे. पति के प्रिय कार्य को करे. सास-श्वसुर की सेवा करें तथा सच्चरित्र एवं संयमी हो।⁴³ तत्कालीन समाज में एक पत्नीत्व⁴⁴ एवं बहुपत्नीत्व⁴⁵ दोनों ही सुप्रचलित था एवं दोनों ही के पक्ष-विपक्ष में तमाम तर्क दिए गए हैं। सामान्यतः वैवाहिक सम्बन्धों में जातिगत बन्धनों की अहम भूमिका रहती थी परन्तु प्रेम विवाह के अवसरों पर

इन बन्धनों के टूटने के साक्ष्य भी है।⁴⁶ विवाह की आयु के सम्बन्ध में भी अल्पायु एवं परिपक्व आयु दोनों में ही विवाह विहित किया गया है। बौद्ध साहित्य में पोडषी कन्या का विवाह यानि सोलह वर्ष की उम्र में विवाह अच्छा माना गया है।⁴⁷ गौतम और पराशर ने बारह की अवस्था में विवाह उत्तम माना है।⁴⁸ सामान्यतः हिन्दू शास्त्रकारों ने बाल विवाह को समर्थन दिया है⁴⁹ परन्तु बौद्ध धर्म के प्रभाव में परिपक्वावस्था में विवाह को प्रोत्साहन मिलता प्रतीत होता है। इससे भी स्त्रियों की स्थिति में कुछ फर्क पड़ा होगा। प्रो. जी.एस.पी. मिश्र ने बताया है कि चूँकि बौद्ध संघ में अल्पायु में प्रवर्जित होना वर्जित था और चूँकि स्त्रियों ने बड़ी संख्या में प्रवर्ज्या ली थी जो बड़ी उम्र में विवाह का एक साक्ष्य बन बैठता है।

संदर्भ

1. मनुस्मृति, 1.91. 8.410.10, 123. तुलनीय 9.334 10, 125.
2. मनुस्मृति, 10, 129. (शक्तेनापि हि शूद्रेण न कार्यो धन संचयः शूद्रो हि धन मा साद्य ब्रह्मणानेव बाधते)
मनुस्मृति, 8, 179. 8, 417. 11.13
उपरोक्त प्रायः सभी उद्धरणों में शूद्रों को आर्थिक दृष्टि से वंचित एवं शोषित रखने का प्रयास दिखाई पड़ता है।
3. मनुस्मृति, 10, 99 और 100 इन उपबन्धों से यह ज्ञात होता है कि मनु ने भी शूद्रों के लिए शिल्पवृत्ति ही अभिहित किया है। ड्र. शर्मा, आर.एस.शूद्रों का प्राचीन इतिहास पृ.-178। उन्होंने कहा है कि इस काल में शिल्पियों की संख्या तो बड़ी ही उनकी परिस्थितियाँ भी बेहतर हुई।
4. अर्थशास्त्र 6.1 द्र.-अर्थशास्त्र 2,1. अन्यत्र से भी ले आकर बसाने को प्रमुखता दी गई है।
5. मनुस्मृति, 8.418.7, 69; 10-57-58; इन दृष्टान्तों में सामान्य रूप से शूद्रों के प्रति वैरभाव का प्रकटीकरण हुआ है। वैश्य और शूद्र से अपने-अपने कर्तव्यों को करने या कराने के लिए बाध्य करना इस बात का संकेत हो सकता है कि वे अपने विहित कर्मों का अनुपालन शायद न करते हो।
6. 8.348, शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोप रूढयते। द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे कालकारिते:-
7. जातक, 1, 200; ग्राम भोजन (ग्राम मुखिया) की दासता का उल्लेख है, जातक, 6, 389; पर कुछ मंत्रीगण दासत्व की स्थिति तक पहुँचते हुए प्रतीत होते हैं, द्रष्टव्य- वंद्योपध्यायः “स्लेवरी इन एन्साएण्ट इण्डिया” कलकत्ता रिव्यू 1930 सं 8 पृ.-254 ब्राह्मणों क्षत्रियों एवं अन्य उच्च कुलोद्भूत लोगों को भी दासत्व ग्रहण किए हुए वर्णित किया गया है।
8. बोस, सोशल एण्ड रूरल इकानामी आफ नार्दन इण्डिया, 2, 422, पी. वी. काणे, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र जि. 2 भाग-1, पृ.-33,34।
9. दीघ निकाय, 1, 104;
10. शर्मा, आर.एस, शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ.-94 पर उद्धृत।
11. शर्मा, आर.एस, शूद्रों का प्राचीन इतिहास, पृ.-94
12. अर्थशास्त्र, 3.13
म्लेच्छानाम् दोषः प्रजां विक्रेतुमाधातुं वा। नत्वेवार्यस्य दासभावः।
13. मनु स्मृतिः, 8.413, शूद्रं तु कारयेच्छस्यं क्रीतमक्रीतमेव वा।
दास्यायैव हि सृष्टो*सौ बाह्यणस्य स्वयं भुवास्त्र
8.414, न स्वामिना निसृष्टोपि शूद्रो दास द्विमुच्येत
14. दीघ निकाय, 1.6.4, मज्झिम निकाय, 1.452, जातक 4.99।
15. जातक, 1,200; 4,22,99; 6, 285 द्र. 307
16. अर्थशास्त्र, 3.13, आत्म विक्रयिण...तेनोदरदासाहित कौ...प्रक्षेपानुरूप श्रास्य...
दण्ड प्रणीतः ध्वजाहृत...गृहजात दायगत लब्ध...दासी व सगर्भाम्।
17. मनुस्मृति 8.415, ध्वजाहतो भक्तदासो गृहजः क्रीतदत्त्रिमौ पैतृका दण्ड दासस्व सपैते दासयोनयः।”
18. जातक, 1, 351 जातक, 1, 402 (एक दासी मति...विसिदायेत्वा रज्युया पहारन्ति); मनु स्मृति, 8. 299, मनुमहाराज भी रज्जुप्रहार की व्यवस्था देते हैं; अंगतुर निकाय, 2, 4207-8 दण्ड के भय से दासों के मुख रुदन करते हुए दिखाए गए हैं।

19. जातक, 451, कटाहक दासपुत्र था, परन्तु स्वामि-पुत्रों के साथ अध्ययननोपरान्त उसे परिवार का भाण्डागारिक बना दिया गया, जातक, 3, 167, इसमें दास स्वामी से अपने पुत्रवत सम्बन्धों की व्याख्या करता है।
20. मैकक्रिण्डल, एन्स्येण्ट इण्डिया ऐज डिस्क्राइण्ड वाई मेगस्थनीज एण्ड एरियन, पैगमेन्ट, 26, पृ.68
21. पाराजिक, 196-197, विनय पिटक, 3, 136 (136)
22. शर्मा, आर.एस, शूद्रों का प्राचीन इतिहास पृ.-102
23. दीघनिकाय, 1.60-61;
24. अर्थशास्त्र, 3.13
25. गौतम धर्मसूत्र, 28.1; अर्थशास्त्र, 3.5; याज्ञवल्क्य, 2.117 मनुस्मृति, 9.104 उध्वं पितृश्च मानुश्च समेत्य भ्रातरः समम्।
भजेरन्यैतुकं रिक्वनिशास्ते हि जीवतोस्र
26. दृष्टव्य, मिश्र, जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ.-381
27. वही
28. मिश्र, जी.एस.पी, दि एज आफ विनय, 184
29. अर्थशास्त्र, पृ.-184. द्र. मिश्र, जी.एस.पी की पुस्तक, प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था, पृ.-145 पर उद्धृत।
30. मिश्र, जी.एस.पी, दि एज आफ विनय, 172-73
31. गौतम धर्मसूत्र, 28.1.3; आपस्तम्ब, 2.14.6, बौधायन, 2.3.13;
32. आश्वलायन गृ. सू. 1.9.1; आपस्तम्ब, 2.5.15
33. गौतम धर्मसूत्र, 2.50, (आचार्य श्रेष्ठः गुणां मातेत्येके) वशिष्ठ धर्मसूत्र, 13.48
34. द्र., मेहता रतिलाल, प्री बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ.-266, आई. वी. हार्नर, वीमेन अण्डर प्रिमिटिव बुद्धिज्म, पृ.-3
35. मिश्र, जी.एस.पी, प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था, पृ.-147
36. ए.एस अल्लेकर, दिपोजीशन आफ वुमैन इन हिन्दू सिविलाइजेशन पृ.-12-13
37. पाचित्तिय, पृ.-283,
38. अल्लेकर, पूर्व, 236-37, धेरी गाथा (सं. 327) द्र. मिश्रा जी.एस.पी प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थ व्यवस्था, पृ. 147 पर उद्धृत।
39. मनुस्मृति 9, 118,
40. पाराजिक, पृ.2.00-201 स्त्रियों की दस कोटियाँ निर्धारित की गई है एवं प्रत्येक में वह किसी न किसी के अधीन बताई गई है। यथा-मातुरक्खिता, पितुरक्खिता, मातुरक्खिता। ठीक इसी तरह की व्यवस्था आगे चलकर मनुमहाराज भी देते हैं। 9.2; 9.3; पिता रक्षति कौमारे भर्तारं रक्षति यौवने रक्षान्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वात्रंमर्हत्तिस्त्र
41. द्र. जी.एस.पी मिश्र, दि एज आफ विनय पृ.-175
42. मनुस्मृति, 5.150, “सदा प्रदृष्टया....चामुक्तहस्तया”
याज्ञवल्क्य स्मृति, 1.83, 87
‘संयतोपस्करा....भृतेतेत्परा’
‘प्रतिप्रिय हिते...चानुपम सुखम्’
43. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 2.5.12;
44. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 2.5.12;
महावग्ग 8.1.15; जातक 23, 138;
45. जातक, जि. 2, सं.-152 सिगालजातक
जातक जि. 1, सं.-4 चुल्लकसेटिट जातक
46. धेरी गाथा, 445
47. गौतम धर्मसूत्र, 18.22 (अप्रयच्छन्दोषी) परशर स्मृति 7.7.8 प्राप्ते तु द्वादशे वर्षे
48. धर्मशास्त्रों ने रजोदर्शन से पूर्व विवाह सर्वोत्तम बताया गया है। गौतम धर्मसूत्र 18.21-23 बौ. ध. सू. 4.1.12.14। यानि दूसरे शब्दों में बाल विवाह को समर्थन दिया गया। अर्थशास्त्र, 3.2 में भी स्त्री को उम्र बारह वर्ष विहित है। मनु 9.94, 12 और आठ वर्ष उम्र निर्धारित करते हैं।

मौर्य के बाद भारत में आर्थिक क्रियाकलाप

डॉ० शेखर सिंह

तदर्थ व्याख्याता, रामानुजन कॉलेज, दिल्ली

मौर्य युग में खेती के विकास में जो सर्व प्रधान कारक सिद्ध हुआ वह था राज्य द्वारा सिंचाई सुविधाओं का सुचारू प्रबन्धन एवं किसानों के हित में निर्वाह जलापूर्ति का नियमन। अर्थशास्त्र में अच्छा प्रशासन उसे बताया गया है जिसके अन्तर्गत किसान को फसलों की सिंचाई के लिए सिर्फ प्राकृतिक जलापूर्ति यानी वर्षा पर आश्रित न रहना पड़े।¹ कौटिल्य ने सिंचाई की सुचारू सुव्यवस्था हेतु जहाँ संसाधनों के समुचित संयोजन पर बल दिया है,² वहीं कई तरह की सावधानियाँ भी बताई हैं जिन पर अमल किया जाना चाहिए।³ परन्तु यदि कुछ अवांछित-असामाजिक तत्वों द्वारा सिंचाई सुविधाओं को नष्ट-भ्रष्ट किया जाता है तो उसके लिए पर्याप्त दण्ड की भी व्यवस्था, अर्थशास्त्र में पायी जाती है,⁴ जैसे तालाब को क्षति पहुँचाने के आरोप प्रमाणित हो जाने पर दोषी व्यक्ति को तालाब में डुबो देने का विधान किया गया।⁵ सिंचाई हेतु सरकारी प्रयासों की अभिलेखिक पुष्टि भी हो जाती है जब रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख के द्वारा यह तथ्य सामने आता है कि मौर्य शासकों द्वारा या कहेँ चन्द्रगुप्त और अशोक के राजत्वकाल में उनके प्रान्तीय प्रशासकों द्वारा सुदर्शन झील का निर्माण एवं मरम्मत करायी गयी थी एवं एतद् द्वारा सिंचाई व्यवस्था को दुरुस्त किया गया था।⁶ मौर्य काल में सिंचाई की नालियों की देख-रेख निर्माण एवं मरम्मती के लिए एक सरकारी कर्मचारी ही नियुक्त होता था।⁸

मनु ने भी सिंचाई की व्यवस्था बाधित करने वाले को समुचित दण्ड का भागी बताया है और राजा से इसके क्रियान्वयन को सुनिश्चित करने की उम्मीद भी की है।⁹ सिंचाई की इतनी उत्तम व्यवस्था के बाद भी आलोच्य कालावधि में अकाल जैसी स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती थीं। महावग्ग में एक अकाल का जिक्र आता है जिसमें लोग मांस भक्षण को बाध्य हुए थे तथा स्वाभाविक ही जब अन्न भण्डार बचा ही नहीं था तो भिक्षुओं को भिक्षा स्वरूप भी यही सब कुछ मिलता रहा होगा।¹⁰ अकाल की परिस्थिति में जनता कुछ चुने हुए भिक्षुओं को ही भोजन उपलब्ध करा पाती थी।¹¹ वैशाली में सूखा और महामारी के बचाव के निमित्त लोगों को प्रार्थनाएं करनी पड़ी थी।¹²

डायोडोरस की संकल्पना को स्वीकार करें तो भारतीय भूमि की उर्वरा शक्ति इतनी प्रचण्ड थी और सिंचाई की कृत्रिम व्यवस्था इतनी सुव्यवस्थित थी कि पर्याप्त अन्नोत्पादन होता था।¹³ फलतः अन्न की कमी के कारण बड़े पैमाने पर लोग नहीं मरते होंगे। शायद इन्हीं परिस्थितियों से प्रभावित होकर मेगस्थनीज ने भी कहा है कि भारत में अकाल नहीं पड़ते।¹⁴ जैन कथाओं ने चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यकाल में अकाल का जिक्र आया है।¹⁵ सौहगौरा और महास्थान के अभिलेख भी अकाल ग्रस्त गंगा घाटी में जन सहायता का जिक्र करते हैं।¹⁶

लेकिन यह भी सत्य है कि फसलों का विनाश कई कारणों से हो जाता था, मसलन, चिड़ियों, चोरों, पशुओं एवं कीड़ों-मकोड़ों के द्वारा,¹⁷ अनाजों की विभिन्न बीमारियों के द्वारा,¹⁸ तो कभी-कभी प्राकृतिक प्रकोपों के द्वारा जैसे ओलों के गिरने से,¹⁹ कभी-कभी अति वृष्टि तो कभी अनावृष्टि²⁰ के

द्वारा। दुर्भिक्ष की स्थितियों से निपटने के लिए, राजा के कर्तव्य के रूप में, कृषि के विकास को, पारिगणित किया गया।²¹ कौटिल्य ने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है कि दुर्भिक्ष के प्रकोप को कम करने के लिए राजा को किसानों का भू-राजस्व माफ कर देना चाहिए।²² यदि राजा कोई सहायता करने में अक्षम है तो प्रजा सामूहिक रूप से पर राज्य गमन कर सकती थी।²³

वैसे यह स्पष्ट करना युक्ति प्रतीत होता है कि उस समय अकाल जैसी स्थिति प्रायः कम ही आती थी और आती भी थी तो उसका प्रकोप आजकल की वनस्पति कम ही होता था।²⁴ इसका एक प्रमुख कारण वनों एवं वृक्षों के प्रति लोगों का लगाव एवं उनका संरक्षण भी था। बुद्ध²⁵ और महावीर²⁶ ने इनकी रक्षा के लिए जन मानस को तैयार किया तो अर्थशास्त्र²⁷ में भी वृक्षों को क्षति न पहुँचाने का आदेश पाया जाता है। अब यह पर्यावरणीय प्रेम था या उनकी उपयोगिता या आर्थिक उपादेयता यह तो निश्चितः नहीं कहा जा सकता परन्तु वृक्षों को क्षति न पहुँचाने सम्बन्धी विवरण निश्चित ही बहुत उपलब्ध है। यह भी बड़ा रोचक संयोग है कि बुद्ध ने जिन नगरों की यात्रा की उनमें प्रत्येक में एक बन पाया जाता है।²⁸ प्रारम्भिक बौद्ध धर्म से सम्बन्धित अनेक नगरों के नाम भी कुछ पौधों एवं वनस्पतियों के नाम पर ही रखे गए प्रतीत होते हैं।²⁹

अशोक ने अपनी राजाज्ञा में ही जंगलों की सुरक्षा सुनिश्चित करने का प्रयास किया था।³⁰ अर्थशास्त्र में जंगलों को आग लगाने वाले को आग में ही जला देने का विधान है।³¹ अर्थशास्त्र में जंगलों को आर्थिक एवं सैन्य उपादेयता के आधार पर वर्गीकृत किया गया है, जिसकी तीन श्रेणियाँ हैं। (1) शिकार के जंगल-पशुचर्म, हड्डी नख, दन्त, सींग इत्यादि के लिए (2) वन्य वस्तुओं के जंगल-लकड़ी से गाड़ियाँ रथ बनते थे, किलों की दृष्टि से भी उपयोगी (3) हाथियों के जंगल-जहाँ से हाथी लाए जाते थे, युद्धों में उपयोगी होते थे।³² कौटिल्य आगे भी वनों की उपादेयता बताते हुए यह कहते हैं कि नदी युक्त वन राजा की विषम परिस्थितियों में शत्रुओं से रक्षा के लिए उपयोगी होता है।³³ मनु के काल तक वनों के संरक्षण पर जोर दिया जाता रहा जैसा कि मनु की इस स्थापना से अभिद्योतित होता है कि हरे पेड़ काटने वाले को जाति से निष्काषित कर दिया जाय।³⁴

आलोच्य कालावधि की अर्थव्यवस्था के अन्य महत्वपूर्ण अवयव पशुपालन का विश्लेषण भी समीचीन प्रतीत हो रहा है, क्योंकि कृषि के विकास और प्रसरण के आधार पर यह निष्कर्ष नहीं निकाला जाना चाहिए कि पशुपालन तत्कालीन अर्थव्यवस्था की पृष्ठभूमि में धकेल दिया गया था, बल्कि इस पर और ध्यान दिया जाने लगा क्योंकि कृषि कार्य में पशुओं की उपयोगिता असंदिग्ध थी। वैदिक धर्म में प्रचलित पशु बलि की प्रथा के विरोध में बौद्धों का अहिंसा सिद्धान्त और पशुओं का संरक्षण सिद्धान्त तत्कालीन कृषि अर्थव्यवस्था के अनुरूप ही विकसित हुआ था।³⁵ तत्कालीन जनजीवन में विविध पशु-पक्षियों का महत्वपूर्ण स्थान था एवं उनके बारे में काफी विस्तृत जानकारी थी, ऐसा प्रतीत होता है।³⁶

पशुपालन को कृषि एवं वाणिज्य के साथ उत्कृष्ट व्यवसाय के रूप में प्रतिष्ठा हासिल थी।³⁷ पालतू पशुओं में गाय को सर्वाधिक महत्व दिया जाता था। क्योंकि खाद्य पदार्थ के रूप में दूध का महत्वपूर्ण स्थान तो था ही, इसकी संततियाँ बैलो के रूप में कृषि कार्य की आधार शिला थी।³⁸ इनका मांस भी विशिष्ट अतिथियों को खिलाया जाता था।³⁹ उस दृष्टिकोण से भी इनका महत्व था।

कौटिल्य⁴⁰ एवं मनु⁴¹ दोनों की व्यवस्था में पशुपालन को उतना ही महत्व दिया गया है जितना कृषि को, अधिक पशुओं को जंगल में बाड़ा बनाकर⁴² तो कभी-कभी पहाड़ियों से घिरे स्थानों में भी रखा जाता था।⁴³

पालि विनय में उत्तरा पथ से घोड़ों के व्यापार के बारे में जानकारी मिलती है।⁴⁴ घोड़ों के साथ साथ हाथी भी सैन्य बल का महत्वपूर्ण हिस्सा था,⁴⁵ और कौटिल्य ने इस पर विशेष ध्यान रखा था।⁴⁶ यूनानी लेखकों के विवरण भी पशुओं के बारे में जानकारी, उनकी विविध उपयोगी गतिविधियों एवं भारतीय जन जीवन से उनकी बहुविध सम्पृक्ति को पुष्ट करते हैं।⁴⁷

संदर्भ

1. प्रो. रामशरण शर्मा, प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास पृ. 154
2. अर्थशास्त्र 6.1
3. अर्थशास्त्र 2.24
4. अर्थशास्त्र 2.9
5. द्र. जी.एस.पी. मिश्र, प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था, पृ. 188-189
6. द्र. राजबलिपाण्डेय, हिस्टारिल एण्ड लिटेरेरी इन्सक्रिप्शंस पृ. 62-63
7. स्ट्रैवो, 15.1.50
8. मनुस्मृति 9, 279
'तडाग भेदक हन्यादप्सु शुद्धबधेन वा'
अपरंच, 9.281
'यस्तु पूर्वं निविष्टस्य तडागस्योदकं हरेतू'
9. महावग्ग 6.23.10 के आगे
इस दुर्भिक्ष में हाथी, घोड़ा, सांप, कुत्ता इत्यादि के मांस खाते लोगों को विस्तृत किया गया है।
10. चुल्लवग्ग 6.21.1
11. सुत्त निपात 2.1
12. डायोडोरस 2.26
13. परिशिष्ट पर्वन 71, 8 पृ. 415 और आगे,
14. सरकार, सेलेक्टेड इन्सक्रिप्शंस, पृ. 82-85
15. जातक, 4. 277, 5.336, 4.262, 1.193, 1.53, 54
16. चुल्लवग्ग, 10.1.6 अंगतुर निकाय 4.279
17. मिलिन्द पन्ह, पृ. 308
18. जी.एस.जी. मिश्र प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था पृ. 190
19. अर्थशास्त्र 2.24
20. अर्थशास्त्र 2.1
21. अर्थशास्त्र 13.2
22. द्र. आर. गांगुली, फेमिन इन ऐश्येण्ट इण्डिया, एनल्स ऑफ दि भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट जि. 15
1933-34 पृ. 176-77
23. महावग्ग, 3, 1-3, चुल्लवग्ग, 5.32.1
24. जैकोबी, जैन सूत्राज, 2 पृ. 357
25. कौटिल्य 2.2
26. रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएं, पृ. 148
27. वही
28. ओम प्रकाश, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, खण्ड द्वितीय, पृ. 15

29. अर्थशास्त्र 4.11
30. अर्थशास्त्र 2.6, 2.17, 7.14
31. वही 7.12
32. मनुस्मृति 11.64
(इन्धनार्थमशुष्काणां द्रुमाणमवापातनम्)
33. रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएं, पृ. 170, 171, 172 अपरंच, रामशरण शर्मा, प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास पृ. 145।
34. विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य बी.एस. अग्रवाल, इण्डिया एज नोन टु पाणिनि, जी.एस.पी. मिश्रा, दि एज आफ विनय।
35. पाचित्तिय, पृ. 11
36. मिश्र जी.एस.पी., प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था, पृ. 193
37. वैदिक एज, पृ. 530
38. अर्थशास्त्र 1.4
39. मनुस्मृति, 9.327, 9.328, 9.327 प्रजापति ने पशुओं के उत्पन्न करके वैश्य का दे दिया। 9.328 वैश्य यह कभी न समझें कि मैं पशुपालन नहीं करूँगा।
40. जातक, 3, 401
41. जातक, 3, 479
42. पाराजिक, पृ. 9
43. पाचित्तिय, पृ. 145
44. अर्थशास्त्र पृ. 49 (शामाशास्त्री का संस्करण)
45. स्ट्रेवो, 15.1.41 से आगे फिलीन, 6.22; एरियन 17।
46. सुत्तनिपात, ब्राह्मण धम्मिक सुत्त।
'गावो नो परमपिता यासु जायन्ति ओसधा, अन्नदा, बलदा, चेता वण्णदा सुखदा तथा'
47. रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएं, पृ. 159।

अलाउद्दीन खिलजी की बाजार नियंत्रण व्यवस्था का मूल्यांकन

चन्दन कुमार

यू०जी०सी० नेट, राम जयपाल कॉलेज, छपरा

Abstract

इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता है कि इस नीति की व्यापकता अलाउद्दीन खिलजी की दूरदर्शिता एवं व्यवहारिक बुद्धि का परिचायक था। इतिहासकार आज भी इसे आश्चर्य से देखते हैं। डॉ० एस० रॉय जिन्होंने उसका व्यक्तित्व और बाजार व्यवस्था की समीक्षा कर लिखा है कि अलाउद्दीन प्रथम मुस्लिम साम्राज्यवादी और भारत का प्रथम महान मुसलमान शासक-प्रबंधक था, जिन्होंने बाजार व्यवस्था द्वारा भारतीय इतिहास में अमिट छाप छोड़ी है। इस नीति को लागू करने के बारे में ऐतिहासकारों में यद्यपि विवाद है फिर भी यह स्पष्ट है कि सुल्तान ने शाही लाभ तथा जनहित की भावना दोनों को ख्याल में रखकर यह व्यवस्था लागू की थी।

विश्लेषण:-

अलाउद्दीन खिलजी (1296.1316 ई०) जलालुद्दीन के भाई शिहाबुद्दीन मसूद खजली का पुत्र था। अलाउद्दीन के प्रारम्भिक जीवन अथवा उसकी जन्म तिथि के बारे में कुछ ठीक पता नहीं लगता। ऐसा प्रतीत होता है कि अलाउद्दीन को पढ़ने-लिखने की शिक्षा कम प्राप्त हुई परन्तु वह शास्त्र-विद्या में निपुण हो गया। खिलजी-क्रांति में उसने महत्वपूर्ण भाग लिया और ब जलालुद्दीन सुल्तान बना तो उसे 'अमीर-ए-तुजुक' और उसके छोटे भाई अलमास बेग को 'अखूरबेग' का पद दिया गया। जलालुद्दीन ने अपनी एक पुत्री का विवाह अलाउद्दीन के साथ किया तथा मलिक छज्जू के विद्रोह को दबाने में भी अलाउद्दीन महत्वपूर्ण भाग लिया जिसके कारण उसे 'कड़ा-माणिकपुर' की सूबेदारी दी गई। 1296 ई० में उसने देवगिरि पर आक्रमण किया और वहाँ से अतुल सम्पत्ति लूट कर लाया। इसके उसके सम्मान एवं शक्ति में वृद्धि हुई उसी वक्त उसने जलालुद्दीन को माणिकपुर बुला कर धोखे से कत्ल कर दिया। अलाउद्दीन ने स्वयं को कड़ा-माणिकपुर में ही सुल्तान घोषित कर दिया तथा अबुल मुजफ्फर सुल्तान अलाउद्दीनिया-बा-दीन मुहम्मद खिलजी की उपाधि धारण की। अलाउद्दीन खिलजी दिल्ली सल्तनत का सर्वाधिक महत्वाकांक्षी एवं महत्वपूर्ण शासक माना जाता है। इन्हें महान कह कर नहीं पुकारा गया है, परन्तु वह महानता के काफी निकट था और तुलनात्मक दृष्टि से दिल्ली सल्तनत के सुलतानों में उसे महान स्वीकार करना अनुचित नहीं है। अलाउद्दीन के समकालिक अमीर खुसरो और उसके परवर्ती इसामी दोनों ने अलाउद्दीन को 'एक भाग्यशाली व्यक्ति' कहा है। वह अपने प्रशासनिक एवं आर्थिक सुधारों के लिए जाना जाता है। उसके राजस्व सम्बन्धी सुधार एवं बाजार नियंत्रण प्रणाली का अपना ऐतिहासिक महत्व है। इतिहासकारों के अनुसार इस सुधार कार्यक्रम ने उसे एक मध्यकालीन राजनीतिक अर्थशास्त्री बना दिया। सुल्तान द्वारा बाजारों को नियंत्रित करना एवं दैनिक प्रयोग की वस्तुओं का मूल्य निर्धारण उस काल का अद्वितीय प्रयोग कहा जा सकता है। आधुनिक इतिहासकारों में से कुछ ने यह विचार भी प्रकट किया है कि बाजार नियंत्रण और उसके परिणामस्वरूप वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करने में अलाउद्दीन का उद्देश्य मानवीय था। वह अपनी प्रजा को सभी वस्तुएँ उचित मूल्य पर और पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध कराना चाहता था।

इसी कारण उसने यह कार्य किया था। उसके इस विचार का आधार शेख नासिरुद्दीन द्वारा लिखे गये ग्रंथ 'खायरूल-माजालिस' में शेख हमीदुद्दीन का एक संवाद है, जिसमें अलाउद्दीन की अपनी प्रजा की भलाई की भावना की प्रशंसा की गई है। अमीर खुसरो द्वारा 'खजाइनुल फूतूह' में भी अलाउद्दीन के बाजार व्यवस्था की प्रशंसा की गई है।

उद्देश्य एवं कारण—

इस नीति के कार्यान्वयन के पीछे कई महत्वपूर्ण कारण बताये जाते हैं जिसमें प्रमुख थे—

1. सुलतान ने यह कदम अपनी विशाल सेना (पौने पाँच लाख सैनिक) की सुविधा का ख्याल रखते हुए उठाया था। उसने इससे पूर्व अपने सैनिकों के वेतन में वृद्धि की थी जो पर्याप्त नहीं थी।
2. साम्राज्य विस्तार के बड़े प्रशासनिक व्यय को कम करने हेतु उसने यह कार्य किया था।
3. सुलतान ने राजस्थान, गुजरात तथा दक्षिण भारत की विजयों से लूट द्वारा प्राप्त धन को खुले हाथों लुटाया था। इसके चलते हो रही मूल्य वृद्धि को नियंत्रित करना आवश्यक था।
4. डॉ० ईश्वरी प्रसाद के अनुसार जनता के हित की भावना से प्रेरित होकर सुलतान ने बाजार नियंत्रण की व्यवस्था शुरू की थी। यह बात नसीरुद्दीन की पुस्तक 'खेर-उल-मजलिस' से भी पुष्टि होती है। किंतु इतिहासकार वर्नी के अनुसार "यह नीति शाही सैनिकों एवं सरकारी लाभ के लिए थी।"

इस नीति को लागू करने के बारे में ऐतिहासकारों में यद्यपि विवाद है फिर भी यह स्पष्ट है कि सुलतान ने शाही लाभ तथा जनहित की भावना दोनों को ख्याल में रखकर यह व्यवस्था लागू की थी।

विविध पहलू —

बाजार नियंत्रण नीति के विभिन्न पहलूओं को तीन श्रेणी में बाँटा गया था—

दैनिक प्रयोग की वस्तुओं का मूल्य निर्धारण

खाद्यान्नों, वस्त्र, दास-दासियों, पशु आदि के मूल्य की सूची तैयार करके सुलतान ने बाजार में इन सब वस्तुओं का मूल्य नियंत्रित करा दिया था। मिश्री, हलवा, रेवड़ी, अन्य मिठाईयाँ, शाक-सब्जी, रोटी आदि के अतिरिक्त प्याले, कटोरे, मटकों, जूतों-चप्पलों, कंघी, पान-सुपारी आदि की भी कीमतें तय की गई थी। वर्नी के शब्दों में "बादशाह ने बड़ी कठिनाई से एक सुई से लेकर सारी वस्तुओं का मूल्य निर्धारण किया। उसने लाभ का प्रतिशत तय किया। इसकी एक सूची दुकानों में टँगवाई एवं दूसरी 'दीवान-ए-रियासत' के यहाँ रखवा दी।

सम्बन्धित विभाग एवं अधिकारीगण

सारी व्यवस्था का प्रधान 'दीवान-ए-रियासत' था। बादशाह ने अपने विश्वस्त अमीर याकुब की इस पद पर नियुक्ति की थी। दिल्ली के बाजार को तीन भागों में बाँटा गया था।

- (i) शहना-ए-मण्डी (खाद्यान्न बाजार)
- (ii) सराए-ए-अदल (कपड़ा बाजार) और
- (iii) अन्य वस्तुओं का बाजार ।

प्रत्येक बाजार में तीन अधिकारी — निरीक्षक, बारीद (घुम-घुमकर सूचनाएँ एकत्रित करने वाला), मनुहियाना या गुप्तचर होते थे। बारीद अपनी सूचना 'शहना' के पास तथा वह दीवान-ए-रियासत

को देता था। कर्तव्य की लापरवाही के कारण उन्हें दण्डित भी होना पड़ सकता था। 'दीवान-ए-रियासत' के याकूब बड़ा ही ईमानदार, कठोर, निष्ठुर एवं किसी के साथ कोई रियायत नहीं करने वाला था। अतः उसने अपनी कुशलता का परिचय दिया। अन्य अधिकारी भी उसके तथा सुलतान के भय से काफी तत्पर रहा करते थे।

बाजारों की व्यवस्था -

सभी प्रधान व्यवसायों की व्यवस्था अलग-अलग थी। सबके लिए अलग-अलग 'शहना' की नियुक्ति की गई थी। शहना अपने अधिकार क्षेत्र में स्वतंत्र होता था। वह शाही सूची की जाँच के लिए व्यवसायिकों तथा ग्राहकों से मिलकर जानकारी एकत्रित करता था। बाटों की भी जाँच की जाती थी। अधिक मुनाफा लेने वाले व्यापारियों के लिए दण्ड की व्यवस्था थी।

व्यापारी मोटे तौर पर दो भागों में बँटे हुए थे— बाहर से माल लाने वाले एवं बाजार से वस्तु बेचनेवाले दीवाने-ए-रियासत उनकी सूची तैयार कर उन्हें व्यापार की इजाजत देता था। व्यापारियों को दिल्ली में रहने का आदेश मिला हुआ था। किसी भी गोल-माल के लिए सपरिवार दण्ड की व्यवस्था थी। दलाल बाजार से निकलवा दिए गए थे। रेशमी वस्त्र तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुओं की खरीद के लिए भी पूर्व अनुमति लेनी पड़ती थी। व्यापारियों की बेईमानी के लिए यद्यपि गुप्तचरों की व्यवस्था थी। फिर भी सुलतान कभी-कभी स्वयं अबोध दास बालकों से सामान मंगवाता था। जिसे पुनः तौलवाया जाता था। तौल घट जाने या अन्य किसी प्रकार के भी अपराध के लिए व्यापारियों को कोड़े मारने, कैद किए जाने अथवा अंग-भंग किए जाने के दण्ड का प्रावधान था।

इस बारे में यदि कोई अधिकारी भी दोषी पाया जाता था, तो उन्हें भी दण्डित किया जाता था। चाहे वह कितना भी बड़ा अधिकारी होता था। एक बार दुर्भिक्ष के नाम पर सुलतान से मूल्य घटाने के आग्रह के कारण मलिक काफूर जैसे वरिष्ठ अधिकारी को भी सुलतान ने बीस कोड़े लगवाए थे। यहाँ यह स्मरणीय तथ्य है कि व्यापारियों पर जहाँ इतने कठोर नियंत्रण थे, वहीं उन्हें सरकारी खजाने से सामान खरीदने के लिए अग्रिम दिया जाता था। उन्हें व्यापार में घाटा नहीं लगने देने की गारन्टी भी दी जाती थी। अनाज के व्यापारी को सरकारी गोदाम से भी अनाज उपलब्ध कराया जाता था। कपड़े तथा पशु-व्यापारी को भी अनेक सहूलियतें थी।

वास्तव में अलाउद्दीन की बाजार व्यवस्था अति संगठित थी। इसमें विभिन्न वस्तुओं की व्यवस्था अलग-अलग थी—

(क) **खाद्यान्न का बाजार**— वर्नी ने लिखा है कि "राजधानी में खाने-पीने की वस्तुओं की एक मूल्य तालिका लगा दी गई थी।" अनाज के व्यापारी दो तरह के थे— दुकानदार एवं काफिले वाले (आपूर्तिकर्ता) दिल्ली में अनाज लेने वालों के लिए दोआब (गंगा-यमुना के) तथा बयाना क्षेत्र में व्यवस्था की गई थी। इन क्षेत्रों में कर भी अन्न के रूप में वसूला जाता था। किसान जरूरत से ज्यादा अन्न अपने पास नहीं रख सकते थे। अतिवृष्टि, अनावृष्टि तथा अकाल आदि से उत्पन्न विषम परिस्थितियों से निबटने के लिए अनेक सरकारी गोदामों की स्थापना की गई थी। सरकार भी अन्न खरीदकर संग्रह करती थी। दिल्ली के प्रत्येक मुहल्ले में दो-तीन गोदाम थे। सभी वस्तुओं के मूल्य निर्धारण से मूल्य साम्य हो गया था। वर्नी के अनुसार बाजारों की समस्त वस्तुओं के मूल्य में एकरूपता एक आश्चर्य की बात थी।" इस बाजार में भी 'बारीद या मुनहियान आदि कर्मचारी थे। यह नीति इतिहासकारों के अनुसार काफी सफल रही।

(ख) **वस्त्रों का बाजार :-** वस्त्र बाजार की व्यवस्था बदायूँ दरवाजे के अन्दर “सराय अदल’ में की गई थी। बाजार प्रातः काल से लेकर रात्रि के अन्तिम नमाज तक खुला रहता था। शहर में वस्त्र का यह अकेला बाजार था। वस्त्र व्यापारियों को अपनी दुकान का पंजीयन दीवना-ए-रियासत’ में कराना आवश्यक था। पंजीयन के समय ही उन्हें एक नियत मात्रा में नियत लाभ पर वस्त्र पहुँचाने का आश्वासन देना पड़ता था। शेख नसीरुद्दीन चिराग के अनुसार “एक रजाई या दो टंका में बनवाई जा सकती थी। रेशमी वस्त्र काफी महँगे होते थे।” सुल्तान के निर्धारित मूल्य पर स्थानीय व्यापारी जब कपड़ा बेचने को तैयार नहीं हुए तब इसका भार मुल्तानियों के उपर छोड़ दिया गया था। उन्हें व्यापार के लिए अग्रिम भी दिया जाता था। अन्न तथा उच्छकोट के वस्त्रों को खरीदने के लिए भी क्रेताओं को ‘दीवान-ए-रियासत’ से अनुमति लेनी पड़ती थी। अतः इस जटिलता के कारण महँगे वस्त्रों की कालाबाजारी होने लगी थी।

(ग) **दासों और महेशियों के बाजार :-** इन बाजारों पर चार सामान्य नियम लागू होते थे।

- (i) किस्म के अनुसार मूल्य का निर्धारण
- (ii) व्यापारियों और पूँजीपतियों का बहिष्कार
- (iii) दलालों पर कठिन नियंत्रण और
- (iv) सुल्तान द्वारा बार-बार जाँच पड़ताल करना।

सेना के लिए स्वीकृत होने वाले घोड़े अपनी नस्ल व योग्यता के अनुसार तीन श्रेणियों में विभाजित किये गए थे। प्रथम श्रेणी 100 से 120 टंके, द्वितीय श्रेणी 80 से 90 टंके, तृतीय श्रेणी 60 से 70 टंके और छोटे भारतीय टट्टू जो सेना के लिए उपयुक्त नहीं माने जाते थे 10 से 20 टंके मूल्य के रखे गए। अगला अधिनियम यह था कि प्रमुख घोड़ों के दलाल घोड़ों सहित प्रत्येक चालीस दिन या दो मास बाद सुल्तान के सामने लाए जाते थे। इन्हीं पद्धतियों से दासों और पशुओं की कीमतें निश्चित की गईं। बर्नी की सूची के अनुसार घर में काम करने वाली दास का मूल्य 5 से 12 टंके, विषय भोग के लिए 20 से 40 टंके, सुंदर व युवा दास 20 से 30 टंके, तथा अयोग्य दास की कीमत 7 से 8 टंके थे। ऐसे ही नियम पशुओं के बाजार में भी लागू किए गए। महीने दो महीने पर पशुओं की कीमत की जानकारी ली जाती थी।

बाजार नियंत्रण के क्षेत्र –

अलाउद्दीन खिलजी के बाजार-नियंत्रण क्षेत्र के विषय में इतिहासकारों में विवाद है। कुछ इतिहासकार इसे दिल्ली तथा उसके आसपास के इलाके तक ही सीमा मानते हैं, जबकि फरिश्ता सदुश इतिहासकार ने इसे सम्पूर्ण सल्तनत में व्याप्त माना है। ‘तारीख-ए-फिरोजशाही में वर्णित बाजार व्यवस्था में दिल्ली तथा समीपवर्ती क्षेत्रों का ही वर्णन है। बर्नी का यह कथन कि “अनेक वस्तुएँ दिल्ली में सस्ती हो गई थी तथा वर्षों तक रहीं” भी यही सिद्ध करता है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि सुल्तान ने यह व्यवस्था अपने सैनिकों के लिए की थी। यह बात ज्यादातर इतिहासकार मानते हैं। यदि ऐसा था तब इस व्यवस्था का प्रभाव राज्य में सर्वत्र पड़ा होगा क्योंकि सैनिक स्वतंत्र थे। हाँ, दिल्ली में इसका ज्यादा लाभ अवश्य मिला होगा।

नीति के सफलता के कारण –

अलाउद्दीन की यह नीति बहुत हद तक सफल रही थी। राज्य के हर हिस्से में इस कदम का स्वागत किया गया था। नीति के सफल होने के कारण थे, सुल्तान की व्यावहारिकता, ईमानदार

अधिकारियों की नियुक्ति, दण्ड की कठोरता, गुप्तचरों व्यवस्था, सामान की नियमित आपूर्ति का प्रबन्धव्यापारियों को दी गई सुविधाएँ, प्रजा व सेना दोनों के हित साधन का लक्ष्य एवं समय व परिस्थिति की अनुकूलता आदि ने इसे सफल बनाने में सहायता दी। इतिहासकारों के अनुसार इसमें सबसे ज्यादा प्रभाव सुलतान के कठोर नीति का पड़ा, क्योंकि सुलतान की मृत्यु के साथ ही यह व्यवस्था समाप्त हो गई।

प्रभाव –

यह नीति सुलतान के मौलिकता एवं बौद्धिक शक्ति का परिचायक था। इसके अच्छे-बुरे दोनों ही प्रभाव पड़े। इस नीति ने सुलतान के सुगठित शाही सेना की व्यवस्था को मजबूती दी। सैनिक इस व्यवस्था से काफी संतुष्ट थे। इसके चलते साम्राज्य के विस्तार एवं साम्राज्य में शांति स्थापना में पूरी सफलता मिली। जीवन की प्रत्येक आवश्यक वस्तुएँ सस्ती एवं प्रचुरता से उपलब्ध थीं। राज्य की शांति ने सुलतान को भवन निर्माण कराने में, शिक्षा, साहित्य एवं अन्य कलाओं के विकास का अवसर दिया। इस व्यवस्था ने अमीरों के विलासिता पूर्ण जीवन को समाप्त कर उनमें संयम का आधा र पैदा किया। राज्य की अधिकांश जनता विषादग्रस्त थी। व्यापारी और किसान भी इससे विशेष लाभान्वित नहीं हुए। व्यापारी की जटिल नियमावली के कारण कई व्यापारियों ने भी व्यापार छोड़ दिये थे। अधिकारियों की क्रूरता से बाजार में आतंक छाया रहता था। कृषकों की तो रीढ़ ही टूट गई, एक तो वे पहले से ही कर भार से दबे थे, ऊपर से उन्हें अपनी फसल बेचने की स्वतंत्रता भी नहीं थी। सुलतान ने अपनी इस नीति की बलिवेदी पर कृषि और व्यापार की हत्या कर दी।

उपरोक्त तथ्यों के अवलोकनोपरांत इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता है कि इस नीति की व्यापकता अलाउद्दीन खिलजी की दूरदर्शिता एवं व्यवहारिक बुद्धि का परिचायक था। इतिहासकार आज भी इसे आश्चर्य से देखते हैं। डॉ० एस० रॉय जिन्होंने उसक व्यक्तित्व और बाजार व्यवस्था की समीक्षा कर लिखा है कि अलाउद्दीन प्रथम मुस्लिम साम्राज्यवादी और भारत का प्रथम महान मुसलमान शासक-प्रबंधक था, जिन्होंने बाजार व्यवस्था द्वारा भारतीय इतिहास में अमिट छाप छोड़ी है।

संदर्भ ग्रंथ –

1. खलजी-कालीन भारत – स० अ० अ० रिजवी
2. मध्यकालीन भारत – इरफान हबीब
3. मध्यकालीन भारत (भाग 1) – हरिश्चन्द्र वर्मा
4. मध्यकालीन भारत – एल० पी० शर्मा
5. मध्यकालीन भारत (एक सवेक्षण) – इम्तियाज अहमद
6. मध्यकालीन भारत (कक्षा 11 के लिए) – एन० सी० आर० टी०
7. द एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ द सल्तनत ऑफ देलही – आई० एच० कुरैशी
8. कम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया : द देलही सल्तनत – मो० हबीब एवं के० ए० निजामी
9. हिस्टोरियन्स ऑफ मैडीबल इण्डिया – एम० एच० खान
10. खलजी सुल्तान्स इन राजस्थान – ए० के० श्रीवास्तव।

प्राचीनकालीन आश्रम व्यवस्था की महत्ता

डॉ० श्वेता

प्राचार्या, संजय गांधी महिला कॉलेज, पटना

आश्रम शब्द श्रम धातु से बना है जिसका अर्थ होता है परिश्रम करना। तात्पर्यतः आश्रम का आशय जीवन के उन विभिन्न स्तरों से है जहाँ व्यक्ति को अनेक प्रकार का श्रम अथवा प्रयास करना होता है। लिहाजा आश्रम व्यवस्था भारतीय मनुष्य द्वारा प्रतिपादित एक ऐसी व्यवस्था है जो भारतीय समाज एवं भारतीय मानव को प्राणवृत करते हुए, इस भवसागर में आगे बढ़ने की क्षमता प्रदान करते आई है।

प्राचीन भारत के हिन्दू समाज का अपरिहार्य अंग आश्रम व्यवस्था था।¹ हमारे व्यवस्थाकारों ने झंकृत सामाजिक जीवन को पुनः संगठित करने की दृष्टि से जहाँ एक ओर वर्ण व्यवस्था को परिवर्धित स्वरूप प्रदान किया, वहाँ दूसरी ओर प्रत्येक जीवन को विशेष पद्धति में निरूपित करने की दृष्टि से आश्रम व्यवस्था की विधिवत् आधारशीला डाली गयी।

यद्यपि आश्रमों का संकेत हमें वेदों में भी प्राप्त होता है परन्तु व्यवस्थित आश्रम संस्था इंगीकरण नहीं मिलता है। वेद एवं ब्राह्मण आदि के आश्रम व्यवस्था का परिचय हमें 'ब्रह्मचारी', 'गृहपति', 'वैरवानस' आदि शब्दों से प्राप्त होता है। उपनिषद् युग तक प्रारम्भिक तीन आश्रम कदाचित विकसित हो चुके थे, परन्तु एक सुव्यवस्थित संस्था के रूप में आश्रम व्यवस्था सूत्रकाल में ही पल्लवित हो सकी थी। सूत्रकाल वर्णाश्रम धर्म में परिवर्द्धन हो सकी थी। सूत्रकाल वर्णाश्रम धर्म में परिवर्द्धन एवं पुनर्संगठन का युग था।

भारतीय मनिषियों ने जीवन के चार विभाग किये जो चार आश्रम कहलाए। यहाँ आश्रम का तात्पर्य व्यक्तिगत सुधार और संस्कार से हैं। अर्थात् भारतीय सामाजिक जीवन में चार वर्णों के समान चार आश्रमों का भी बहुत महत्व था। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास- ये चार आश्रम माने जाते थे। मानव जीवन के महान पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की क्रमशः प्रारित के चारों आश्रमों का विकास हुआ था। इसी पुरुषार्थचतुष्टय के आधार पर मनुष्य अवस्थाविशेषों में अपने जीवन से सम्बंधित कार्यक्रम को निश्चित कर लेता है। जिस प्रकार दैनिकचर्या में मनुष्य प्रातःकाल से ही एक कार्य से दूसरे कार्य को ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार एक-एक कालावधि में धर्म का प्रतिष्ठान करते हुए मनुष्य अपने भाग का आधार बनाता है और इसके पश्चात् भौतिक सुखों का आस्वादन करता है। फिर सभी भौतिक सुखों को त्याग कर अपने अंतिम लक्ष्य की ओर बढ़ता है और अक्षय शांति हेतु अनुष्ठान में संलग्न होता है। निःसंदेह मनुष्य के इतिहास में उसके जीवन के वैज्ञानिक विभाग का यह पहला शास्त्रीय प्रयास² था न कि पलायन का।

हिन्दू धर्म का सामाजिक जीवन या व्यक्तिगत जीवन पूर्णरूपेण अध्यात्मिक रहा है। जीवन के प्रारंभिक अवस्था से ही इस अध्यात्मिक जीवन की कार्यशैली चलती रहती है। आश्रम व्यवस्था के आधार पर जीवन के प्रत्येक भाग को नियमित किया गया है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन

के प्रत्येक अवस्था के और हर अवसर के कर्तव्य इसके अधीन निर्धारित है जिससे वह स्वेच्छाचारी नहीं हो सकता है। इन आश्रमों की कल्पना का आधार पर विचार करने के क्रम में यह स्पष्ट होता है कि प्रत्येक मनुष्य चार ऋण लेकर उत्पन्न होता है।³ प्रत्येक मनुष्य देवताओं, पितरों ऋषियों और अन्य मनुष्यों के प्रति ऋणी होता है। सूर्य, वरुण, अग्नि देवताओं का भी मनुष्य ऋणी होता है क्योंकि इन्हीं के कृपा से वह प्रकाश, जल उष्णता आदि प्राप्त करता है। इनके बिना वह अपना जीवन-निर्वाह नहीं कर सकता।⁴ अतः मनुष्य का कर्तव्य है कि वह देवताओं की पूजा करे, यज्ञ आदि के द्वारा उनके ऋण को अदा करे। प्रत्येक आर्य से यह आशा की जाती है कि वह अपना सारा जीवन सांसारिक झंझटों में ही न बिता दे अपितु ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रथी और सन्यासी होकर अपना जीवन व्यतीत करे।

आश्रम व्यवस्था को वर्तमान के संदर्भ में रखकर देखा जाए तो यह स्पष्ट होता है कि वर्ण व्यवस्था और आश्रम व्यवस्था की पुरानी पद्धति अब नहीं रही। मनुष्य के अपने प्रति और अपने समाज के प्रति कोई निश्चित कार्यक्रम नहीं रहे। समाज में कई प्रकार के अमानवीय तत्वों का समायोजन हो चुका है। सामंती व्यवस्था और पूँजीवाद ने वर्ण संघर्ष को उत्पन्न कर समाज में विघटन की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया। ऐसा लगता है कि आज के संदर्भ में आश्रम व्यवस्था की प्रासंगिकता को सिद्ध कर पाना एक मुश्किल कार्य लगता है। तथापि स्मृतियों की आश्रम व्यवस्था मनुष्य के अध्यात्मिक लक्ष्य को लक्षित करने वाली है। यह व्यवस्था मनुष्य के जीवन के अंतिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति के मार्ग निर्देशन का कार्य करती है। इस व्यवस्था में कुछ ऐसे अमानवीय मूल्यों तथा विवेचन में अनावश्यक तत्वों का समायोजन हो चुका है जिनका पूर्णरूपेण निर्वाह कर पाना वर्तमान में सम्भव नहीं दिखता है। इसके बावजूद भी यदि चारों आश्रमों के सिद्धांतों पर गम्भीरता से विचार किया जाए तो यह सम्भव है कि वर्तमान में तीन आश्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और सन्यासी की प्रासंगिकता को सिद्ध किया जा सकता है लेकिन वानप्रस्थ आश्रम व्यवस्था की सिद्धांत को आज के युग में सिद्ध करना सम्भव नहीं हो पा रहा है। इसके पीछे वजह है कि प्राचीन शास्त्रीय ग्रंथ भी वानप्रस्थ को स्वीकार नहीं करते हैं, जिनमें याज्ञ वल्क्यस्मृति भी शामिल है।

मनु के अनुसार ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम व्यवस्था के यही चार मान्यक्रम हैं। इनमें से प्रत्येक व्यक्ति दूसरे आश्रम में प्रवेश करने के लिए अपनी नैतिक, शारीरिक तथा मानसिक क्षमताओं का विकास करता है जिससे नये उत्तरदायित्व की पूर्ति में कोई कठिनाई न हो। जाबालोपनिषद् में यह उल्लेखित है कि ब्राह्मण प्रथम आश्रम के उपरांत सीधे सन्यास आश्रम को ग्रहण कर सकते हैं।⁵ जबकि स्मृतिकारों के अनुसार मनुष्य जीवन का प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्य का होता है और इसके बाद वह गृहस्थ, वानप्रस्थ से होते हुए जीवन से मोक्ष की प्राप्ति के लिए सन्यासी का जीवन व्यतीत करता है।

सूत्रकारों के अनुसार आश्रम व्यवस्था जीवन का नियामक रूप थी, नियमित जीवन का काल चक्र थी एवं उच्चतर ध्येय की प्राप्ति हेतु श्रृंखलागत प्रयास थी। यहाँ हम आश्रम व्यवस्था की वर्तमान के संदर्भ में प्रासंगिकता को सिद्ध करने का प्रयास सूत्रयुगीन चतुराश्रमों का क्रमबद्ध रूप में व्यवस्थित किया गया है। स्मृतिकारों के अनुसार ब्रह्मचर्य मानव जीवन का प्रथम आश्रम होता है।⁶ यह आश्रम अध्ययन एवं अनुशासन का काल होता है। इस काल में मनुष्य गुरुकुल में रहकर शिक्षा ग्रहण करता है।⁷ शिक्षा के लिए मुख्य रूप से वेदों के अध्ययन पर विशेष बल दिया जाता था। जीवन के प्रारम्भिक कोमल वर्षों में बालक एवं तरुण को आनेवाले दायित्व को निभाने की क्षमता से पूरित किया जाता था।⁸ शक्ति संचय गुण पल्लवन एवं व्यक्तित्व के विकास का समय माना जाता था। इस अवस्था में

विद्याध्ययन से पूर्व उपनयन संस्कार को अनिवार्य माना जाता था। इसके बाद ही बालक ब्रह्मचारी कहलाता था एवं गुरु से शिक्षण प्राप्त करने का अधिकारी बनता था। ब्रह्मचर्याश्रम की अवस्था जीवन के प्रारंभिक पच्चीस वर्ष निर्धारित किये गये थे। सूत्रों के अनुसार ब्रह्मचारी को गुरुसेवा, वाक् संयम, समिधादान, नित्य स्नान, यज्ञ, अध्ययन आदि कर्तव्य करने की आवश्यकता पर बल दिया गया था।⁹

आज भी हम देखते हैं कि वेदों के अलावे भी ज्ञान के अनेक शास्त्र को अपनाया गया है आज भी जीवन के प्रारंभिक दिनों में उचित रीति से अध्ययन कर बच्चों के अच्छे चरित्र निर्माण की अभिलषा करते हैं। यह सही है कि स्मृतिकारों ने जिस तरह की व्यवस्था प्राचीन काल में बच्चों के शील निर्माण हेतु नियम बनाये वे आज भी शत-प्रतिशत प्रासंगिक है।

स्मृतिकारों ने गृहस्थ आश्रम के लिए जिन मौलिक कर्तव्यों की चर्चा है वे आज भी वर्तमान सामाजिक परिवेश में पूर्णरूपेण प्रासंगिक है। स्मृति ग्रंथों में मनुष्य को धर्म, अर्थ और काम तीनों का समुचित रीति से उपयोग करने की सलाह दी गई है। प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य था कि वह गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करें और अपने पारिवारिक दायित्व का निर्वहण करें। यह कहा गया है कि जो देवता, पितर, अतिथि, सेवक और आत्मा इन पांचों को अन्न नहीं देता है वह जीते हुए भी मरे के समान है।¹⁰ यह आज भी सत्य है क्योंकि ऋषि, पितर, देवता, भूत और अतिथि ये सभी कुटुम्बियों में ही आशा करते रहे हैं। लेकिन जिस पंचयज्ञ का उल्लेख स्मृति ग्रंथों में किया गया है उसकी प्रासंगिकता पर आज संदेह के घेरे में है। किन्तु माता-पिता तथा गुरु की भक्ति करने वाला गृहस्थ निश्चित रूप से उच्च आदर्शों वाला होगा। आज भी इनके आशीर्वाद से ही बच्चे मनोनुकूल फल की प्राप्ति है। गृहस्थ के लिए धर्मपूर्वक धनोपार्जन करने, सत्यवादिता तथा आत्मतत्व के ध्यान में लीन रहने की जो बातें कही गई हैं वह आज भी उचित हैं क्योंकि मनुष्य संतोषपूर्वक अपने जीवन को संचालित कर सके और असंतोष का त्याग कर सके। गृहस्थ आश्रम में सर्वाधिक महत्व संतान प्राप्ति द्वारा समाज वृद्धि में निहित था। इस आश्रम को ही मनुष्य के यज्ञ सम्पादन और पितृऋण से उऋण होने के लिए महत्वपूर्ण मानी जाती थी।¹¹ आज के संदर्भ में ये दोनों बातें प्रासंगिकता का निर्वहण करने वाली है। इसलिए स्मृतिकारों ने कहा है कि गृहस्थी जीवन को पूर्णता में जीनेवाला व्यक्ति ही उच्च वानप्रस्थी और संन्यासी बन सकता है।

सूत्र काल प्रत्येक गृहस्थ से यह अपेक्षा की जाती थी कि वृद्धावस्था के प्रारम्भ हो जाने पर वह पारिवारिक जीवन का परित्याग कर वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करे। सूत्रकाल में अधिकांशतः ब्राह्मण ही वानप्रस्थाश्रम गये थे ये वृक्ष के नीचे रहते।¹² मृगचर्म या वृक्षों के छाल से निर्मित आच्छादान तन पर धारण करते।¹³ एवं स्वाध्याय में लीन रहते थे।¹⁴ ये पंचमहायज्ञ का सम्पादन भी करते थे।¹⁵ यद्यपि आज के संदर्भ में वानप्रस्थ आश्रम प्रासंगिक प्रतीत नहीं होता है लेकिन वानप्रस्थियों के लिए जो नियम प्रतिपादित किये गए थे कि मनुष्य को तीसरे चरण में सांसारिकता से अपने आपको विमुख कर देना चाहिए यह आज के युग में किसी भी दृष्टिकोण से तार्किक प्रतीत नहीं होता है।

आज परिवार की व्यवस्था में काफी परिवर्तन हो गया है। सामाजिक स्तरों पर भी पहले की तुलना में काफी अन्तर देखने को मिलते हैं। आज संयुक्त परिवार को सही दिशा-निर्देश देने के लिए तीसरे चरण के व्यक्तियों की अति आवश्यकता होती है। ताकि अपने अतीत को ध्यान में रखकर भविष्य का मार्ग प्रशस्त किया जा सके। अतः व्यक्ति के अनुभव से लाभ प्राप्त किया जा सके।

इसी तरह संन्यास आश्रम के बारे में जो स्मृतियों में कही गई है वह आज के युग में शायद ही सम्भव हो पाये। लेकिन सभी पदार्थों के प्रति मोह का त्याग, सभी प्राणियों पर दया, क्रोध असत्य

से दूर रहना आदि जो निर्देश दिए गए हैं उनका पालन आज भी मनुष्य को अपने अंतिम समय तक करना चाहिए। इस प्रकार से रहकर ही मनुष्य सुखपूर्वक और चिंतनमुक्त होकर अपना शरीर त्याग कर सकता है।

इस तरह मनुस्मृति एवं अन्य स्मृतिकारों ने आश्रम व्यवस्था को जिस रूप में प्रतिपादित किया है उनमें से अधिकांश तत्वों को आज युग में कुछ बदलाव के साथ हमारे सामाजिक जीवन में प्रासंगिक बने हुए हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि स्मृति ग्रंथों में मौलिक आश्रम व्यवस्था के अंतर्गत किसी भी प्रकार के अनुचित कार्यों को महत्व एवं स्थान नहीं दिया गया था। स्मृतिकारों के द्वारा आश्रम व्यवस्था को मनोवैज्ञानिक ढंग से व्यवस्थित किया गया है जिससे मानव जीवन की आवश्यकताओं में संतुलन कायम रहे। संसार की किसी सभ्यता में मनुष्य के जीवन का विभाजन इतने वैज्ञानिक ढंग से नहीं किया था। गृहस्थ जीवन को परिष्कृत करने के लिए सोलह संस्कारों का विधान था जो आज भी मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु तक क्रमागत में चलता है।

आज भूमण्डीकरण और वैश्वीकरण के दौर में मनुष्य के जीवन में काफी बदलाव आया है। वर्तमान में मनुष्य की इच्छाएँ इतनी अनंत हो गयी हैं कि वह आमरण उसकी साथ नहीं छोड़ती। धर्म और मोक्ष पर अर्थ और काम ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया है। अतएव पुरुषार्थ अब दो ही रह गए हैं- अर्थ और काम। अब धर्म और मोक्ष की अभिलाषा मनुष्य से अतिदूर चला गया है। अतः मनुष्य को अपनी अस्तित्व को कायम रखने के लिए जीवन को सुव्यवस्थित ढंग से चलाने के लिए धर्म एवं मोक्ष की महत्व को समझने की जरूरत है इसके बिना मनुष्य को मानसिक संतुष्टि और उसकी जीवन यात्रा अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकती और न ही सच्ची मानवीयता का विकास हो सकता है अतः जरूरत है कि आज भी आश्रम व्यवस्था द्वारा प्रतिपादित नियमों का पालन कर उसकी प्रासंगिकता को सिद्ध किया जा सके।

संदर्भ ग्रंथ:-

1. शशीअवस्थी; प्राचीन भारतीय समाज, पृ. 180
2. राजवली पाण्डेय- प्राचीन भारत, पृ. 71
3. सत्यकेतु विद्यालंकार- प्राचीन भारत का धार्मिक, सामाजिक, और आर्थिक जीवन, पृ. 191
4. वही- पूर्वोक्त - 191
5. जाबालोपनिषद- 6.38
6. बौधायन धर्मसूत्र - 62.6
7. मनुस्मृति- 2.175
8. मनुस्मृति- 1.184
9. गौतम धर्मसूत्र- 2.108
10. मनुस्मृति- 3.72
11. बौधायन धर्मसूत्र- 2.6.29.42
12. आपस्तम्ब धर्मसूत्र- 2.9.20
13. गौतम धर्म सूत्र- 3.34
14. आपस्तम्ब धर्मसूत्र- 2.9.22.91

प्राचीन काल में स्त्रियों की स्थिति

राकेश कुमार झा

नेट उतीर्ण

किसी भी सभ्यता के आत्मा को समझने तथा उसकी उपलब्धि एवं श्रेष्ठता का मूल्यांकन करने का सर्वोत्तम आधार उसमें स्त्रियों की दशा का अध्ययन करना है। स्त्रियों की स्थिति किसी भी देश की संस्कृति का मानदंड मानी जाती है। प्राचीन भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति को जानने के लिए हमें इन कालों के साक्ष्यों, साहित्यों आदि का अवलोकन करना पड़ता है। जिसके अध्ययन करने के फलस्वरूप हम यह पाते हैं कि प्रारंभिक अवस्था में स्त्रियों की स्थिति काफी अच्छी थी, उन्हें पूजनीय माना जाता था, परंतु बाद के कालों में अर्थात् जिस तरह कालों की अवस्था में परिवर्तन आता गया ठीक उसी तरह से स्त्रियों की दशा में भी परिवर्तन आता गया और हम देखते हैं कि आगे के अवस्था में स्त्रियों की स्थिति में सुधार की जगह गिरावट आती जा रही है। वैदिक काल में उनकी स्थिति परवर्ती काल के सापेक्ष काफी अच्छी थी। इन बिन्दुओं पर प्रकाश डालने के लिए हमें विभिन्न पहलुओं को देखना होगा।

प्रारंभिक दशा

अनेक साहित्यों के अध्ययन के फलस्वरूप हम पाते हैं कि प्राचीन अवस्था में हिन्दु सभ्यता में स्त्रियों को अत्यंत गरिमापूर्ण और आदरपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। भारत की प्राचीनतम सभ्यता (सैंधव सभ्यता) में धर्म में माता को देवी के समान सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया है, उस समय के समाज में इसे उन्नत स्त्री दशा का सूचक माना जा सकता है। ऋग्वैदिक काल में भी समाज ने स्त्रियों को आदरपूर्ण स्थान दिया है। उस समय में स्त्रियों को पुरुषों के समान धार्मिक और सामाजिक अधिकार दिये गये हैं। वैदिक काल में विवाह एक धार्मिक संस्कार माना जाता था। दंपति घर के संयुक्त अधिकारी होते थे। भले ही वैदिक काल में समाज पितृसत्तात्मक था, फिर भी स्त्रियों की जितनी प्रतिष्ठा उस समय थी, उतनी बाद के किसी भी समय में नहीं रही। बौद्धिक, आध्यात्मिक तथा सामाजिक जीवन में उसे पत्नी, पुत्री (दुहिता) तथा माता के रूप में सम्मान दिया जाता था। इस समय कन्याओं को समान रूप से उच्च शिक्षा ग्रहण करने का अधिकार प्राप्त था। यद्यपि अध्ययन के फलस्वरूप हम यह पाते हैं कि कहीं-कहीं कन्या के नाम पर चिंता व्यक्त की गयी है, तथापि कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जहाँ पिता विदुषी एवं योग्य कन्याओं की प्राप्ति के लिए विशेष धार्मिक अनुष्ठान करते थे। कन्याओं का उपनयन संस्कार भी होता था और वे भी ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतित करती थीं। वैदिक काल में अनेक ऐसी विदुषी और दार्शनिक थीं, जिन्होंने कई मंत्रों और ऋचाओं की रचना भी की है।

विश्वरा को “ब्रह्मवादिनी” तथा “मंत्रद्रष्ट्री” कहा गया है, जिसने ऋग्वेद के एक स्तोत्र की रचना की थी। घोषा लोपा, मुद्रा, शाश्वती, अपाला, इंद्राणी, सिकता आदि ऐसे विदुषी स्त्रियों के नामों का उल्लेख मिलता है जो वैदिक मंत्रों तथा स्तोत्रों की रचयिता हैं। इस काल में कन्याओं का विवाह प्रायः 15-16 वर्ष की आयु में होता था और इस प्रकार उन्हें अध्ययन का प्रयाप्त अवकाश मिल जाता

था। इस समय समाज में सती तथा पर्दा प्रथा का प्रचलन नहीं था, परंतु कुछ दृष्टियों में स्त्रियों को अनुपयुक्त माना गया है, जैसे- उन्हें संपत्ति के अधिकार से वंचित रखा गया है और वे शासन के योग्य भी नहीं थीं।

वैदिक काल में स्त्रियों को संपत्ति और शासन के अधिकारों से वंचित रखने के लिए कुछ विशेष कारण को उत्तरदायी माना गया था। संपत्ति के अधिकार में उन्हें भू-संपत्ति और धन संबंधी अधिकार दोनों से वंचित रखा गया है। उन्हें उस समय भू-संपत्ति के अधिकार से इसलिए वंचित रखा गया, क्योंकि भू-स्वामित्व बलपूर्वक प्राप्त किये जाते थे और प्राप्त किये हुए भू-स्वामित्व को शत्रुओं से बचाकर रखना होता था। चूँकि यह कार्य स्त्री के वश का नहीं था। अतः उन्हें भू-संपत्ति के अधिकारों की मान्यता नहीं मिली। इसके साथ-साथ उन्हें धन-संबंधी अधिकारों से भी वंचित रखा गया, क्योंकि लोगों का यह मानना था कि स्त्रियाँ बलपूर्वक कोई कार्य नहीं कर सकती हैं। अतः वे धनों की रक्षा किस प्रकार करेंगी। अतः इन सब कारणों से उन्हें धन संबंधी अधिकार नहीं प्राप्त हुए। इसी प्रकार की असमर्थता शासन के क्षेत्र में भी थी, चूँकि उस समय आर्य एक विदेशी भूमि में क्रमशः अपने राज्य को स्थापित कर रहे थे और उनके शत्रुओं की संख्या भी अधिक थी। अतः ऐसी स्थिति में शासन संबंधी अधिकार स्त्री को देना, उनके नवगठित राज्य की सुरक्षा की दृष्टि से उपयुक्त नहीं था।

इस तरह से हम देखते हैं कि वैदिक काल में स्त्रियों को काफी स्वतंत्रता प्राप्त थी, सिवाय संपत्ति एवं शासन संबंधी अधिकारों के। लेकिन राजपूत काल तक आते-आते उनकी स्थिति में काफी परिवर्तन हो चुका था। समय के प्रवाह के साथ देखते हैं कि स्त्री की शिक्षा में कुछ गिरावट आती है। कन्याओं को गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त करने की जो प्रथा थी वह समाप्त हो जाती है और वे घर पर ही अपने पिता, भाई या चाचा से शिक्षा ग्रहण करती थी। ऐसी स्थिति में केवल कुलीन परिवार की स्त्रियाँ ही शिक्षा ग्रहण कर सकती थी। इसी तरह की स्थिति उनकी वैवाहिक संबंधी अधिकारों में भी देखा जाता है। पहले जैसे व्यस्क होने पर कन्या का विवाह होता था और कभी-कभी वे स्वयं अपने इच्छानुसार पति को चुनती थी। क्षत्रिय समाज में जो स्वयंवर की प्रथा थी और इस समय जो सती प्रथा का अभाव था और विधवा विवाह होते थे तथा पर्दा प्रथा का प्रचलन भी नहीं था, अब इन सब के स्वरूप में परिवर्तन आ जाता है।

अब इनका विवाह यौवनावस्था से पूर्व होने लगता है। अनेक प्रकार के विवाहों में केवल चार प्रकार के विवाह ही मान्य रह जाते हैं- **ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्रजापत्य विवाह**। स्त्रियों का अब उपनयन संस्कार भी बंद हो जाता है और विवाह के अतिरिक्त उनसे संबंधित अन्य संस्कारों में वैदिक मंत्रों का उच्चारण नहीं होता था। कन्याओं की विवाह की आयु भी घटा दी जाती है जिसके कारण उन्हें शिक्षा ग्रहण में कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। ईसवी सन् के प्रथमार्ध तक अधिकांश कन्याओं का विधिवत् उपनयन औपचारिकता मात्र रह गया तथा इसे विवाह के कुछ पूर्व संपादित कर दिया जाता था। आगे के कालों में देखा जाता है कि इसे पूर्णतया बंद कर दिया गया तथा अब विवाह को ही उपनयन का विकल्प मान लिया गया। अब कन्याओं के विवाह के आयु में कमी हो जाती है पहले जो कन्याओं का विवाह व्यस्क होने पर होता था, अब कन्याओं का विवाह नौ से बारह वर्ष तक की आयु में किया जाने लगा। उपनयन संस्कारों के अभाव में कन्या की स्थिति शूद्रों की श्रेणी में की जाने लगी। देखा जाता है कि संपूर्ण प्राचीनकाल में स्त्रियों की स्थिति सदैव एक सी नहीं रहती है, लगातार उनकी स्थिति में गिरावट आती जाती है।

सूत्रों के काल में स्त्रियों की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगा दिया जाता है। वशिष्ठ के अनुसार “स्त्री स्वतंत्रता के योग्य नहीं है। बचपन में पिता, युवावस्था में पति तथा वृद्धावस्था में पुत्र उनकी रक्षा करते

है।” मनु आदि कुछ अन्य स्मृतिकारों ने भी इस मत का समर्थन किया है। मनु ने तो यहाँ तक कहा है कि पति के दुराचारी तथा चरित्रहीन होने की दशा में भी पत्नी का कर्तव्य है कि वह देवता के समान उसकी पूजा करे।

ईसा पूर्व दुसरी शताब्दी से लेकर तीसरी शताब्दी ईसवी तक का समय उत्तरी भारत में विदेशी आक्रमणों का काल रहा जिससे समाज में भारी अव्यवस्था फैल गयी। इसने स्त्रियों की स्थिति को प्रभावित किया। नियोग तथा पुनर्विवाह की प्रथायें बंद हो गयी। प्रारंभिक काल में नियोग प्रथा मातृत्वसुख के लिए एक अनोखी प्रथा थी। अगर आधुनिक दृष्टि या फिर उसके बाद के कालों की दृष्टि से देखा जाये तो इस प्रथा को हेय की दृष्टि से देखा जाता है और स्त्री के चरित्र पर उँगली उठाता है। परन्तु मातृत्व सुख की दृष्टि से देखा जाये तो शायद यह प्रथा कुछ गलत नहीं थी और उस समय के कालों के लिए यह प्रथा स्त्रियों के लिए जरूरी भी था। संपत्तियों पर स्त्रियों का आधिपत्य नहीं था और इसके साथ-साथ उस समय का समाज पुरुष प्रधान था। अतः जिस स्त्री को पुत्र की प्राप्ति नहीं होती थी और जो विधवा होती थी, उन स्त्रियों का इन चीजों के अभाव में जीवन यापन करना बहुत ही कठिन होता था। नियोग प्रथा के द्वारा स्त्रियों की स्थिति में सुधार की गई। अतः यह प्रथा शायद उस समय के लिए उचित थी, परन्तु बाद के कालों में इन प्रथाओं को बंद कर दिया गया। स्त्रियों के लिये पुनर्विवाह करने के स्थान पर संयास द्वारा मोक्ष प्राप्त करने के सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया, जिससे समाज में सती प्रथा का भी प्रचलन हो गया और इसे एक महान धार्मिक यज्ञ बताया गया। इससे स्त्रियों की दशा और खराब हो गयी, किंतु एक दिशा में स्त्री की दशा में सुधार हुआ, वह है संपत्ति का अधिकार। वैदिक काल में उसे संपत्ति अधिकार प्रदान नहीं किये गये थे। अब पुनर्विवाहों के अभाव में विधवा एवं पुत्रहीन स्त्रियों की संख्या में वृद्धि हुई। अतः उनके धन संबंधी अधिकारों को मान्यता देना प्रारंभ किया एवं क्रमशः उनका यह अधिकार मान्य हो गया। अतः देखते हैं कि आगे के कालों में स्त्रियों की दशा निरंतर पतनोमुख होती गयी। एक मात्र उसके धन संबंधी अधिकारों को ही समाज में मान्यता प्रदान की गयी। 12वीं शदी तक आते-आते संपूर्ण देश में विधवा के मृत पति का उत्तराधिकारी होने का सिद्धांत व्यवहारिक रूपों से स्वीकार कर लिया गया। स्त्री की स्वयं की संपत्ति जिसके ऊपर उसका पूरा अधिकार होता था **“स्त्री धन”** कहा गया। किंतु जीवन के अन्य क्षेत्रों में उनकी दशा पूर्ववत् दयनीय बनी रही। उपनयन की समाप्ति एवं बाल विवाह के प्रचलन ने उसे समाज में अत्यंत निम्न स्थिति में ला दिया। विधवा विवाह बंद हो गया तथा सती प्रथा का राजपूत कुलों में विशेष प्रचलन हो गया। राजपूत वंशों के कन्याओं का विवाह 14 या 15 वर्ष की आयु में होता था। कई कन्याओं को संरक्षिका के रूप में शासन भार भी ग्रहण करना पड़ता था, अतः उन्हें प्रशासनिक एवं सैनिक विषयों की शिक्षा दी जाती थी। इससे उनके विवाहों की आयु में कुछ वृद्धि हुई, किंतु अशासकीय परिवारों की कन्याओं का विवाह अल्पायु में ही होता था।

सती प्रथा

सती प्रथा का प्रारंभ भारतीय समाज में चतुर्थ शदी ईसा पूर्व के बाद किसी समय हुआ होगा। वैदिक समाज में सती प्रथा प्रचलित नहीं थी तथा विधवा विवाह द्वारा स्त्रियाँ अपना घर बसाती थी। ब्राह्मण साहित्य तथा गृह सूत्रों में भी इस प्रथा का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। धर्म सूत्रों तथा प्रारंभिक स्मृतियों से भी सती प्रथा के प्रचलित होने का संकेत नहीं मिलता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि चतुर्थ शदी तक सती प्रथा का प्रचलन भारतीय समाज में नहीं था। पुराणों में कुछ स्त्री के सती होने का उल्लेख मिलता है। इससे यह पता चलता है कि चतुर्थ शदी ईसवी के लगभग जब

पुराणों का वर्तमान स्वरूप निर्धारित हो रहा था, तो सती प्रथा समाज में आधार प्राप्त कर रही थी। ऐसे सती प्रथा के प्रचलन का प्रथम अभिलेखीय साक्ष्य गुप्तकाल का 510 ई० के ऐरण लेख में मिलता है। इससे यह पता चलता है कि गुप्त नरेश भानुगुप्त का मित्र गोपराज हूणों के विरुद्ध लड़ता हुआ मारा गया तथा उसकी पत्नी अग्नि में जल मरी थी। **हर्षचरित** से भी पता चलता है कि प्रभाकर वर्धन की पत्नी यशोमती अपने पति की मृत्यु के पूर्व ही सती हो गयी थी। इसी तरह से और अन्य कई ऐसे साक्ष्य हैं जिससे यह पता चलता है कि सती प्रथा उस समय उच्च वर्ग से संबंधित थी। यह कुप्रथा प्राचीन काल में कभी भी आम जन जीवन को प्रभावित नहीं कर सका। सातवीं से ग्यारहवीं शदी तक के काल में उत्तरी भारत में यह प्रथा काफी प्रचलित हो गयी। कश्मीर में इसका काफी प्रचार-प्रसार हुआ। **कल्हण** की राजतरंगिणी से सती प्रथा के अनेक उदाहरण मिलते हैं। राजकुल में इसका व्यापक प्रचलन था। यहाँ तक की शासकों के रखैल तथा वेश्यायें तक सती होती थी। इस प्रथा को ब्राह्मण परिवारों के लिए निषिद्ध बताया गया, किंतु दसवीं शदी से हम ब्राह्मणों में भी इस प्रथा का प्रचलन पाते हैं।

बारहवीं शदी के बाद राजपूत कुलों में सती प्रथा का अत्याधिक प्रचलन शुरू हो गया। जिसे बाद के कालों में अर्थात् मुगल शासक अकबर ने इसे रोकने का प्रयास किया किंतु उसे सफलता नहीं मिली। अंततः 19वीं शताब्दी में ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन के दौरान राजाराम मोहन राय के प्रयास से लॉर्ड विलियम बेंटिक के समय में 1829 में कानून बनाकर इस कुप्रथा को बंद कर दिया गया।

पर्दा प्रथा

इस प्रथा का प्रचलन भारत में कब से शुरू हुआ, यह विद्वानों में प्रायः विवाद का विषय रहा है, परंतु यह स्पष्ट है कि वैदिक युग के समय पर्दा प्रथा का प्रचलन नहीं था। उस समय स्त्रियाँ स्वतंत्रतापूर्वक सार्वजनिक स्थानों में विचरण करती थी तथा पुरुषों के समान शिक्षायें भी प्राप्त करती थी। स्त्री के लिए इस समय **सभावती** शब्द का भी प्रयोग किया गया है जो इस बात का सूचक है कि समाज में पर्दा प्रथा का प्रचलन नहीं था। अनुमानतः हिन्दु समाज में पर्दा प्रथा का प्रचलन मौर्योत्तर काल के समय से प्रचलित होती हुई दिखाई पड़ती है। राजकुलों में हमें इसका विशेष चलन देखने को मिलता है, जहाँ महिलाओं को सार्वजनिक दृष्टि से बचाने के लिए पर्दा प्रथा धारण करने की संस्तुति की गई। भास की रचना **स्वपनवासवदत्ता** को इस प्रथा का प्रथम साहित्यिक प्रमाण माना गया। जिसमें बार-बार पर्दा शब्द का उल्लेख किया गया है। इस नाटक के अनुसार राजा उदययन की पत्नी पदमावती राज दरबार में उपस्थित राजदूतों के समक्ष आने से ऐतराज कर रही थी, लेकिन शासक ने अपनी पत्नी को समझाया की आमलोगों के लिए पर्दा है। आप शासक की पत्नी है, राजनीति की जरूरत है, आप मेरे साथ स्वागत को चलेगी। आप बाकई पर्दा करेगी तो लोग खराब मानेंगे, यह अन्यों के लिए पर्दा है। अतः स्वपनवासवदत्ता में बार-बार उल्लेखित पर्दा प्रथा को ठोस साक्ष्य माना गया और यह माना गया कि मौर्योत्तर काल के दौर से हिन्दुओं में पर्दा प्रथा था। भवभूति तथा माघ की रचनाओं से भी पर्दा प्रथा के प्रचलित होने की सूचना मिलती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि तीसरी शदी के लगभग से समाज के कुलीन या राजकुल की स्त्रियाँ में पर्दा का प्रचलन था और इसका अनुकरण समाज के सामान्य परिवार में भी किया जाने लगा। कभी-कभी इस समय कन्याओं के द्वारा पर्दा धारण करने का विरोध करते हुए पाया गया है। **ललितविस्तार** से पता चलता है कि बुद्ध की पत्नी गोपा ने अपने मुँह पर घुँघट डालने का यह कहते हुए विरोध किया कि शुद्ध विचार वालों के लिए बाहरी आवरण की आवश्यकता नहीं होती है। अतः इन विचारों के कारण पर्दा

प्रथा का प्रचलन व्यापक रूप से नहीं हो पाया तथा यह कुछ परिवारों तक ही सीमित के रह गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बारहवीं शदी के पूर्व हिन्दु समाज में पर्दे का व्यापक रूप से प्रचलन नहीं हो सका। वस्तुतः इसका प्रचलन इसके बाद भी हुआ।

ऐसा लगता है कि पर्दा प्रथा का व्यापक रूप से प्रचलन मुस्लिम आक्रमण के प्रभाव से हुआ, जिसका कड़ाई से पालन मुस्लिम समाज में किया जाता था। इस प्रथा को ग्रहण करने के पीछे इनके प्रति सुरक्षा की भावना थी। इस समय बड़े संख्याओं में विदेशी लोगों का प्रवेश हुआ था जो मुस्लिम शासक एवं सैनिक हिन्दु स्त्रियों पर बुरी नजर रखते थे। अतः इन्हें इनसे बचाने के लिए पर्दे का उपयोग हुआ। इस काल की हिन्दु महिलाओं ने भी इसका विरोध नहीं किया। बारहवीं शदी के उपरोक्त हिन्दु समाज में पर्दा प्रथा का व्यापक रूप से प्रचलन हो गया।

देवदासी प्रथा

प्राचीन भारतीय समाज में देवदासी प्रथा का भी प्रचलन था। इस प्रथा का प्रचलन गुप्तोत्तर काल से शुरू हुआ। देवदासियों का कार्य देव मंदिर को भव्यता एवं आकर्षण प्रदान करना, महत्वपूर्ण अवसर पर एवं उत्सव पर सामुदायिक रूप से देवताओं के सम्मुख अपनी कला को प्रस्तुत करना अर्थात् नृत्य और गायन प्रस्तुत करना था। चूँकि मंदिरों के निर्माण का साक्ष्य गुप्तकाल से मिलता है और गुप्तोत्तर काल में मंदिर निर्माण में और तेजी आयी। अतः यह अनुमान लगाया जाता है कि देवदासी के उभरने की गुंजाईस गुप्ता के बाद हुई होगी।

धार्मिक स्थिति

प्राचीन ग्रंथों में स्त्रियों को काफी प्रतिष्ठित किया गया है। यद्यपि कुछ ग्रंथ तथा लेखक उनके चरित्र के दोष देखते हुए उनकी कटु आलोचना करते हैं तथापि शास्त्रों और महाकाव्यों में स्त्री के महत्वपूर्ण आदर्श की प्रतिष्ठा मिलती है। वैदिक काल में उसे पुरुषों के साथ ही सामाजिक एवं धार्मिक प्रतिष्ठा मिली। शतपथ ब्राह्मण में स्त्री को पुरुष की अर्धांगिनी बताया गया है। महाभारत के अनुसार गृहिणी की वस्तुतः गृह कही जाती है। गृहिणी के बिना गृह अरण्य के समान है। स्त्रियों की सदा पूजा करनी चाहिए। जहाँ स्त्रियों का सम्मान है वहाँ सभी देवता प्रसन्न रहते हैं तथा जहाँ उसका अपमान है वहाँ सभी क्रियायें निरर्थक हो जाती हैं। माता के रूप में स्त्री को भूमि से भी गुरुत्तर बताया गया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हिन्दु समाज में स्त्रियों के प्रति सामान्यतः उदार एवं आदरपूर्ण विचार अपनाये गये। माता के रूप में उसकी महिमा अति महान थी। मनु के अनुसार “माता का पद पिता से भी बढ़कर होता है”। महाभारत में पत्नी को त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ तथा काम का मूल कहा गया है। हिन्दु समाज में स्त्रियों की प्रतिष्ठा इसी तथ्य से स्पष्ट है कि देव समूह में देवियों की उपासना सर्व प्रचलित है तथा अनेक प्रसिद्ध देवताओं के नाम के पूर्व देवियों के नाम संयुक्त मिलते हैं, जैसे- लक्ष्मी-नारायण, उमा-महेश, सीता-राम, राधा-कृष्ण आदि।

अतः अंततः हम देखते हैं कि पूरे प्राचीन भारत में अर्थात् वैदिक काल से लेकर राजपूत काल तक स्त्री की स्थिति में लगातार उतार-चढ़ाव आते रहे हैं, जिस तरह प्रकृति के स्वरूप में परिवर्तन होते रहते हैं ठीक उसी तरह से स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन हो रहे थे। हाँ, यह अलग बात है कि स्त्रियों की स्थिति प्रारंभिक कालों की अपेक्षा बाद के काल में सुधरने के जगह उनकी स्थिति में गिरावट आ रही थी। बस एक ही चीज में उनकी स्थिति अच्छी थी और वह थी संपत्ति का अधिकार,

बाकि बाद के चीजों में उनकी स्थिति खराब होती जा रही थी। उन्हें हर सुख-सुविधाओं से वंचित कर दिया गया था। बस उन्हें घर के सजावट के रूप में उपयोग किया जा रहा था और उनका अस्तित्व तभी तक था जब तक उसके पति जीवित रहते थे। पति के मृत्यु प्राप्त करने के साथ उसे भी उनके साथ सती होना पड़ता था। उनकी अपनी कोई इच्छा नहीं थी। अगर कोई इच्छा उत्पन्न होती थी तो उन्हें दबा दिया जाता था। अतः पूरी बारिकी से अध्ययन करने के बाद निष्कर्ष यही निकलता है कि स्त्रियों की स्थिति सामान्यतः शूद्रों के समान हो गई थी। बस उनका काम शूद्रों के समान सेवा करना था, जो देखा जाये तो उचित नहीं था।

संदर्भ

1. प्राचीन भारत का परिचय- राम शरण शर्मा
2. प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति- राम शरण शर्मा
3. प्राचीन भारत का इतिहास- झा एण्ड श्री माली
4. मौर्य साम्राज्य का इतिहास- सत्यकेतु विद्यालंकार
5. प्राचीन भारत- एल.पी. शर्मा
6. प्राचीन भारत का इतिहास- त्रिपाठी
7. नंद मौर्ययुगीन भारत- शास्त्री नीलकण्ठ
8. द कैब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया- ई.आर.रैप्सन संपादित
9. प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास- पाण्डेय बी.सी.
10. भारतीय दर्शन- चट्टोपाध्याय एवं दत्त।

ब्रिटिश भारत में धार्मिक आन्दोलन का मूल्यांकन

रणजीत कुमार

नेट उतीर्ण

भारत में अंग्रेजों के पैर 1772 ई. में राजाराम मोहन राय के जन्म के एक वर्ष बाद जमे थे, जब भारत का प्रधान भाग अंग्रेजों के अधीन हो गया था और अधिकांश भारतीय नरेशों को लार्ड बेल्लेसली की सहकारी संधि मानने को विवश होना पड़ा था। इस सहकारी संधि के परिणामस्वरूप अकबर की आदर्शवादिता से जन्मा और हिन्दू-मुस्लिम सहयोग से पनपता मुगल साम्राज्य तथा भारतीय संस्कृति पतन के कगार पर आ गयी थी। हिन्दुओं और मुसलमानों के पारस्परिक सहयोग पर टिका हुआ अकबर का आदर्शवाद औरंगजेब की कट्टरता का आघात न सह सका। वह ढह गया। औरंगजेब के पास न तो कोई सिद्धांत था और न कोई आदर्श ही।

यदि कोई आदर्श था तो अवसरवादिता और वैयक्तिक आत्मसेवा या अहंवाद। लेकिन औरंगजेब के समय तक उसका कट्टरपन मुसलमानों के पक्ष की तुष्टि के लिए समर्थ था और उसकी इस दृढ़ता से एक पक्ष ही दृढ़ रहा। परिणामतः इसके समय तक मुगल साम्राज्य छिन्न-भिन्न न हो सका। फिर भी, अकबर के सामान्य आदर्शवाद की क्रियात्मकता न रही और जन-जीवन अधिकांशतः परम्पराबद्ध हो गया और अल्पांश में विशिष्ट व्यक्ति की अहंभावना द्वारा संचालित मुगल दरबार की तड़क-भड़क और विलासता ने भी इस अहंभावना को उकसाया। विलासता का अर्थ ही है सत्ता, धन और जीवन का, आनन्द का भोग। इसमें नव-निर्माण की अपेक्षा, निर्मित वस्तु की सजावट की ओर अधिक ध्यान जाता है। जन-जीवन को सुखी बनाने के स्थान में, जीवन को अधिक संस्कृत बनाने का प्रयास होता है।

परिणाम यह होता है कि आर्थिक कठिनाइयों के कारण जन-साधारण तो पीछे रह जाता है और कुछ विशिष्ट व्यक्ति, कुछ दिशाओं में अधिक संस्कृत और शिष्ट हो जाते हैं। फलस्वरूप उन विशिष्ट व्यक्तियों या वर्गों का साधारण सांस्कृतिक जीवन से सम्पर्क छूट जाता है। सामान्य जनगण सभ्यता के प्रतिमानों से वंचित रह जाता है और वह शिष्ट समुदाय से उदासीन हो जाता है। इस प्रकार केवल हवाई आधार पर स्थित संस्कृति किसी दूसरी सभ्यता के वेग को सहन करने में असमर्थ प्रमाणित होती है। इस तरह, औरंगजेब की मृत्यु के साथ घोर अहंवाद और अवसरवादिता का फैलाव हुआ। उत्तरदायित्व की भावना से दुर्बल होने के कारण और कर्तव्य के अभाव में, व्यक्ति की शक्ति जीवन के आनन्दोपभोग और अधिकार-प्राप्ति में लग गई। इस प्रकार समाज में आपसी संघर्ष की शुरुआत हुई। इसके साथ ही समाज के शरीर में नाश का विष भी व्याप्त हो गया। अतः सामान्य उद्देश्य और उत्तरदायित्व से हीन समाज में, व्यक्ति ही सब कुछ है और उसकी अपनी भावनाओं की सीमा के बाहर और कुछ भी नहीं। इसी से अपने में केन्द्रित शासक और दरबारी मनमाने खर्च में होड़ करने लगे। इस स्थिति में सब कुछ अनिश्चित-सा हो गया।

अतः शासक मनमाना लूटने-लुटाने और स्वयं लूट जाने में खप गये। इस मनोभावना का सहज आदर्श सौन्दर्य और प्रेम हो गया। नारी भौतिक सुख का साधन बन गई। वही अशान्ति और अनिश्चय

के बीच एकमात्र उत्साह स्पंदित करने की नियामक बनी। इस प्रकार आदर्श जब व्यक्ति की समस्या और उपभोग तक सीमित रह गया तो उसकी क्रियात्मक शक्ति के लिए व्यावहारिक जगत् में कोई स्थान न रह गया। कला का शुद्ध सौन्दर्यलोक उसका क्षेत्र बना, वह भाव लोक के स्वप्न, प्रेम की मादकता और संगीत की तन्मयता में लीन हो गया।

19वीं सदी के आरंभिक दौर की सबसे बड़ी समस्या नैतिकता के अभाव की थी। सामान्य जनता से संस्कृति का सम्पर्क टूट चुका था। देश की विविध जातियों और धार्मिक तत्वों को एक सूत्र में बांधनेवाले रचनात्मक तथा क्रियात्मक लक्ष्य का अभाव था और देश आर्थिक ह्रास तथा नैतिक अधःपतन के गर्त में गिर चुका था। भारत की अठारवीं सदी का नाश अनिवार्य था। इस नाश से आसान बनी परिस्थिति में उन्नीसवीं सदी के आरंभ में भारत का भाग्य-सूत्र एक ऐसी नई विदेशी जाति के हाथ में आया जिसमें इस परिस्थिति को संभालने की क्षमता थी; क्योंकि ये विदेशी व्यावहारिक थे और समय की आवश्यकता को समझते थे। साथ ही ये जनता को लुभावनेवाले भौतिक तथा आर्थिक समृद्धि का दृश्य सामने ला रहे थे। इस जाति के प्रभुत्व के साथ, उसकी संस्कृति का प्रभुत्व भी बढ़ रहा था। फलतः उन्नीसवीं सदी के इस सांस्कृतिक उथल-पुथल से एक नये गुलाम भारत का पुनः जन्म हुआ।

गुलाम भारत परिवर्तन और ह्रास के प्रतीक के रूप में शुरू होता है। सबसे बड़ा परिवर्तन तो यह हुआ कि व्यापार के लिए आयी विदेशी जाति यहां के राजाओं के अधिकार छीनती हुई, शासक बन बैठी। इस राजनीतिक परिवर्तन के कारण आर्थिक और सांस्कृतिक पतन का वेग और भी बढ़ गया। व्यापारी कम्पनियों ने शासन जमाना शुरू किया और देशी राज्यों के आपसी झगड़ों में हस्तक्षेप करने से उनका राजनीतिक प्रभाव भी बढ़ने लगा। इसके साथ ही, भारतीय व्यापार से उनकी प्रतिद्वन्द्विता भी बढ़ी जिसमें यहां के उद्योग-धंधों का नाश ही हो गया। इस प्रतिद्वन्द्विता में न ठहर सकने के कारण भारत कच्चा माल तैयार कर बाहर भेजने को बाध्य हुआ। इस प्रकार यूरोप की फैक्ट्रियों की आर्थिक दासता में भारत जा फँसा।

राजनीतिक स्वतंत्रता के अपहरण के फलस्वरूप हिन्दू और मुसलमान दोनों के बहुत से अधिकार छिन गये। मुगलों के शासन काल में हिन्दुओं को अत्यन्त सम्मानपूर्ण उच्च पद दिया जाता था। देश के शासन और सैनिक दोनों विभागों में हिन्दुओं का प्रवेश था। लेकिन, अंग्रेज जाति के शासन-रूप में प्रतिष्ठित होने पर यह अधिकार छिन गया। दूसरी बात यह थी कि मुगल शासक भारत में बसने आये थे जिससे यहां के कला-कौशल को प्रोत्साहन मिला, लेकिन ब्रितानी यहां पैसा कमाने आये थे और उनका ध्येय पुनः अपने देश को लौट जाना था।

अठारवीं शताब्दी के अन्त तक भारतीय समाज के उत्तरदायित्व का स्वरूप अधिकतर कुल, जाति और ग्राम-पंचायत तक सीमित था। गांव अपने में पूर्ण और आत्मनिर्भर थे। भारतीय समाज का आधार कृषि प्रधान था जिसपर शासन और शासकों के परिवर्तन का प्रभाव न पड़ता था। एक ओर युद्ध होता था और दूसरी ओर हल चला करता था। लेकिन, अंग्रेजों ने शासन का स्वरूप ही बदल दिया। राजनीतिक स्वतंत्रता के अपहरण के साथ-साथ आर्थिक दासता की बेड़ी भी इसके पांव में पड़ गई। उसकी नीति से भारत के मध्यम वर्ग का व्यापार छिन कर, अंग्रेज जाति की ऐजेंसियों के हाथ में चला गया और भारत के असली मध्यम वर्ग का उन्मूलन हो गया।

अंग्रेजों द्वारा प्रवर्तित व्यापारिक, आर्थिक और भूमि संबंधी नीतियों से बड़ी विषमता उत्पन्न हो गई। इस बदलाव के कारण इन क्षेत्रों में ऐसे व्यक्ति आये जो पहले से चले आ रहे वर्गों के

उत्तराधिकारी न थे। धीरे-धीरे ऐसे वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ जो परम्परा से प्राप्त सच्चे मध्य वर्ग से बहुत दूर था। इस वर्ग का जन्म ब्रिटिश जाति की कृपा से हुआ था। फलतः वह इस नवीन जाति की ओर जितना झुका था और उसकी कृपा-कोर का जितना अभिलाषी था उतना ही अधिक यह भारतीयता से अपरिचित था। सांस्कृतिक दृष्टि से अंग्रेजी शासन का महत्व इस खोखले मध्यवर्ग की उत्पत्ति में था जिसका कि देश के आर्थिक, सामाजिक जीवन के विकास में कुछ भी योग नहीं था जो देश की सामान्य जनता और जीवन की वास्तविकता से बहुत दूर, अपने घेरे में नौकरी पेशा बना बैठा था।

अठारहवीं शताब्दी तक भारत शास्त्रों से शासित था। व्यक्ति के लिए कर्मकांड का पालन आवश्यक था। समाज धर्ममूलक था। आदर्शवादिता, आध्यात्मिकता और पारलौकिकता भारतीयता मानी जाती थी। उन्नीसवीं सदी में भारतीय समाज का यह स्वरूप स्थिर न रह सका। मध्यवर्ग की निराशा और अभावों के कारण तथा शास्त्र-सम्मत सामाजिक मूल्यों के स्थान पर नये मूल्यों के अभाव से एक संकट का जन्म हुआ। यूरोपीय संस्कृति विज्ञान का सहारा लेकर बड़े वेग से आगे बढ़ रही थी और दस्तकारी तथा हस्तलाघव पर आश्रित भारतीय संस्कृति इसकी प्रतिद्वन्द्विता में नहीं ठहर रही थी। विज्ञान की उन्नति ने वास्तविक को अधिक तर्क और विवेचनशील बना दिया और मनुष्य अपने को सबसे ऊपर और अलग मानने लगा। व्यक्तिवाद की धारा धीरे-धीरे उन्नीसवीं सदी के राजनीतिक विधानों में प्रवृष्ट हुई। लेकिन भारतीय संस्कृति में व्यक्ति का अधिक महत्त्व न था। वह समाज का अंग था। उसकी अलग सत्ता का अधिक मूल्य न था। उसके लिए सबसे अधिक महत्त्व की वस्तु थी, कुल और अपनी जाति। इस प्रकार, एक ओर व्यक्ति प्रधान था और दूसरी ओर जाति। यूरोपीय अधिकारों पर बल देते थे; किन्तु, भारतीय अधिकार से अधिक कर्तव्य पर जोर देते थे।

संदर्भ सूची:

1. के. दामोदरन- भारतीय चिन्तन परम्परा, पृ. 361
2. वही, पृ. 3541
3. वही, पृ. 3551
4. भारत का भाग्य, सीरिल मोदक, पृ. 79
5. के. दामोदरन, भारतीय चिन्तन परम्परा 368

बाबा साहब भीमराव अम्बेडकर की दृष्टि में सामाजिक न्याय

सोनी भगत

शोध प्रज्ञ, ति०मां० भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

सामाजिक न्याय आधुनिक जटिल समाज के अन्तर्गत उत्पन्न समस्याओं के निराकरण करने हेतु योग्य साधन होने के साथ ही साथ समकालीन दार्शनिक चिन्तन के अन्तर्गत लोकप्रिय एवं महत्वपूर्ण अवधारणा है। सामाजिक न्याय अवश्य ही एक नवीन अवधारणा है किन्तु इसका सम्बन्ध न्याय के परम्परागत सिद्धान्त से है। स्वतन्त्र भारतीय राजनीतिक व्यवस्था सामाजिक न्याय की अवधारणा से जुड़े मूल्य के अनुरूप स्थापित की गयी है। इस कार्य में डॉ० भीमराव अम्बेडकर की महत्वपूर्ण व सराहनीय भूमिका रही है।

पाश्चात्य और पूर्वात्य दोनों ही राजनीतिक चिन्तन के अन्तर्गत न्याय को अनिवार्य और सर्वश्रेष्ठ मूल्य के रूप में स्वीकार किया जाता है। किसी भी दार्शनिक या अवधारणात्मक चिन्तन का औचित्य इस पर आधारित होता है कि वह मानवीय समस्याओं के समाधान में किस मात्रा तक सफल है तथा इनकी प्रासंगिकता या उपयोगिता भी इसी आधार पर सुनिश्चित होती है।¹ प्रत्येक व्यक्ति को उसका उचित प्राप्य प्राप्त हो न्याय की यह परम्परागत व्याख्या सर्वमान्य रूप से स्वीकार की जाती है। अपने परम्परागत अर्थों में न्याय नैतिकता, कानून, धर्म, कर्तव्यपरायणता आदि मूल्यों से सम्बन्धित रहा है। यहाँ व्यक्ति के व्यक्तिक पक्ष को कोई विशेष महत्व प्राप्त नहीं था। उसे स्वयं के हितों को राज्य के विकास हेतु त्यागना पड़ता था और राज्य के साथ सम्बद्ध कर दिया जाता था। ऐसे में राज्य से पृथक होकर व्यक्ति के स्वतन्त्र अस्तित्व की कल्पना करना सम्भव नहीं था किन्तु वैज्ञानिकता के विकास और धार्मिक एवं बौद्धिक पुनर्जागरण व सुधार के परिणामस्वरूप न्याय का परम्परागत स्वरूप परिवर्तित हो गया और न्याय नये आधारों पर परिभाषित किया जाने लगा।

लोकतांत्रिक राज्य व्यवस्था में सामाजिक न्याय से सम्बद्ध दावों को मुख्यतः व्यक्तियों की सुरक्षा, जीवन जीने के लिए आधाभूत आवश्यकताओं की पूर्ति, एक व्यक्ति को समाज के अन्य व्यक्तियों से प्रतियोगिता करने हेतु अवसर की समानता, आधुनिक राज्य के अन्तर्गत आर्थिक क्रियाओं द्वारा उत्पन्न लाभों के उचित भाग की उपलब्धता, राजनीतिक स्वतंत्रता और स्वतन्त्र परिवेश तथा विधि द्वारा शासन संचालन के रूप में परिलक्षित किया जा सकता है। भारतीय दर्शन के अन्तर्गत सामाजिक न्याय—भारत में सामाजिक न्याय का सन्दर्भ नवीन है परन्तु भारतीय दार्शनिक परम्परा में इसकी मांग अपेक्षाकृत प्राचीन है। वेदों और स्मृतियों में सामाजिक न्याय को वसुधैव कुटुम्बकम् के दर्शन के सन्दर्भ में परिभाषित किया गया है।

भारतीय सामाजिक व्यवस्था प्रारम्भ से ही एकता और विभिन्नता दोनों का सम्मिलित स्वरूप रहा है और इसे दार्शनिक परम्पराओं में भी स्वीकार किया गया है। परम्परागत भारतीय समाज धर्म पर आधारित वर्गीकृत और असमानताओं से व्यवस्थित थी। इन समाजों में जो असमानताएँ विद्यमान थी वे सामान्यतः वर्ण-व्यवस्था और महिलाओं के सम्बन्ध में नियोग्यताओं के रूप में दृष्टिगत थीं। चूँकि

भारतीय परम्परा के अन्तर्गत धर्म और न्याय को एक दूसरे के साथ परस्पर सम्बन्धित माना जाता था। इसलिए इन विभेदों और नियोग्यताओं को विधिक व्यवस्था के रूप में शास्त्रों पर आधारित या रीति-रिवाजों द्वारा व्यवस्थित एवं समर्पित किया जाता था। ऋग्वेद के अन्तर्गत वर्ण-व्यवस्था को परमब्रह्म के शारीरिक विभाजन के परिणामस्वरूप उत्पन्न क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चतुर्वर्णों द्वारा निर्मित संस्था का उल्लेख किया गया है। प्रारम्भिक अवस्था में वर्ण-व्यवस्था की स्थिति अच्छी रही तथा प्रत्येक वर्ण के लिए अधिक या कम निर्धारित स्थान, विशेषाधिकार और कर्तव्यों का निर्धारण करके न्यायपूर्ण व्यवस्था की स्थापना की जाती थी। उस समय धर्म के आधार पर निर्धारित कार्यों को करना ही न्याय था तथा राजा से लेकर सामान्य व्यक्ति तक सभी इसके अनुरूप कार्य करने के लिए बाध्य थे।² इस परंपरागत धर्म व्यवस्था का मनु, गौतम, नारद आदि ने अपने दर्शन के माध्यम से उल्लेख किया है। इस न्याय व्यवस्था का विकास किसी लाभ या हानि के उद्देश्य को ध्यान में रखकर नहीं किया गया अपितु तात्कालिक समय की परिस्थितियों और मानव कल्याण के उद्देश्य ने इसके विकास को सम्भव किया।³ धर्म आधारित परंपरागत न्याय की अवधारणा को बाद के हिन्दू वंशावलियों द्वारा परिवर्तित कर दिया गया। जिसके कारण न्याय व्यवस्था ने अपने मूल स्वरूप को खो दिया। धीरे-धीरे वर्णव्यवस्था में आये कठोरता ने इसे जन्म आधारित जाति व्यवस्था में परिवर्तित कर दिया और इस व्यवस्था ने सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, मानवीय जीवन से जुड़े प्रत्येक क्षेत्र ने व्यक्तियों के मध्य विभेद और असमानता को बढ़ाने का कार्य किया।

मुस्लिम शासन के समय में भारतीय राजनीतिक व्यवस्था का संचालन इस्लाम के पवित्र ग्रन्थ कुरान, सुन्ना और इज्मा के द्वारा किया जाता था, इतः इस समय भी सम्पूर्ण व्यवस्था धर्म के इन चार स्तम्भों पर आधारित की गयी थी।⁴ सम्पूर्ण न्यायिक निर्णय शरियत कानून के माध्यम से नैतिक सिद्धान्तों पर आधारित होते थे। मुस्लिम शासन प्रणाली के अन्तर्गत गैर मुस्लिम व्यक्तियों की स्थिति मुस्लिम समुदाय की अपेक्षा दयनीय थी।⁵ इस काल में शासन का मुख्य उद्देश्य स्वहित की सुरक्षा तथा हिन्दू जनसंख्या पर राजनीतिक वर्चस्व स्थापित करता रहा।

ऐसे में मुस्लिम शासन ने उस भेदभावपूर्ण व्यवस्था को जो जाति, रंग, धर्म, वंश, भाषा व लिंग पर आधारित थी उसे और अधिक दृढ़ किया। इस सम्पूर्ण शासन काल में मुस्लिम शासन ने न्याय के आधारभूत सिद्धान्तों मानवीय प्रतिष्ठा, समानता और बन्धुत्व के स्थान पर विभेद व अन्याय को बढ़ाया तथा जिससे सामाजिक न्याय अपनी पूर्णता के लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सके।

औपनिवेशिक शासन काल में भारतीय सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था के अन्तर्गत न्याय से सम्बन्धित कोई महत्वपूर्ण सुधार दृष्टिगत नहीं हुआ। अंग्रेजों के द्वारा मुगलकालीन शासन व्यवस्था से चले आ रहे असमानताओं को न सिर्फ यथावत बनाये रखा गया बल्कि इन्हें और अधिक जटिल बनाने का प्रयत्न किया गया। उन्होंने भारतीय समाज को सामाजिक आधारों के साथ-साथ आर्थिक आधारों पर भी विभाजित कर दिया था। औपनिवेशिक शासन का मुख्य उद्देश्य अपने राजनीतिक व आर्थिक हितों को पूर्ण करते हुए भारत में साम्राज्यवाद का विस्तार करना था, अतः इस समय सामाजिक न्याय के संदर्भ से जुड़े स्वतन्त्रता, समानता और मानवीय गरिमा जैसे मूल्यों को स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया गया।⁶ यहाँ यह स्पष्ट होता है कि औपनिवेशिक शासन काल में सामाजिक न्याय को स्थापित करने हेतु कोई ठोस राजनैतिक प्रयत्न नहीं किया गया।

लेकिन यह भी उतना ही सत्य है कि अनेक भारतीयों ने इस समस्या के वास्तविक समाधान के आधार को ढूँढ़ने का प्रयास किया। औपनिवेशिक भारत में सामाजिक न्याय की सबसे प्रबल मांग

अम्बेडकर के विचारों में दिखाई पड़ती है, अतः सामाजिक न्याय से जुड़े भारतीय संदर्भ को समझने के लिए अम्बेडकर के चिन्तन व प्रयासों का अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

भीमराव अम्बेडकर और सामाजिक न्याय

प्रजातांत्रिक मूल्य के रूप में सामाजिक न्याय राजनीतिक समानता-स्वतंत्रता व एक व्यक्ति एक मूल्य के सिद्धान्त को स्वीकारता है। डॉ० अम्बेडकर के अनुसार न्याय सामान्यतः स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृ-भाव का ही दूसरा नाम है।⁷ उनके सामाजिक न्याय की धारणा का भी यही आधारभूत विचार है। संविधान का मुख्य निमार्ता होने के नाते न्याय, स्वतंत्रता, समानता भ्रातृभाव और व्यक्ति की गरिमा को मूल्यों पर निर्धारित किया।

अम्बेडकर की सामाजिक न्याय की धारणा एक ऐसी जीवन पद्धति है जिसके अनुसार समाज के प्रत्येक व्यक्ति को उचित स्थान मिलना चाहिए जो पारस्परिक मान-सम्मान, मैत्रीभाव, समान नागरिक होने की उत्कण्ठा राष्ट्रीय जीवन के सभी क्षेत्रों में न्यायोचित भागीदारी आदि पर आधारित हो।

अम्बेडकर ने अपनी सामाजिक न्याय की धारणा के अनुरूप, उन सामाजिक न्याय के सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं किया, जिन्हें उन्होंने वर्णव्यवस्था, प्लेटो की योजना, अरस्तू के चिन्तन, नीत्शे के विचार, दैविक कानून, मध्यकालीन दृष्टिकोण, मार्क्सवादी सर्वहारा समाजवाद और गांधी के सर्वोदय समाज में अंतर्निहित पाया। उन्होंने सामाजिक न्याय के वर्णाश्रमवादी दृष्टिकोण को अस्वीकार किया, क्योंकि उसने प्रत्येक वर्ण के लोगों के लिए कर्तव्य निर्धारित करते समय, सामाजिक असमानता को एक अधिकृत सिद्धान्त मान लिया। प्लेटो के योजना में भी न्याय को एक ही वर्ग के दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया है। समस्त-राज-सत्ता बौद्धिक वर्ग (दार्शनिक राजा) को सौंपने का प्रस्ताव रखा गया, क्योंकि इसी वर्ग के लोग सक्षम, योग्य और स्वभावतः विवेकशील एवं न्याय प्रिय समझे गये। अरस्तू ने वर्णव्यवस्था की भाँति सभी नागरिकों को एक ही वर्ग की सेवा में अर्पित कर दिया। नीत्शे ने समस्त न्याय को अतिमानव की कृपा व इच्छा का विषय मान लिया, जो कुछ अतिमानव कहता है वही शुभ, उचित और न्याय है। अम्बेडकर ने कहा कि वह शक्ति की इच्छा, हिंसा, आध्यात्मिक मूल्यों का निषेध अतिमानव तथा बलिदान सामान्य आदमी की दासता और पतन के साथ जुड़ गया है।⁸

संदर्भ सूची:

1. Paul Wiethman, Jhon Rawls : A Remembrance, the Review of Politics, Vol. 65, No. 1 (Winter 2003), p. 6
2. Dunchan, M. Derret : Religion, Law and State in India (1968), pp. 97-98
3. Kamal Jeet Singh : Distributive Justice in India, Chapter-2, p. 46
4. M.B. Ahmed : Administration of Justice in Medieval India (1941), p. 70
5. Paras Diwan : Muslim Law in Modern India (1982), p. 17
6. Prabha Chawla : Equality and Justice in East and West, (1989), pp. 87-88.
7. बाबा साहब अम्बेडकर : रायटिंग एण्ड स्पीचेज, खण्ड 3 (1987), पृष्ठ 25
8. डी०आर० जाटव : सामाजिक न्याय का सिद्धान्त (1993), पृष्ठ 72-79

ब्रिटिश भारत में दलित आन्दोलन

ब्यूटी भगत

शोध छात्रा, ति०मा० भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

19वीं तथा 20वीं शताब्दियों में कुछ ऐसी घटनाएँ हुईं जिनसे निम्न जातियों में जातीय चेतना जगी और उन्होंने जातीय समानता प्राप्त करने का भार अपने ऊपर ले लिया। उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप दक्षिणी तथा पश्चिमी भारत में भिन्न-भिन्न जातीय आन्दोलन आरम्भ हुए। अंग्रेजों की 'बांटो और राज करो' की नीति के फलस्वरूप, पश्चिमी शिक्षा प्रणाली के प्रसार के कारण, एक समान दण्ड संहिता (1861) तथा दण्ड प्रक्रिया संहिता (1872) के लागू होने से, रेलों के विस्तार से (जिनमें प्रत्येक व्यक्ति टिकट खरीद कर किसी भी उपलब्ध स्थान पर बैठ सकता था), राष्ट्रीय जागरण के विकसित होने से, समानता तथा सामाजिक समतावाद पर आधारित आधुनिक राजनैतिक विचारों के प्रसार, सभी ने एक ऐसा सामाजिक तथा राजनैतिक वातावरण बना दिया, जिसमें जाति-पाँति प्रथा को न्यायसंगत कहना असम्भव हो गया। इसीलिए निम्न जातियों में ऐसे नेता उभरे, जिन्होंने स्वयं इन समानता के आन्दोलनों का नेतृत्व किया। दक्षिणी भारत में निम्न जातीय आन्दोलन मद्रास प्रान्त में स्पष्ट: ब्राह्मणीय प्रभुत्व के विरुद्ध विद्रोह था। 1916 में निम्न जातियों के एक प्रवक्ता ने इस तथ्य की ओर संकेत किया कि अखिल भारतीय कांग्रेस समिति में भेजे मद्रास प्रान्त के 15 सदस्यों में से केवल एक ही व्यक्ति ऐसा था, जो ब्राह्मण नहीं था। यह प्रचार भी निम्न जातियों के कुछ नेताओं ने किया कि भारत के मूल निवासी द्रविड़ थे और आर्य लोग बाहर से आये और अपने साथ वर्ण-व्यवस्था जैसी बुरी प्रथा लाए।

न्याय दल (जस्टिस पार्टी)—1917 में श्री पी. त्यागराय तथा डॉक्टर टी.एम. नैयर ने प्रथम इत्तर-ब्राह्मण संस्था गठित की, जिसका नाम था *दक्षिण भारतीय उदारवादी संघ*, जिसे कालान्तर में प्रायः 'न्याय दल' कहने लगे। *रामास्वामी नैकर* (1879-1973) 1937 में इस न्याय दल के सभापति चुने गए। नैकर सामाजिक समानता के लिए एक धर्मयोद्धा थे, उन्होंने अस्पृश्यता जैसे अन्याय के विरुद्ध अभियान चलाया। नैकर ने हिन्दू धर्म की भर्त्सना की और कहा कि यह ब्राह्मणों के नियन्त्रण का एक साधन है और मनु के विधान को 'अमानुषी' और पुराणों को 'परियों की कथाएँ' की संज्ञा दी। नैकर ने हिन्दू देवी-देवताओं की खिल्ली उड़ाई और यह कहा कि कुछ ऐसे तत्व होते हैं, जिनका सुधार नहीं हो सकता, उनका केवल अन्त ही करना होता है ब्राह्मणीय हिन्दू धर्म एक ऐसा ही तत्व है।" धर्म को नैकर ने बेकार माना और हिन्दी भाषा को द्रविड़ों पर थोपने का विरोध किया। क्रोधी स्वभाव का तो वह था ही, नैकर ने होटलों के नाम पट्टों पर जातिवाचक शब्दों को तारकोल से मिटाने का प्रयत्न किया, ब्राह्मणों के यज्ञोपवीत को तोड़ा, तथा देवी-देवताओं की मूर्तियों को चप्पलों से पीटा। इस तरह नैकर का कार्य काफी प्रतिक्रियावादी था।

द्रविड़ मुनेत्र कड़गम (डी. एम. के.)—नैकर के अनुयायी तथा मित्र श्री. सी. एन अन्नादुरै (1909-1969) ने द्रविड़ आन्दोलन को आगे बढ़ाया। अन्ना (बड़ा भाई) काँचीपुरम की एक *तंतवाय* जाति से थे। न्याय दल का नाम बदलकर 'द्रविड़ कड़गम' (द्रविड़ संघ) 1944 में कर दिया गया। सितम्बर 1949 में दल में विभाजन हो गया और अन्ना ने अपने दल का नाम 'द्रविड़ मुनेत्र कड़गम' (द्रविड़ प्रगतिवादी संघ) रख लिया। अन्ना 1962 में राज्य सभा के लिए चुन लिए गए।

1967 के आम चुनावों में इस दल ने तमिलनाडु में प्रथम द्रमुक सरकार बनाई, जिसमें अन्नादुरै मुख्यमंत्री बने। भारतीय एकता के अन्ना विरुद्ध नहीं थे, परन्तु वह राज्यों के लिए अधिक स्वायत्तता माँगते थे।

एस.एन.डी.पी.—दक्षिण के एक अन्य नेता केरल में थे, जो *एज़वा* (एक अस्पृश्य) जाति से थे। श्री नारायण गुरु (1854-1928) ने केरल तथा केरल के बाहर कई स्थानों पर एस.एन.डी.पी. (श्री नारायण धर्म परिपालन योगम) नाम की एक संस्था तथा उसकी शाखाएँ स्थापित कीं। एज़वा वर्ग के उत्थान के लिए श्री नारायण तथा उनके सहयोगियों ने दो बिन्दु का कार्यक्रम बनाया। पहला था कि अपने से नीची जातियों के प्रति अस्पृश्यता की प्रथा को समाप्त करना। नारायण गुरु ने इसके अतिरिक्त कई मन्दिर बनवाए, जो सभी वर्गों के लिए खुले थे। इसी प्रकार उन्होंने विवाह संस्कार, धार्मिक पूजा तथा अन्त्येष्टि आदि के कर्मकाण्डों को सरल बना दिया। गाँधीजी के चतुर्वर्णीय व्यवस्था में विश्वास रखने के लिए उन्होंने उनकी आलोचना की क्योंकि यह चतुर्वर्णीय व्यवस्था ही जाति-पाँति तथा अस्पृश्यता को जन्म देने तथा बनाए रखने के लिए उत्तरदायी है। नारायण गुरु के अनुसार जातीय भेद केवल तलीय है और उन्होंने इस बात पर बल दिया कि विशेष प्रकार के वृक्ष के पत्तों का रस, सार रूप से एक ही होगा। उन्होंने एक नया नारा दिया “मानव के लिए एक धर्म, एक जाति तथा एक ईश्वर।” नैकर और अन्नादुरै के विपरीत नारायण गुरु की प्रतिक्रिया बहुत नकारात्मक नहीं थी।

सत्य शोधक समाज—पश्चिम भारत में ज्योतिराव गोविन्दराव फूले (1827-90) ने निम्न जातियों के लिए संघर्ष किया। ज्योतिराव ने पुणे में माली जाति में जन्म लिया। उसके पूर्वज पेशवाओं को पुष्प, मालाएँ इत्यादि उपलब्ध कराया करते थे इसलिए उन्हें फूले कहा जाने लगा था। ज्योतिबा का समस्त दृष्टिकोण ब्राह्मणों के डर की कुछ घटनाओं ने बदल दिया। एक ब्राह्मण ने उन्हें इसलिए फटकारा तथा उनका इसलिए अपमान किया क्योंकि उन्होंने अपने एक ब्राह्मण मित्र की बारात में सम्मिलित होने की धृष्टता की थी। ज्योतिबा का ब्राह्मणों ने इसलिए भी विरोध किया क्योंकि वह स्त्रियों तथा निम्न जातियों के लिए एक पाठशाला चला रहे थे। ज्योतिबा को ब्राह्मणों के दबाव के कारण पाठशाला बन्द करनी पड़ी। ऊँची जाति के दबाव के कारण उनके पिता *गोविन्द राव* ने ज्योतिबा तथा उनकी पत्नी को वंशानुगत गृह से बाहर निकाल दिया। ज्योतिबा अब यह समझने लगे कि लोग ब्राह्मण धर्म की आड़ लेकर अन्य वर्गों पर अत्याचार करते हैं तथा उन्हें अपना दास बना लेते हैं। दूसरे निम्न जातीय नेताओं के साथ ज्योतिबा ने भी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेताओं की कमजोर वर्गों के लोगों के हितों की अनदेखी करने के लिए आलोचना की। उनका कथन था कि कांग्रेस उस समय तक वास्तविक रूप में राष्ट्रीय कहलाने की अधिकारी नहीं है, जब तक वह निम्न तथा पिछड़ी हुयी जातियों के हितों की ओर ध्यान नहीं देती। ज्योतिबा ने 1873 में ‘सत्य शोधक सभा’ (सत्य को खोजने वाली समाज) बनाई, जिसका उद्देश्य था कि समाज के कमजोर वर्ग को सामाजिक न्याय दिला सके। उन्होंने सभी वर्गों के अनाथों तथा स्त्रियों के लिए अनेक पाठशालाएँ तथा अनाथालय खोले। उन्हें 1876 में पुणे नगर पालिका का सदस्य चुन लिया गया। ज्योतिबा के प्रकाशनों में धर्म तृतीय रत्न (पुराणों का भंडाफोड़), *इशारा* (एक चेतावनी), *शिवाजी की जवानी* इत्यादि सम्मिलित हैं। 1888 में लोग उन्हें महात्मा कहने लगे थे। आज भी महाराष्ट्र में इन्हें काफी आदर प्राप्त है। समस्त भारत में एक सामाजिक सुधारक के रूप में इन्हें काफी आदर प्राप्त है।

अम्बेडकर—अपनी मृत्यु के पचास वर्ष बाद भी अम्बेडकर भारतीय राजनीति के केन्द्र- बिन्दु बने हुए हैं। निम्न जातियों में अम्बेडकर भगवान तुल्य हैं। निम्न जातियों के उत्थान के लिए भीमराव अम्बेडकर एक अन्य धर्मयोद्धा थे। भीमराव का जन्म 14 अप्रैल, 1891 को एक *महार कुल* (एक अस्पृश्य हिन्दू कुल) में महु में हुआ था। 1905 में उनका विवाह अपनी जाति की एक कन्या रमाबाई से हो गया था। 1935 को उसकी मृत्यु हो गयी। भीमराव ने 1948 में दूसरा विवाह डॉक्टर शारदा कबीर से किया, जो बम्बई के एक *सारस्वत ब्राह्मण* कुल से थीं। बम्बई के एल्फिंसटन कॉलेज से अम्बेडकर ने स्नातक परीक्षा पास की और फिर उन्होंने अपनी एम.ए. तथा पी.एच.डी. परीक्षाएँ कोलम्बिया (अमरीका) विश्वविद्यालय से पास कीं। 1923 में वह बैरिस्टर बन गए। उन्होंने जुलाई 1924 में बम्बई में एक संस्था '*बहिष्कृत हितकारिणी सभा*' बनाई, जिसका उद्देश्य अस्पृश्य लोगों की नैतिक तथा भौतिक उन्नति करना था। अम्बेडकर ने आन्दोलन की नीति अपनाई और अछूतों के लिए मन्दिरों में प्रवेश तथा जन-साधारण के कुओं से पानी भरने के नागरिक अधिकारों को प्राप्त करने का प्रयत्न किया। अम्बेडकर ने 1930 में राष्ट्रीय राजनीति में प्रवेश किया। उन्होंने अछूतों के लिए अलग मताधिकार माँगा। उनको लन्दन में हुयी तीनों गोल मेज सभाओं (1930-32) में अछूतों के प्रतिनिधि के रूप में बुलाया गया। जब ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने 17 अगस्त, 1932 को साम्प्रदायिक निर्णय दिया, तो उसमें दलित वर्गों के लिए अलग निर्वाचन मण्डलों का प्रावधान किया गया। इससे गाँधी जी बहुत दुःखी हुए और उन्होंने इसे हटाने के लिए आमरण उपवास आरम्भ कर दिया। अन्त में एक समझौता, जिसे प्रायः "पूना समझौता" कहते हैं, किया गया (24 सितम्बर, 1932), जिसमें दलित वर्गों के लिए साधारण वर्ग में ही सीटों का आरक्षण किया गया। अम्बेडकर ने हताश होकर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्वतंत्रता की माँग का विरोध किया और कहा कि 'भारत में अंग्रेजी साम्राज्य बना रहे ताकि दलित वर्ग के हितों की रक्षा हो सके।' उन्होंने अप्रैल 1942 में अनुसूचित जातीय संघ का एक अखिल भारतीय दल के रूप में गठन किया। इसके बाद उन्होंने यह घोषणा की कि अनुसूचित जातियाँ हिन्दू धर्म को पूर्ण रूप से त्याग देगी और वह स्वयं अपने बहुत-से अनुयायियों के साथ *बौद्ध* बन गए। जिस संविधान सभा का स्वाधीन भारत के लिए गठन हुआ, उसकी 'प्रारूप समिति' (ड्राफ्टिंग कमेटी) के वे अध्यक्ष बनाए गए। अपने इस दायित्व का उन्होंने पूरी निष्ठा और योग्यता से परिपालन किया। उन्होंने संविधान सभा में समय-समय पर अपने जो वक्तव्य और आलोचकों को जो प्रत्युत्तर दिये, उससे उनकी योग्यता और देश-भक्ति का सहज अनुमान लगाया जा सकता है। अपने इस योगदान के लिए डॉ. अम्बेडकर का नाम स्मरणीय रहेगा। आज अम्बेडकर के नाम का भारत की राजनीति में इतना डंका बजता है कि कोई भी राजनीतिक दल उनके दर्शन के विरोध का साहस नहीं कर सकता।

संदर्भ सूची:

- Untouchable Castes in India : The Raigar Movement (1940-2004)/Shyاملal
- Social Reform Movement and Jyotiba Phule/K.L Chanchreek
- Nationalist Movement in India : A Reader/edited by Sekhar

1857 की क्रान्ति की ऐतिहासिक दृष्टि

रमेश कुमार गुप्ता

शोध छात्र, ति०मा० भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

यद्यपि जिस विद्रोह को मात्र सिपाही विद्रोह या सैन्यद्रोह या फिर धार्मिक आस्थाओं के ब्रिटिश अतिक्रमण का प्रतिवाद मानकर खारिज किया जाता था अब, 1857 का वह महान विद्रोह भारतीय स्वतंत्रता का पहला संग्राम माना जाने लगा है। 19वीं सदी के दौरान औपनिवेशिक शासन के लिए वह संग्राम सबसे बड़ी सशस्त्र चुनौती था। उसने जनता के हर वर्ग के हिंदू और मुसलमान दोनों को आकर्षित किया। सामाजिक और आर्थिक मूलभूत सुधारों की मांग को उत्प्रेरित किया। संग्राम ने नए समाज के निर्माण का आवाहन किया जिसमें जनता की मांगों का अधिक प्रजातंत्री प्रतिनिधित्व हो सके।

शुरूआती मिसालें

वह कोई आकाश से गिरी गाज नहीं थी। यह तथ्य अच्छी तरह से जाना ही नहीं गया कि 1763 और 1856 का काल ऐसा नहीं था कि भारतवासियों ने विदेशी शासन को बिना किसी प्रतिरोध के स्वीकार लिया हो। आदिवासियों, किसानों और राजाओं द्वारा ब्रिटिश विरोध बारबार हुए। कुछ विरोध लम्बे समय तक बने रहे, कुछ छुटपुट ही रहे और कुछ अवरोधों के क्रांतिकारी कार्य थे। सबसे औपनिवेशिक शासन को चुनौतियां दीं। वन एवं कृषि संपदा के अनियंत्रित-दोहन से उत्पन्न विकराल दरिद्रता और जनता की पददलित स्थिति, दोनों को उस काल ने देखा था। ब्रिटिश करों का बोझ कमर तोड़ था। भारतीय किसानों और दस्तकारों से उनकी पैदावार का हिस्सा, उनसे अतिरिक्त धन वसूली तथा बेगार करवाने में ब्रिटिश अधिकारी बल प्रयोग करते थे। इनके खिलाफ शिकायतों को न्यायालय स्वीकार नहीं करते थे। 1856 में ब्रिटिश हाउस ऑफ कमीशंस के सामने टार्चर कमीशन, मद्रास ने पहली रिपोर्ट में यह स्वीकार किया था कि ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकारी यातना देने का परित्याग नहीं करते और न ही वे इसे रोकने का कोई उपाय करते थे। 1855 सितम्बर में, कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स ऑफ ईस्ट इंडिया कंपनी को दिये गए लार्ड डलहौजी के पत्र से पुष्टि होती है कि यातना का वह तरीका केवल मद्रास प्रिंसीडेंसी तक ही सीमित नहीं था वरन् उसका प्रयोग प्रत्येक ब्रिटिश शासित प्रदेश में किया जाता था।

दुखांत प्रतिरोध के सिवाय निराश जनता के पास कोई उपाय नहीं था। लगभग हर वर्ष सशस्त्र विद्रोह होते थे और ब्रिटिश द्वारा निर्ममतापूर्वक कुचल दिये जाते थे। ब्रिटिश जैसी अग्नेय शक्ति के अभाव में विद्रोहियों को गोली से उड़ा दिया जाता था और संवाद साधनों के अभाव में विद्रोह अन्य विद्रोहों से सहकार्य नहीं कर पाते थे। प्रतिकूल समय के कारण करारी हारें होती थीं। तब भी, इनमें से कुछ संघर्ष अनेक वर्षों तक चले। अधिक जानकारी के लिए क्लिक करें।

पहले के विद्रोहों में से एक शिमोगा के डोंडिया वॉग के द्वारा किया गया था। 1799 में, उसने टीपू सुलतान की हार के बाद शिमोगा, चित्रादुर्ग और बेल्लारी जिले को थोड़े समय के लिए स्वतंत्र कर लिया था। 1824 में कर्नाटक की रानी चिन्ममा ने कित्तूर क्षेत्र में एक विद्रोह का नेतृत्व किया। पांच वर्ष बाद, सिंगोली रायना का गौरिल्ला युद्ध हुआ। 1833 तक कर्नाटक में अनेक विद्रोह होते

रहे। 1831 का कोल विद्रोह, 1855 का संधाल विद्रोह और 1816 से 1832 तक चला कुच विद्रोह भी महत्वपूर्ण रहे। ब्रिटिश शक्ति के सामने धराशायी होने के पूर्व उड़ीसा एवं पश्चिमी बंगाल के कुछ राजाओं ने अनेक दशाब्दियों तक उनका कठोर प्रतिरोध किया था।

सैन्य विद्रोह के पूर्व वेलूर, उत्तरी तामिलनाडू, के भारतीय सैनिकों ने 1806 में विद्रोह किया। यद्यपि वह असफल रहा परंतु उसके फलस्वरूप ब्रिटिश अधिपतियों के विरुद्ध सैनिकों की समस्याओं के लिए राजनैतिक समितियां बनाई गई थीं।

खौलतीं तकलीफें

उदाहरण के लिए बंगाल की सेना में 1,40,000 भारतीय लोग "सिपाही" नियुक्त हुए थे जो लगभग 26,000 ब्रिटिश अधिकारियों के आधीन थे। इन सिपाहियों ने 1838-42 के पहले, ब्रिटिश-अफगान युद्ध की अग्नि को सहा और दो पंजाब के युद्धों 1845-46 एवं 1848-49 और दूसरे एंग्लो-बर्मी युद्धों को निकटता से लड़ा था। उन्हें अफीम युद्ध में चीन के विरुद्ध 1840-42 और 1856-60 तथा रूस के विरुद्ध क्रीमियन युद्ध 1854 में लड़ने के लिए समुद्र पार भेजा गया था। मृत्यु का लगातार सामना करने पर भी भारतीय सिपाहियों को अपनी पदोन्नति के बहुत ही कम अवसर मिलते थे। सभी प्रमुख पदों पर यूरोपियनों का एकाधिकार था।

बंगाल सेना के बहुत से सिपाही, उत्तर प्रदेश के हिंदी भाषी क्षेत्रों से थे जहां अवध को छोड़कर ब्रिटिश ने "महलवारी" करों को लगाया था जो राजस्व की लगातार बढ़ती हुई मांग से निहित था। 19वीं शताब्दी के पहले भाग में, ब्रिटिश को दिया जाने वाला कर-राजस्व 70 प्रतिशत तक बढ़ाया गया। इससे कृषि पर कर्ज का भारी बोझ बढ़ा और बहुत तेजी से जमीन महाजनों और व्यापारियों के यहां रेहन रखी जाने लगी। इसी अमानवीय टेक्स प्रथा को अवध तक फैलाया गया जहां की संपूर्ण कुलीनता को सरसरी तौर पर अपदस्थ किया जा चुका था। परिणामस्वरूप, ब्रिटिश के विरुद्ध असंतुष्टि केवल कृषि समुदायों तक ही सीमित नहीं रही। कुलीन एवं मध्यमवर्ग के दिवालियापन से अनेक वस्तुओं की मांग लुप्तप्राय हो गई। उसी समय, स्थानीय उद्यमों को ब्रिटिश आयातित वस्तुओं की भ्रष्ट प्रतिस्पर्धा का भी सामना करना पड़ा। इन परिणामों को विद्रोही राजा फीरोजशाह ने अपनी 1857 की घोषणा में पेश किया: "यूरोपियनों ने भारत में अंग्रेजी वस्तुओं को लाकर बुनकरों, सूती वस्त्र कर्मियों, बढ़ईयों, लुहारों और जूता बनाने वालों को बेकार बना दिया और उनके पेशों को हड़प लिया। हर प्रकार का हस्तकार भिखारी बन गया।" इन घटनाओं की तुलना भारत में मुगलों के आगमन से कर लेते हैं। बाबर ने भारतीय जलवायु और रीतिरिवाजों की नापसंदगी के बावजूद, भारत के हस्तकारों की कुशलता एवं विभिन्नता को परखा और बढ़ते हुए भारतीय उत्पादन में अपार संभावनायें देखीं। ब्रिटिश के बिलकुल विपरीत, मुगलों ने भारतीय शिल्पियों की शक्तियों का गठन किया जो पहले की सल्तनतों के समय में अच्छी तरह से स्थापित थे और उनको बाद के समय में चमत्कारी उंचाईयों तक उठाया। 19 वीं शताब्दी के मध्य तक, वास्तव में, ब्रिटिश नीतियों ने औद्योगीकरण पूर्व के गुणों को पूरी तरह से दमघोंटकर मार डाला। उस काल के एक ब्रिटिश इतिहासकार थामस लो ने परखा कि कैसे "पश्चिमी दुनिया पर अपने नाम और आश्चर्य को फैलाने वाले भारतीय कलाकार और उत्पादक, आज के समय में, लगभग लुप्त हो गए हैं। एक समय के प्रसिद्ध और जाने माने शहर, विनाश के ढेर हैं ...।"

इन सबने 1857 के विद्रोह के लिए भूमि तैयार की थी। यद्यपि भारत के उत्तर में क्रेंदित 1857 का विद्रोह पूर्व में ढाका और चिटगांव से पश्चिम में दिल्ली तक फैला। बंगाल के मुख्य शहर, उड़ीसा

में कटक सहित बिहार, संभलपुर, पटना और रांची ने भागीदारी की। मध्य भारत में विद्रोह इंदौर, जबलपुर, झांसी और ग्वालियर तक फैला। राजस्थान के नसीराबाद, महाराष्ट्र में औरंगाबाद एवं कोलहापुर और अफगान सीमा पर पेशावर में उपद्रव भड़के थे। उत्तर प्रदेश के समतल मैदान में ही युद्ध-भूमि थी। परंतु ब्रिटिश आक्रमणकारियों को हर बड़े शहर से कठोर अवरोध मिलता रहा।

यह संग्राम सिपाही विद्रोह से शुरू होकर जल्दी ही अवध और उत्तर पश्चिमी प्रदेशों में जनविद्रोहों से संयुक्त हुआ। ब्रिटिश शासन का विरोध जेलों और सरकारी इमारतों पर धावों से प्रकट हुआ। सरकारी “खजानों” पर धावा बोला, बैरिकों और न्यायालय भवनों पर प्रहार किया और जेल के दरवाजों को तोड़ डाला गया। जनविद्रोह समाज के हर वर्ग के लोगों की सहभागिता का बड़ा आधार था जैसे सीमावर्ती धनवान, कृषक, कारीगर, धार्मिक गुरु एवं भिक्षुकगण, सरकारी सेवक, दुकानदार और नाविक लोग। 1857 में मई 10 को मेरठ में शुरू हुए विद्रोह के बाद कई, महिनों तक भारत के उत्तरी मैदान में ब्रिटिश शासन खत्म हो गया था। कई मुस्लिम और हिंदू राजा विद्रोही सैनिकों, लड़ाकू किसानों और अन्य राष्ट्रीय सेनानियों के साथ शामिल हुए। विद्रोह के प्रमुख नेताओं में नाना साहेब, तांतिया टोपे, बक्तखान, अजीमुल्लाखान, रानी लक्ष्मीबाई, बेगम हजरत महल, कुंअरसिंह, मौलवी अहमदउल्ला, बहादुरखान, और राव तुलाराम थे। ब्रिटिश के विरुद्ध उत्तराधिकार के बदनाम कानून सहित राजाओं की अनेक समस्यायें थीं। उत्तराधिकार कानून ब्रिटिश को किसी भी राज्य में “कानूनी पुरुष उत्तराधिकारी” न होने पर, उस राज्य को अपने आधीन कर लेने का अधिकार देता था।

जनसामान्य की इच्छा की अभिव्यक्ति

विद्रोहियों ने दस सदस्यों की कोर्ट ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन का गठन किया जिसमें छै सैनिक और चार नागरिक थे। इनमें हिंदू और मुस्लिम दोनों को समान प्रतिनिधित्व दिया गया। विद्रोही-सरकार ने सामान्य उपयोग की वस्तुओं को कर मुक्त किया और जमाखोरी को दंडित किया। उनके घोषणापत्र में ब्रिटिश द्वारा थोपी गई घृणित जमीनदारी प्रथा के उन्मूलन और किसानों को जमीन देने का आदेश था। यद्यपि जिन राजाओं ने विद्रोहियों का साथ दिया था वे इतने आगे तक नहीं जाना चाहते थे। विद्रोही-सरकार द्वारा की गई घोषणाओं के अनेक पक्षों पर ध्यान देने की आवश्यकता है। सभी घोषणाएं जनसामान्य भाषा में की गई थीं। हिंदी और उर्दू के मूलपाठ के साथ हिंदू और मुस्लिम दोनों के नाम से घोषणायें की गई थीं। फीरोजशाह ने अगस्त 1857 की अपनी घोषणा में कुछ महत्वपूर्ण बातों का समावेश किया था। यथा सरकारी भाप चलित नावों एवं भाप गाड़ियों के मुफ्त उपयोग करने की सुविधा के साथ व्यापार केवल भारतवासियों के लिए सुरक्षित किया जाना चाहिए। सार्वजनिक कार्यालय भी केवल भारतवासियों को दिए जायें और सिपाहियों का वेतन बढ़ाया जाये।

ब्रिटिश शक्ति द्वारा पराजित, राजाओं द्वारा विश्वासघात

घटनाओं के ऐसे मूलगामी मोड़ से घबराकर ब्रिटिश शासकों ने संघर्ष को कुचलने के लिए सैनिकों और हथियारों के सभी स्रोतों को झौंका। यद्यपि विद्रोहियों ने वीरतापूर्वक मुकाबला किया परंतु सिख, राजस्थानी और सिंधिया जैसे मराठा राजाओं ने ब्रिटिश राजभक्त बनकर भारत में उनके बने रहने का अवसर दिया। उस समय के गवर्नर जनरल लार्ड केनिन ने ध्यान दिया: “राजाओं ने तूफान में तरंगरोध की तरह काम किया अन्यथा उसने हमें एक ही लहर से बहा दिया होता।” राजाओं के विश्वासघात की यही मूलभूत भूमिका रही थी ! व्यापारिक समुदायों की पुराणपंथिता ने भी ब्रिटिश

की मदद की। वे लम्बे समय तक चलने वाले जनविद्रोह की अनिश्चितताओं का साथ नहीं देना चाहते थे।

परंतु साम्राज्य को बचाने में, ब्रिटिश क्रूरता और हथियारों का भारी महत्व था। विद्रोह दबाने की ब्रिटिश बर्बरता अभूतपूर्व थी। 1858 मई, 8 को लखनऊ के हारने के बाद फेडरिक एंग्लिस ने कहा था: “सत्य है कि यूरोप अथवा अमेरिका में ब्रिटिश जैसी क्रूर सेना नहीं थी। लूटमार, हिंसा, कत्लेआम-ये जो अन्य जगहों से सख्ती और पूर्णता से समाप्त हो चुके हैं, ब्रिटिश सैनिकों के निहित स्वार्थ के अधिकार हैं, आदिमकालीन विशेषाधिकार हैं...।” अकेले अवध में 1,50,000 लोगों की हत्या की गई जिसमें से 1,00,000 लोग नागरिक थे। दिल्ली के महान उर्दू कवि मिर्जा गालिब ने लिखा: “सामने आज खून की नदियां देखता हूं।” उन्होंने आगे वर्णन किया कि कैसे विजयी सैनिक हत्या की रंगरेलियां मना रहे थे। लोगों की सम्पत्ति को लूटते और जैसे-जैसे आगे बढ़ते हर सामने पड़ने वाले को मौत के घाट उतार रहे थे। दिल्ली में, बहादुरशाह जफर के तीनों बेटों को “खूनी दरवाजे” पर आम जनता के बीच फांसी दी गई। बहादुरशाह को अंधा बनाया और देश निकाले पर रंगून भेजा, जहां वे 1862 में मर गए थे। दया की भीख मांगने को नकारते हुए उन्होंने ब्रिटिश को मुंहतोड़ जवाब दिया था: “यदि विद्रोहियों के हृदय में स्वाभिमान की ज्वाला मंद नहीं पड़ी तो भारत की शक्ति एक दिन लंदन को हिला देगी।” थामस लो ने लिखा था: “अब भारत में रहना ज्वालामुखी के मुंहाने पर खड़े रहने के समान है जिसके किनारे हमारे कदमों से दूर हो तेजी से बिखर रहे हैं और उबलता हुआ लावा फूट पड़ने तथा हमें भस्म कर देने के लिए तैयार है।”

1857 के विद्रोह ने हिंदू और मुस्लिम एकता को इस्पात की तरह मजबूत बनाया। वह संग्राम स्वतंत्रता प्रेमियों के भविष्य की पीढ़ियों के लिए आशा और प्रेरणा देने का महत्वपूर्ण मील का पथर था। 1857 के बाद औपनिवेशिक शासन में नाटकीय बदलाव आया। राष्ट्रीय विद्रोह की 1857 की हार के बाद ब्रिटिश “बांटो और राज करो” की नीति पर धार्मिक घृणा को फैलाते हुए तेजी से काम करने लगे। झूठ एवं भ्रम का सहारा लेते हुए ब्रिटिश ने भारतीय इतिहास को जानबूझकर साम्प्रदायिक रंगों में ढाला और भारतीय जनगण को बांटने के लिए घातक जातिवादी नीतियों को लागू किया। वे नीतियां आज भी उपमहाद्वीप को परेशान कर रहीं हैं। जब अधिकांश लोग औपनिवेशिक जड़ों के इस अलगाव और जातिवादी खाई को पहचान लेंगे तब संभव है कि हिंदू मुस्लिम एकता को पहुंचे नुकसान को थोड़ा कम किया जा सके। यदि 1857 की आत्मचेतना में हिंदू और मुस्लिम पुनः मिलें और आपसी सहयोगी बन सकें तो हमारा उपमहाद्वीप आज भी समर्थ है औपनिवेशिक विगत से मुक्ति पाने में।

संदर्भ

1. Encyclopaedia of 1857 Mutiny, Shailendra Sengar.
2. India After Gandhi by Ramachandra Guha.
3. The Spirit of India by Ramin Jahanbegloo.
4. Strategic Consequences of India's Economic Performance by Sanjaya Baru.
5. Modern Indian History-From 1707 to the Present Day by V. D. Mahajan.

पाकिस्तान की असफल अर्थव्यवस्था: इतिहास के संदर्भ में

मनोज कुमार

शोध छात्र, ति०मां० भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

1947 में ब्रिटिश भारत जहाँ भारत और पाकिस्तान दो राज्यों में बँटा, वहीं 1971 में पाकिस्तान से पृथक बांग्लादेश का निर्माण हुआ। इसी प्रकार एशिया व अफ्रीका में अनेक देश यूरोपीय साम्राज्य से स्वाधीन हुए, उत्तर-उपनिवेश काल में इनकी प्रशासनिक और राजनीतिक प्रक्रियाओं में भिन्नताएँ व्याप्त हैं। इनमें से अधिकांश परम्परायें उपनिवेशीय शासन के दौरान स्थापित हुईं और कुछ परिवर्तनों के साथ निरन्तर बनी हुई हैं। 1947 के बाद पाकिस्तान में भारत के समान भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस जैसे विस्तृत राजनीतिक संगठन का अभाव था। कांग्रेस ने धनी कृषकों, उद्योगपतियों, मध्य वर्ग जैसे सभी वर्गों का समर्थन हासिल करते हुए जनतांत्रिक व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान किया और (शासन के सैन अधिग्रहण का निवारण करते हुए) जनतांत्रिक संस्थाओं को सुरक्षित रखा।

पाकिस्तान में, मुस्लिम लीग भू-स्वामियों के राजनीतिक हितों का गठबंधन साबित हुई। 1947 से पहले यह विस्तृत आधार वाला राजनीतिक संगठन न बन सकी। 1947 के बाद यह गुटों में बँट गई और राजनीति में संगठनात्मक निर्वात बना रहा। राजनीतिक धड़ों की अन्तर्कलह और आम चुनाव कराने में असफलता ने अन्ततः 1958 में सैन्य विद्रोह के द्वारा नागरिक राजनीति को ग्रहण लगा दिया।

अयूब खान का सैन शासन भी वास्तविक राजनीतिक संगठनों के विकास के विरुद्ध था यद्यपि 1964 के सीमित मताधिकार चुनावों द्वारा आंशिक सहभागिता स्वीकृत हुई। इससे राजनीतिक संगठनों की बजाय अधिकृत व्यक्तियों के गुटों ने विधायिका व चुनाव प्रक्रिया पर प्रभुत्व जमाया।

साठ के दशक में त्वरित औद्योगिक संवृद्धि से आय एवं क्षेत्रीय असमानताओं में वृद्धि हुई। बाईस औद्योगिक अल्पाधिकारी परिवारों में धन का संकेन्द्रण हुआ और कामगारों की वास्तविक मजदूरी स्थिर रही। अल्प राजनीतिक प्रतिनिधित्व में औद्योगिक निवेश के लिए संसाधनों के हस्तांतरण के कारण पूर्वी पाकिस्तान में अत्यधिक असंतोष व्याप्त हो गया। इससे अन्ततः गृह युद्ध और बांग्लादेश का निर्माण हुआ 1970 के उफान में अयूब शासन के पतन के बाद पाकिस्तान पीपुल्स पार्टी के नेता जुल्फिकार अली भुट्टों ने समाजवादी आधार पर चुनाव लड़ा और 1977 तक शासन किया। भुट्टो के आर्थिक निर्णय बाजार-आधारित विकास के विरुद्ध रहे। राजनीतिक रूप से उन्होंने पीपुल्स पार्टी को जनतांत्रिक संगठन में बदलने में रुचि नहीं दिखाई। पार्टी आन्तरिक रूप से सत्तावादी होने के साथ-साथ प्रतियोगी राजनीतिज्ञों के प्रति निरंकुश बनी रही। 1977 के चुनावों में भुट्टो की पार्टी पर बड़े पैमाने पर अनियमितता के आरोप लगे और परिणामतः जनरल जिया उल हक के नेतृत्व में सैन्य तख्ता पलट हुआ। भुट्टो को फाँसी दी गई।

सैन्य शासन द्वारा लोकतंत्र को पाकिस्तानी समाज के लिए अनुपयुक्त बताते हुए प्रतिनिधि संस्थाओं को और कमजोर किया गया। राजनीतिक आज्ञाकारिता को लागू करने और सत्तावाद को तार्किक ठहराने हेतु धार्मिक सिद्धान्तों और रहस्यवाद का उपयोग किया गया। अफगान युद्ध और

सोवियत विघटन के 'महान खेल' में पाकिस्तान का 'अग्रिम पंक्ति' के राज्य के रूप में प्रस्तुत होना कहीं अधिक दुर्भाग्यपूर्ण रहा है। इस वैश्विक परिणाम को सुगम बनाने हेतु पाकिस्तान द्वारा जनतांत्रिक अधिकारों को कुचले जाने से जन एवं धन की भारी हानि हुई।

लोकतंत्र की बहाली के लिए हुए राजनीतिक प्रदर्शनों को कुचले जाने से जिया शासन की प्रतिगामी प्रकृति प्रकट हुई। मृत्युदण्ड से लेकर सार्वजनिक रूप से कोड़े मारने तक की मध्ययुगीन प्रथा, सैन्य शासन की प्रतिशोध की नीति थी। जिया ने अपने नियन्त्रण की वैधता के लिए छद्म जनमत संग्रह कराया और 1985 में गैर-पार्टी चुनाव करवाये। उम्मीदवारों ने व्यक्तिगत क्षमता से चुनाव लड़े जिससे संस्थानीकृत राजनीति और कमजोर हुई। सैन्य शासन के अधीन इन नये राजनीतिज्ञों के लिए आर्थिक लाभ, राजनीतिक सुधारों की अपेक्षा सर्वोपरि रहा। 1988 में रहस्मय विमान दुर्घटना में जिया की मृत्यु से पाकिस्तान सैनिक शासन का अन्त हुआ।

1988 से 1999 के अगले सैन्य अधिग्रहण के बीच चार आम चुनाव हुए। इसमें बेनजीर के नेतृत्व वाली पीपुल्स पार्टी और नवाज शरीफ के नेतृत्व वाली मुस्लिम लीग ने बारी-बारी से दो-दो बार सत्ता ग्रहण की। इनमें से कोई भी सरकार अपना पाँच वर्ष का कार्यकाल पूरा नहीं कर सकी। पहली तीन को राष्ट्रपति ने बर्खास्त कर दिया जबकि चौथी 1999 के सैनिक विद्रोह द्वारा उखाड़ फेंकी गई। इस प्रकार, बीसवीं सदी के अन्त में पाकिस्तान में नागरिक राजनीति और सैन्य शासन की क्रमशः पुनरावृत्ति हुई। सत्तावाद और शक्ति के संकेन्द्रण की प्रचलित परंपरा दोनों ही में सामान्य रूप से थी, जो 1947 से पूर्व की संरचना पर आधारित थी।

नागरिक शासन के समय में भी व्यक्तिमूलक राजनीति का प्रभुत्व बना रहा। उम्मीदवारों के नामांकन और प्रचार अभियानों में संगठनात्मक सिद्धान्तों की अपेक्षा वैयक्तिक स्थिति निर्णायक तत्व रही। दलों में आंतरिक लोकतन्त्र और उत्तरदायित्व के अभाव से औपचारिक राजनीति में अपराधी तत्वों का प्रवेश सुगम हुआ। इससे 1990 के दशक में नागरिक राजनीति में भ्रष्टाचार और अपकृत्य को आधार मिला। लोक कार्यपालकों और व्यवसायियों के गठबंधन से अभिजन वर्ग में भी अपराधीकरण फैला और शासन तथा नैतिक अर्थव्यवस्था संकटग्रस्त हुई।

उच्च स्तरीय भ्रष्टाचार से राज्य की अखण्डता और प्रभावकारिता का भी क्षरण हुआ। ब्रिटिश काल में भ्रष्टाचार निचले व स्थानीय कर्मचारियों के स्तर पर था जो स्वतंत्रता के बाद नौकरशाही के सर्वोच्च स्तरों तक फैल गया। इससे उत्तरदायित्व और पारदर्शिता का ह्रास हुआ जिससे अनाचार और बढ़ा। पुलिस, राजस्व, लोक सेवाओं, सिंचाई, न्याय पालिका के साथ-साथ स्वास्थ्य, शिक्षा, स्थानीय शासन जैसे सामाजिक सेवा क्षेत्र में भी भ्रष्टाचार व्याप्त हो गया। भ्रष्टाचार, अनियमितता और अवैधता की दुरामिभसंधि को राजनीतिज्ञों के गठजोड़ से और बढ़ावा मिला। इससे जनसमूह निरंतर शक्ति विहीन होता गया।

1947 से नाम मात्र के तीन भूमि सुधारों के बावजूद किसानों को वास्तविक भूमि हस्तांतरण नहीं हो सका। इससे उच्च कृषिकीय सोपान के वर्गहित संरक्षित रहे। राज्य कृषि आय पर कर लगाने में भी असफल रहा। राजस्व प्राप्ति का भार कथित रूप से शहरी आय पर डाल दिया गया।

प्रथम दो दशकों में औद्योगिक विकास एक महत्वपूर्ण नीतिगत निर्णय रहा। इसके लिए प्रारंभिक प्रयास, विदेशी विनिमय अर्जन द्वारा किये गये जो कोरिया युद्ध के समय लाभप्रद व्यापार से प्राप्त हो रहा था। परन्तु विनिमय दर के अधिमूल्यन से कच्चे माल और पूँजीगत वस्तुओं का आयात सस्ता हुआ और कृषि निर्यात से अर्जन मन्दा हुआ या घटा; उपभोक्ता वस्तुएँ अधिक महँगी हुई। इन नीतियों

से व्यापार की शर्तें कृषि वस्तुओं के विरुद्ध और उभरते उद्योग के पक्ष में हो गईं। सहायता प्राप्त ऋण और संरक्षणात्मक तटकरों से उद्योगों को और समर्थन मिला यद्यपि 1950 के दशक में कृषि आय और मजदूरों की वास्तविक मजदूरी स्थिर रही, जिससे उपभोग माँगें कमजोर रही। इस संभाव्य आर्थिक मन्दी ने 1958 की सैन्य तख्तापलट को प्रोत्साहित किया होगा।

अयूब खान शासन ने भी प्रारंभिक झिझक के बाद व्यापार समर्थक रणनीतियाँ अपनाईं। लोकतंत्र के अभाव के कारण निर्णय निर्माण प्रक्रिया पर लाक सेवकों और सैन्य नेतृत्व का वर्चस्व रहा। उच्च पदस्थ नौकरशाहों और सैन्य अधिकारियों के सगे-संबंधियों ने प्रत्यक्ष रूप से व्यापार की ओर रूख किया। राज्य ने खाद्य सुरक्षा के लिए अल्प मूल्यों पर आधारित राशन की दुकानों के माध्यम से हस्तक्षेप किया।

1960 के दशक में वृहद् तनाव उपजने शुरू हुए। 1965 में भारत से युद्ध के कारण आर्थिक संवृद्धि दर में गिरावट हुई। संभवतः पाकिस्तान की चीन से मित्रता के कारण अमरीकी सहायता भी कम हुई और आर्थिक तंगी बढ़ी। क्षेत्रीय विषमताओं से तनावों में और वृद्धि हुई। वास्तविक मजदूरी में स्थिरता से गरीबी बढ़ी और औद्योगिक एकाधिकारी घरानों में संपत्ति का अधिक संकेन्द्रण हुआ। इसी बीच, हार्वर्ड अर्थशास्त्रियों द्वारा दिये गये 'प्रकार्यात्मक विषमता' मॉडल के आधार पर आधार संरचना और शिक्षा, स्वास्थ्य, कामगारों के लाभ जैसे सामाजिक क्षेत्र में सार्वजनिक व्यय घट गया। राष्ट्रीय बजट में रक्षा व्यय का भाग वृहत्तर हो गया। अनगढ़ बाजारों, औद्योगिक अकुशलता के संरक्षण और निहित औद्योगिक स्वार्थों के बढ़ते राजनीतिक प्रभाव ने कष्टों को और बढ़ाया।

सत्तर के दशक में भुट्टो की पीपुल्स पार्टी सरकार ने पूर्व की आर्थिक राजनीति को नाटकीय ढंग से उलट दिया। पुनर्वितरणात्मक नीतियाँ अपनाई गईं; विशाल उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया गया। बैंकों और जीवन बीमा का राष्ट्रीयकरण हुआ। मुद्रा का अवमूल्यन और नवीन श्रम नीति अपनाई गईं। ये नीतियाँ कल्पित रूप से या दिखावे के लिए ही समाजवादी थीं। उद्योग विरोधी झुकाव संभवतः सामन्तवादी पृष्ठभूमि का परिणाम था। भूमि सुधार के उपाय भी कृषि भूमि का वास्तविक पुनर्वितरण न कर सके।

भुट्टो शासन के अन्तर्गत राज्य का हस्तक्षेप निर्णायक रूप से अर्धसामान्ती हितों की अपेक्षा बाजारी शक्तियों या बाजार कर्मियों के विरुद्ध था। अधिकांश निर्यात उद्योग, घरेलू, मध्यम एवं लघु उद्योग तथा कृषि प्रसंस्करण क्षेत्रों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। इस प्रकार, निजी क्षेत्र के बहिर्वेशन से पीपुल्स पार्टी को 1977 के चुनावों में भू-स्वामी वर्ग से अधिक समर्थन प्राप्त हुआ। अतः सत्तर के दशक में निजी क्षेत्र द्वारा निवेश में कमी आई।

1985 के लगभग, निवेश स्तर कुछ बढ़ा, परन्तु यह वस्त्र उद्योग के कताई और बुनाई क्षेत्र तक ही सीमित रहा। इस उद्योग का राष्ट्रीयकरण नहीं किया गया था। साथ ही उसे सब्सिडी भी प्राप्त थी। सूती वस्त्र उद्योग का पाकिस्तानी उद्योग में प्रमुख स्थान था। 1985 के बाद नय परिवेश से 'वस्त्र उद्योग लॉबी' और मजबूत हुई।

विविधता के अभाव में अर्थव्यवस्था में संरचनात्मक दुर्बलताएँ प्रकट हुईं। 1990 के बाद कपास उद्योग में आई अन्तर्राष्ट्रीय मन्दी के साथ ही पाकिस्तान में विषाणु जनित रोगों से कच्चे कपास के उत्पादन में गिरावट से राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को गंभीर चोट पहुँची। नये निवेशकों ने अपना जोखिम घटाने के लिए मशीनों के आयात बिल बढ़ा-चढ़ा कर वास्तविक बिल से अधिक का दिखाना शुरू किया। बड़े पैमाने पर अनुत्पादक ऋणों से देश के बैंकिंग और वित्तीय संस्थान दिवालिया होने लगे।

अस्सी के दशक में निजीकरण की गति धीमी और परिवर्तनीय रही। संरक्षणात्मक तटकर से आयात उदारीकरण बाधित रहा। इससे विनिर्माण क्षेत्र अकुशल बना रहा और प्रतिस्पर्धात्मक न बन सका। अस्सी के दशक में उदारीकरण के लिए पर्याप्त अनुकूल आर्थिक व राजनीतिक दशाएँ थीं, परन्तु शासकों के हित इसमें प्रमुख बाधा बने रहे।

इस रूढ़िवादिता ने भविष्य के लिए समस्याएँ बढ़ा दीं। राज्य के स्वामित्व वाले उद्यमों की विशाल हानियों की भरपाई राजकोष द्वारा की जानी थी। दोषपूर्ण ऋणों से राष्ट्रीयकृत बैंक दिवालिया होने लगे। अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में पाकिस्तान नये उभर रहे उद्योगों में प्राप्त होने वाले अवसरों का दोहन करने में असफल रहा। इस बीच पाकिस्तान में जनसंख्या वृद्धि दर तीन प्रतिशत से ऊपर हो गई जो संसार में उच्चतम दरों में एक है। सन् 2000 तक पाकिस्तान की जनसंख्या 13 करोड़ 130 को पार कर चुकी थी। अनुमान है कि इस दर से यह 2020 तक 25 करोड़ हो जायेगी। स्पष्टतः पाकिस्तान के समक्ष जीवनधारण क्षमता की प्रमुख समस्याएँ होंगी जिनका समाधान शासन के वश में नहीं होगा।

1990 से पाकिस्तान ने उदारीकरण की प्रक्रिया आरंभ की, जिसकी प्रेरणा उसे स्पष्ट रूप से बाह्य स्रोतों से मिली। विश्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने राजकोषीय घाटे को कम करने के लिए दबाव डाला। ऋण उपलब्ध कराने के लिए उन्होंने संरचनात्मक समायोजन की शर्तें रखीं, जिसमें राज्य के स्वामित्व वाले उद्यमों का निजीकरण, संरक्षणात्मक, तटकर को हटाना, सब्सिडी को खत्म करना, यथार्थवादी विनिमय दर का निर्धारण शामिल है। आधारभूत सेवाओं में निजी निवेश बढ़ाने के साथ-साथ उदारीकरण के अनुरूप नये नियामक उपाय भी अपनाये गये।

इस संरचनात्मक समायोजन की आलोचना भी स्पष्ट है। शायद पाकिस्तान में स्वदेशीय रूप से उत्पन्न आर्थिक सुधार वहाँ के राष्ट्रीय व स्थानीय पर्यावरण की जटिलताओं के परिपेक्ष्य में अधिक व्यवहारिक रूप से क्रियान्वित हो सकते थे। पार-राष्ट्रीय वैधता वाले, महानगरीय और ऋण दाता संचालित समाधान गहरे पैठी समस्याओं को संबोधित करने में असफल हुए हैं। यद्यपि अनेक अर्थव्यवस्थाओं में दुर्बल लोक नीति प्रदाता तन्त्रों के कारण नीतियों के क्रियान्वयन की प्रक्रिया कुप्रबंधन का शिकार हो जाती है।

सत्तर के दशक में स्थापित अनेक सार्वजनिक निगमों को नब्बे के दशक में बेच दिया गया। दो छोटे राष्ट्रीयकृत बैंकों का निजीकरण कर दिया गया। आधारभूत संरचना के क्षेत्र में नियामक अभिकरणों की स्थापना हुई परन्तु उनकी प्रभावपूर्ण स्वायत्तता पर प्रश्न चिन्ह लगा रहा। निजीकरण की प्रक्रिया में अत्यधिक अनियमितताओं के आरोप भी लगे। नागरिक शासन के पतन के लिए उत्तरदायी भ्रष्टाचार के आरोपों में ये आरोप प्रमुख थे।

आयात उदारीकरण उद्योग क्षेत्र के समक्ष नई चुनौतियाँ भी प्रस्तुत करता है। संरक्षणात्मकता से प्रतिस्पर्धात्मक पर्यावरण में प्रवेश एक कष्टकारक प्रक्रिया होगी, जो विनिर्माण क्षेत्र को भयभीत करेगी। विश्व व्यापार संगठन के मसौदे के तहत, मुख्य प्रतिस्पर्धी भारत के साथ व्यापार का विस्तार आगे और चुनौती पश करेगा।

तटकर घटाना भी एक चुनौती होगी। इन समायोजनों के प्रभाव और उनकी राजनीतिक स्वीकार्यता को विदेशी ऋण पर निर्भरता से संतुलित करना होगा। घाटे में पर्याप्त कटौती और राजस्व बढ़ाने के जुड़वाँ लक्ष्य भी भ्रमात्मक हैं। अभिजन समूह से धन का दोहन या जनसमूह पर प्रतिगामी करारोपण और निर्वाह-आधारित सब्सिडी को समाप्त करने जैसे दोनों ही विकल्प राजनीतिक अस्थिरता को

जन्म देंगे। इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति में, नागरिक जनतंत्रवादियों पर अप्रत्याशित भ्रष्टाचार के आरोप राज्य की वैधता के प्रश्न को और गंभीर बनाते हैं। यद्यपि नवीन और नवप्रवर्तक उद्योगों के लिए उद्यमिता क्षमता संवृद्धि के त्वरित, उच्चतर निर्यात निष्पादन अथवा पर्याप्त विदेशी निवेश प्रवाह की संभावनायें हैं। पर 11 सितम्बर 2001 के बाद की स्थिति से भू-राजनैतिक अनिश्चितताएँ और खतरे भी बढ़े हैं।

जन सामान्य/जनसमूह की अपनी अक्षमता अब अभिजनों की प्रकट असफलताओं की पूरक बन गई है। राज्य और अभिजनों द्वारा वर्षों से सामाजिक क्षेत्र पर व्यय की उपेक्षा के कारण पाकिस्तान में मानव संसाधन तीव्र गति से उत्पादकता बढ़ाने में अक्षम प्रतीत होता है। अत्यधिक अपर्याप्त साक्षरता दर और शैक्षिक ढाँचे के गुणात्मक क्षरण से एक 'निम्नस्तरीय संतुलन' व्याप्त हो गया है। असुरक्षित महसूस कर रहे अभिजनों द्वारा सामाजिक एवं संस्थागत परिवर्तनों के विशेष रूपों की प्राचीन सांस्कृतिक व धार्मिक विशेषताओं से समानता दर्शाने के कारण लिंग, जाति और नृजातीय अंतर्विरोधों का समाधान नहीं हो पाता। जनसंख्या नियोजन भी असफल रहा है। पाकिस्तान की जनता स्पष्ट रूप से पतनशील भविष्य के भय से ग्रसित है। उदारीकरण व बाजार अर्थव्यवस्था इस संकट के लिए रामबाण नहीं हो सकते, परन्तु पुरानी व्यवस्था भी जनता के लिए समान रूप से कष्टकारी थी।

सन्दर्भ

1. एस०जे० बर्की, 'पाकिस्तान अण्डर भुट्टो' : 1971-77, मैकमिलन, लन्दन, 1980
2. क्रोज बैक्सटर, (सम्पा०), 'जिया पाकिस्तान : पालिटिक्स एण्ड स्टेबिलिटी इन ए फ्रंटलाइन स्टेट', वेस्ट व्यू, बोल्डर, कोलराडो, 1985
3. विकार अहमद तथा राशद अहजद, 'द मैनेजमेन्ट ऑफ पाकिस्तान्स इकॉनोमी' 1947-82, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कराची, 1986
4. ओमर नोमन, 'द पोलिटिकल इकोनोमी ऑफ पाकिस्तान', के० पी० आई० लंदन, 1988
5. जूनियर लापोर्ट एण्ड एम० बी० अहमद, 'पब्लिक इन्टरप्राइजेज इन पाकिस्तान', वेस्ट व्यू प्रेस, बोल्डर, कोलराडो, 1989
6. परवेज हसन, 'पाकिस्तान इकॉनोमी एट द क्रॉसरोड्स : 'पास्ट पालिसीज एण्ड प्रेजेन्ट इम्पेक्टिव्स', आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कराची, 1998
7. इशरत हुसैन, 'पाकिस्तान : द इकॉनोमी ऑफ एन इलीटिस्ट स्टेट', आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कराची, 1999
8. शाहरुख रफीखान, 'फिफ्टी इयर्स ऑफ पाकिस्तान्स इकॉनोमी : ट्रेडिशनल टॉपिक्स एण्ड कन्टेम्पोरेरी कन्सर्न्स', आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कराची 1999
9. एस० अकबर जैदी, 'इशूज इन पाकिस्तान्स इकॉनोमी', आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कराची, 1999
10. इमरान अली 'विजनेस एण्ड पावर इन पाकिस्तान' (संपादित)
ए० एम० बइसी और एस० जेड० गिलानी, 'पावर एण्ड सिविल सोसाइटी इन पाकिस्तान' आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, कराची, 2001
11. वीना कुकरेजा, 'कन्टेम्पोरेरी पाकिस्तान : पोलिटिकल प्रोसेसेज', कन्फ्लिक्ट्स एण्ड क्राइसेस, सेज, दिल्ली, 2003

प्रचीन भारत में बौद्ध का महत्व एवं विस्तार

डॉ० मीना कुमारी

भागलपुर

विद्वानों ने बौद्ध ग्रंथों के आधार पर बौद्धधर्म के सिद्धांतों एवं दार्शनिक पक्ष की विवेचना की है। इनके आधार पर बौद्धधर्म के सिद्धांतों की चर्चा की जा सकती है।

कारण सिद्धांत—महात्मा बुद्ध की मान्यता थी कि प्रत्येक कार्य एक कारण पर निर्भर होता है, अर्थात् संसार का कोई भी कार्य अकारण नहीं है। सृष्टि की समस्त घटनायें एक क्रम में हो रही हैं तथा एक घटना अथवा कार्य दूसरे कार्य के लिए कारण बन जाता है। इसे **प्रतीत्य समुत्पाद** (पतिच्च समुत्पाद) **मध्यमा प्रतिपदा** का नाम दिया गया। यह विचार आस्तिकता (शाश्वतता का सिद्धांत) एवं नास्तिकता (उच्छेदवाद) के बीच का मार्ग है।

आस्तिकता के नियम के अनुसार कुछ वस्तुयें नित्य हैं। उनकी कोई आदि या अंत नहीं है। ये किसी कारण का परिणाम नहीं हैं, आत्मा एवं ब्रह्म इसी कोटि में आते हैं। दूसरी और नास्तिकतावादी, चार्वाक एवं लोकायत यह मानते हैं कि वस्तुओं के नष्ट हो जाने पर कुछ भी शेष नहीं रहता।

बुद्ध ने दोनों मतों को छोड़कर मध्यम मार्ग अपनाया, जिसके अनुसार वस्तुओं का अस्तित्व है, किंतु वे नित्य नहीं हैं। उनकी उत्पत्ति कुछ कारणों पर निर्भर है। वस्तुओं का पूर्ण विनाश नहीं होता, बल्कि उनका परिणाम शेष रह जाता है। बुद्ध के हृदय में ज्ञान प्राप्ति से पूर्व अनेक शंकाएं उत्पन्न हुयी थीं। उन्होंने विचार किया कि मनुष्य ऐसी दुःखपूर्ण स्थिति में क्यों है, जन्म, मृत्यु एवं दुःख से मुक्ति का मार्ग अंततः उन्हें ज्ञात हुआ, जिसे 'आर्य सत्य चतुष्टय' अथवा '**चत्वारि आर्य सत्यानि**' कहा गया। चार आर्य सत्य बौद्धधर्म के सिद्धांतों की आधारशिला हैं— दुःख, दुःख समुदय, दुःख निरोध एवं **दुःख निरोध का मार्ग**।

दुःख— महात्मा बुद्ध संपूर्ण संसार को दुःखमय मानकर चलते हैं। जरा, रोग, मृत्यु के दुःखमय दृश्यों को देखकर ही सिद्धार्थ ने संन्यास धारण किया था। ज्ञान प्राप्ति के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि मानव जाति दुःख से ग्रसित है। जरा, रोग, मृत्यु, अप्रिय का संयोग, प्रिय का वियोग, इच्छित वस्तु की अप्राप्ति आदि सभी आसक्ति से उत्पन्न होते हैं, अतः सभी दुःख हैं। क्षणिक विषयों में आसक्ति ही पुनर्जन्म तथा बंधन का कारण है, सांसारिक सुखों को यथार्थ सुख समझना केवल अदूरदर्शिता है। मनुष्य मिथ्या धारणा से अपना तदात्म्य अपने शरीर या मन से कर लेता है, जिसके परिणामस्वरूप उसे विविध प्रकार के भौतिक सुखों की तृष्णा होती है। तृष्णा के वशीभूत होकर मनुष्य अहंभाव से विभिन्न प्रकार के स्वार्थपूर्ण कार्य करता है एवं तृष्णा संपूर्ति न होने पर दुःख का अनुभव करता है।

बुद्ध ने अपने शिष्यों को एक उदाहरण देते हुये बताया था कि दुःख की इस व्यापक वेदना से जितने आंसू बहाये गये हैं, वे इतने ही अधिक हैं कि चारों समुद्रों का जल नहीं। **दुःख समुदय**: इस संदर्भ में सवाल यह उठता है कि दुःख का कारण क्या है। बुद्ध ने **प्रतीत्य समुत्पाद** के माध्यम से

दुःख का कारण जानने का प्रयास किया, क्योंकि इस कारण सिद्धांत के अनुसार सभी वस्तुएँ कारणों एवं परिस्थितियों पर निर्भर करती हैं। अतः दुःख का भी कारण है। दुःख अथवा जरा, मृत्यु तब ही संभव है, जबकि जन्म (शरीर धारण) हो अर्थात् दुःख जन्म (या जाति) पर निर्भर है। जन्म का होना तब ही संभव माना गया, जबकि जन्म से पूर्व कोई अस्तित्व हो, जिसे 'भव' (भाव) नाम दिया गया है। कहा जा सकता है कि भव जन्म का कारण है। भव से अभिप्राय कर्म से है, जिसके कारण पुनर्जन्म होता है। इस प्रक्रिया में वह कौन-सा कारण है, जिसके होने से भव की उत्पत्ति होती है।

भव का आधार 'उपादान' माना गया। यदि मनुष्य कामना के वशीभूत होकर कर्म नहीं करे तो जन्म नहीं होता अर्थात् सकाम कर्म अथवा मोह को 'उपादान' नाम दिया गया। 'उपादान' का हेतु 'तृष्णा' (वासना) को माना है। यह उत्कृष्ट इच्छा करना कि जिन भोगों से हमें परितृप्ति होती है उनसे हमारा कभी वियोग न हो, इसको तृष्णा कहा गया है। रूप, शब्द, स्पर्श, रस एवं गंध से तृष्णा संबद्ध होती है। तृष्णा का आधार 'वेदना' है। पूर्व विषय भोग या सुखानुभूति से हमारी तृष्णा जाग उठती है अर्थात् इंद्रिय-जन्य अनुभूति को 'वेदना' की संज्ञा दी गयी। वेदना की अनुभूति के लिए ज्ञानेन्द्रिय का संपर्क आवश्यक है।

ज्ञानेन्द्रिय का संपर्क (इंद्रिय जन्य चेतना) को 'स्पर्श' कहा गया। इंद्रिय जन्य चेतना के अभाव में अनुभूति संभव नहीं है। 'स्पर्श' हेतु पाँच इंद्रिय एवं मन आवश्यक है। इसे 'षडायतन' कहकर संबोधित किया है। इन छः आयतनों (षडायतन) के लिए बुद्धि (या मन) एवं शरीर होना आवश्यक है। षड्चेतनायें मनुष्य के शरीर एवं बुद्धि के समन्वय के कारण उत्पन्न हुयी मनःस्थिति पर आश्रित हैं। इसी मानस् तात्त्विक स्थिति को "नामरूप" कहा गया है, जो शरीर एवं बुद्धि के साथ कार्य करने की शक्ति को स्पष्ट करता है।

चेतना के बिना नामरूप नहीं हो सकते अर्थात् 'चेतना' (विज्ञान) ही नामरूप का हेतु है। चेतना से तात्पर्य किसी वस्तु विशेष के बारे में सोचने वाली विचारधारा से है और चेतना का आधार "संस्कार" माना गया। कर्म के अनुसार निर्मित संस्कार से विज्ञान या चेतना संभव होती है। संस्कार की उत्पत्ति के विषय में बुद्ध की धारणा थी कि इसका एकमात्र कारण 'अविद्या' (अविज्ञा) है। क्षणिक विषयों को सुखद समझ लेना ही अविद्या है। अविद्या के नाश से ही संस्कार नष्ट होंगे। इसी क्रम से मनुष्य की जन्म, मृत्यु या दुःख से मुक्ति संभव मानी गयी है।

प्रतीत्य समुत्पाद प्रक्रिया के अंतर्गत यदि दुःख के कारण को नष्ट कर दिया जाये, तो दुःख का निरोध संभव है। अविद्या के निरोध से दुःख को नष्ट किया जा सकता है क्योंकि अविद्या से ही तृष्णा उत्पन्न होती है। जिसके फलस्वरूप पुनर्जन्म होता है एवं नवीन चेष्टाएं उत्पन्न होती हैं। इसको संसार का दुश्चक्र (भव चक्र) कहा गया।

दुःख निरोध का मार्ग: संसार में दुःख है दुःख समुदय है। उसी प्रकार दुःख से मुक्ति का मार्ग भी है। अविद्या एवं तृष्णा से उत्पन्न मनोवृत्तियों के निरोध का विधान भी है। तृष्णा से ही आसक्ति तथा राग का उद्भव होता है। रूप, शब्द, गंध, रस तथा मानसिक तर्क-वितर्क आसक्ति के मौलिक कारण हैं। दुःख के निवारण के लिए तृष्णा का उन्मूलन आवश्यक है।

धम्मपद में कहा गया है कि तृष्णा से शोक उत्पन्न होता है, भय की बात ही क्या? बुद्ध ने भिक्षुओं को निर्देशित किया है कि रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान का निरोध ही दुःख का

निरोध है। कहा गया है कि इच्छाओं का परित्याग ही मुक्ति का मार्ग है एवं इच्छाओं का परित्याग **अष्टांगिक मार्ग** द्वारा किया जा सकता है। **अष्टांगिक मार्ग** को **दुःख निरोधगामिनी प्रतिपदा** भी कहा जाता है।

आष्टांगिक मार्ग को तीन स्कंधों में विभक्त किया जाता है- **प्रथम प्रज्ञा स्कंध** में **सम्यक् दृष्टि**, **सम्यक् संकल्प** एवं **सम्यक् वाक्** सम्मिलित किये गये हैं। **सम्यक् कर्मान्त**, **सम्यक् आजीव**, **शील स्कंध** के अंतर्गत रखे गये हैं। **समाधि स्कंध** में **सम्यक् व्यायाम**, **सम्यक् स्मृति** एवं **सम्यक् समाधि** आते हैं। चार आर्य सत्त्यों का सत्य एवं असत्य तथा सदाचार एवं दुराचार के विवेक द्वारा सही परीक्षण करना '**सम्यक् दृष्टि**' है। इसे नीर-क्षीर विवेक भी कहा जा सकता है। अविद्या के कारण मिथ्या दृष्टि उत्पन्न हो जाती है, जिसे समाप्त किया जाना आवश्यक होता है। सब वस्तुएँ अनित्य हैं, इस तरह जब प्रज्ञा से मनुष्य देखता है तो वह दुःखों से विरक्त को प्राप्त होता है, यही विशुद्धि का मार्ग है। इच्छा एवं हिंसा की भावना से मुक्त संकल्प को '**सम्यक् संकल्प**' कहा गया है। आर्य सत्त्यों के अभिज्ञान मात्र से लाभ नहीं होता, जब तक उनके अनुसार जीवन-यापन करने का दृढ़ संकल्प न किया जाये।

धम्मपद में विवेचन मिलता है कि युवा होकर भी जो आलसी हैं, जिसका मन और संकल्प निर्बल हैं, ऐसा व्यक्ति प्रज्ञा के मार्ग को प्राप्त नहीं करता। सत्य, विनम्र एवं मृदुता से समन्वित वाणी को '**सम्यक् वाक्**' कहा गया है। उल्लेख मिलता है कि मिथ्यावादिता, निद्रा, अप्रिय वचन तथा वाचालता से बचना चाहिए। वाणी की रक्षा करने, मन से संयमी बनने एवं शरीर से बुरा कार्य न करने को शुद्धि का मार्ग बताया गया है।

'**सम्यक् संकल्प**' को वचन में ही नहीं वरन् कर्म में भी परिणित करना चाहिए अर्थात् सत्कर्मों में संलग्न होना ही सम्यक् संकल्प है। दूसरे शब्दों में अहिंसा, अस्तेय एवं इन्द्रिय संयम ही सम्यक् कर्म है। किया हुआ वह कर्म अच्छा होता है, जिसको करके मनुष्य को सन्ताप नहीं होता। जीवन-यापन की विशुद्ध प्रणाली को **सम्यक् आजीव** कहा गया है अर्थात् मन, वचन एवं कर्म के शुद्ध उपाय से जीविकोपार्जन करना है, किंतु इसका अभिप्राय भिक्षु एवं गृहस्थ के लिए अलग-अलग था।

'**सम्यक् व्यायाम**' के बारे में विवरण मिलता है कि व्यक्ति को पुराने बुरे भावों का नाश, नवीन बुरे भावों का अनाविर्भाव, मन को उत्तम कार्यों में लगाना एवं शुभ विचारों को धारण करने की चेष्टा करनी चाहिए। सम्यक् व्यायाम से तात्पर्य विशुद्ध एवं विवेकपूर्ण प्रयत्न से है। '**सम्यक् स्मृति**' से मनुष्य सभी विषयों से विरक्त हो जाता है एवं सांसारिक बंधनों में नहीं पड़ता। बौद्ध व्यवस्था में स्मृति के चार रूप माने गये हैं। प्रथम **कायानुपश्यना** से तात्पर्य है-शरीर की प्रत्येक चेष्टा को समझते रहना। दूसरी **चित्तानुपश्यना** है अर्थात् चित्त के राग-द्वेष आदि को पहचानना। तीसरी **वेदानुपश्यना** से अभिप्राय दुःख एवं सुख दोनों ही अनुभूतियों के प्रति सजग रहना। चतुर्थ **धर्मानुपश्यना** अर्थात् शरीर, मन एवं वचन की प्रत्येक चेष्टा को समझना। चित्त की एकाग्रता को 'समाधि' कहा गया है। समाधि द्वारा पुराने क्लेश जड़-मूल से नष्ट हो जाते हैं और तृष्णा एवं वासनाओं से मुक्ति मिलती है तथा सत्वगुण की वृद्धि होती है। इसमें मनुष्य को अपने मन को नियंत्रित करने का अभ्यास करना होता है। मन की चंचलता पर संयम पा लेने पर ज्ञान में एकाग्रता बढ़ती है। बौद्ध दर्शन में समाधि के कुछ स्तरों का उल्लेख मिलता है, यथा - '**उपचार समाधि**' एवं '**अप्पना समाधि**' आदि।

निर्वाणः बुद्ध ने अपने उपदेशों को विचारपूर्वक ग्रहण करने की आज्ञा दी थी, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य को अपना निर्वाण स्वयं प्राप्त करना होता है। ज्ञान को आन्तरिक आस्था में परिणत करने के लिए प्रज्ञा, शील, समाधि आवश्यक है एवं सत्य का साक्षात्कार तब तक नहीं हो सकता, जब तक विचार एवं कर्म का संयम न हो। शील एवं समाधि की अवस्था को स्पष्ट करते हुये **दासगुप्त** ने लिखा है - 'हम अन्दर और बाहर से तृष्णा के पाश में जकड़े हुये हैं (तन्हाजटा) और इससे छुटकारा पाने का उपाय केवल यह है कि हम जीवन में उचित (शील) का ध्यान, समाधिज्ञान (प्रज्ञा) को स्थान दें। संक्षेप में शील का अर्थ है- पाप कर्मों से दूर रहना।

अतः सर्वप्रथम शील को धारण करना आवश्यक है। शील का धारण करने से दुर्वासनाओं से उत्पन्न दुष्कर्मों से दूर रहने के कारण भय और चिन्ता से मुक्ति होती है। शील के पश्चात् समाधि की क्रिया प्रारंभ होती है। समाधि के द्वारा पुराने क्लेश जड़मूल से नष्ट हो जाते हैं और तृष्णा और वासनाओं से मुक्ति मिलती है एवं सत्वगुण की वृद्धि होती है। इसके द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है और ज्ञान से मुक्ति प्राप्ति होती है, जिसको **अर्हत्** कहते हैं। बौद्धधर्म का एक मात्र लक्ष्य निर्वाण प्राप्त करना है। सामान्यतः इसका अभिप्राय जीवन-मृत्यु के चक्र से विमुक्ति माना है। **हिरियन्ना** ने निर्वाण की व्याख्या करते हुये लिखा है कि यह वास्तव में किसी मरणोत्तर अवस्था का सूचक नहीं है।

यह तो उस अवस्था का सूचक है, जो व्यक्ति के जीवित रहते हुये पूर्णता की प्राप्ति के बाद आती है। यह ऐसी अवस्था है जिसमें सामान्य जीवन की संकीर्ण रुचियाँ समाप्त हो गयी होती हैं और व्यक्ति पूर्ण शांति और समत्व का जीवन बिताता है। यह मन की एक विशेष वृत्ति का सूचक है वह जो इस वृत्ति को प्राप्त कर चुका है, 'अर्हत्' कहलाता है, जिसका अर्थ है योग्य या पावन।

निर्वाण का तात्पर्य परमज्ञान भी माना जाता है, यह तृष्णा या आसक्ति से मुक्त होने का अभिज्ञान है, जिसे पूर्ण विशुद्धि भी कहा गया है। निर्वाण की प्राप्ति इस जीवन में भी संभव है, जैसा **हिरियन्ना** ने लिखा है कि कुछ विद्वान इस अवस्था को अनिर्वचनीय मानते हैं तथा इसके अस्तित्व के विषय में मौन हैं। इसका शाब्दिक अर्थ दुःख से मुक्ति प्राप्त करना माना गया है।

थॉमस ने **निर्वाण** तथा **परिनिर्वाण** में भेद करते हुये **निर्वाण** को इसी जीवन-काल में तथा **परिनिर्वाण** को मृत्यु के बाद संभव माना है। निर्वाण प्राप्ति के बाद पुनर्जन्म एवं पुनः उत्पन्न होने वाले दुःख संभव नहीं होते क्योंकि जन्म ग्रहण करने के लिए आवश्यक कारण नष्ट हो जाते हैं। बौद्ध धर्मावलम्बन हेतु व्यक्ति भिक्षु बनकर (संघ में प्रवेश) या गृहस्थ साधक के रूप में रह सकता है, किंतु **निर्वाण** सामान्यतः भिक्षु बनने पर संभव माना गया है। '**अर्हत्**' की अवस्था का विवेचन **धम्मपद** में मिलता है, जिसका मार्ग समाप्त हो चुका है, जो शोक रहित तथा सर्वथा विमुक्त है, सब ग्रंथियों से छूट चुका है, उसके लिए कोई सन्ताप नहीं। उसका मन, वाणी एवं कर्म शांत होते हैं।

कर्म: बौद्ध दर्शन में कर्म सिद्धांत को स्वीकार किया गया है। **मिलिन्दपन्हो** में **नागसेन** कहते हैं कि मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार सुख-दुःख का भोग करते हैं। कर्म-फल से ही मनुष्य कुछ दीर्घजीवी एवं कुछ अल्पजीवी, स्वस्थ-अस्वस्थ, सुन्दर-कुरूप, धनी-निर्धन होते हैं, जो दीन हैं, वे सब अपने कर्मों का ही फल प्राप्त कर रहे हैं। कर्म-फल इस जीवन में अथवा अन्य जीवन में तभी प्राप्त होता है, जब मनुष्य राग, द्वेष एवं मोह-बंधन में फंसा रहता है। लोभ एवं मोह का परित्याग कर मनुष्य जब **अपरिग्रह** का मार्ग ग्रहण करते हुये निष्काम कर्म करता है, तब कर्म स्वतः समूल

नष्ट हो जाते हैं। तृष्णा के अभाव में स्वयं कर्म विकसित नहीं हो सकता। तृष्णा के प्रति विरक्त होने एवं इसका परित्याग करने पर ही दुःख से मुक्ति संभव मानी गयी है। वासना का नाश होने पर **अर्हत्** पद प्राप्त होता है और उसके पश्चात् उसके किये हुये कर्मों का फल प्राप्त नहीं होता, उसके कर्म नष्ट हो जाते हैं।

पूर्व जन्म के कर्म-शेष रहने पर भी '**अर्हत्**' तृष्णा के नष्ट हो जाने से बंधन मुक्त हो जाता है क्योंकि कामना के कारण ही कर्म फल मिलता है। वासना के नष्ट हो जाने पर अज्ञान, राग, द्वेष एवं लोभ का भी नाश हो जाता है।

कर्म के तीन प्रकार माने गये हैं— **मानसिक**, **शारीरिक** (कायिक) तथा **वाचिक** (वाणी द्वारा किये कार्य)। अर्हत् पद प्राप्त होने पर कोई कामना शेष नहीं रह जाती है, उसके शरीर एवं वाणी से किये कर्म का कोई फल नहीं होता। बुद्ध ने कर्म के आधार पर ही चारों वर्णों के लिए मुक्ति का प्रतिपादन किया। उनकी धारणा थी कि मनुष्य चाहे वह ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो अथवा शूद्र, सम्यक् कर्म करने से मोक्ष का अधिकारी होगा।

अनात्मवाद: बुद्ध ने आत्मा को अनावश्यक कल्पना मानकर उसका निषेध करते हुये मात्र चेतना की अवस्था को स्वीकार किया। बुद्ध की मान्यता थी कि संसार अनित्य, क्षणिक एवं दुःख रूप है तथा जो दुःख रूप है, वह आत्मा नहीं हो सकती। इस तथ्य को अन्य लोगों (अबौद्धों) ने भी मान लिया कि पृथ्वी, जल, तेजस् तथा वायु अर्थात् चार भूतों से निर्मित देह आत्मा नहीं है और अपनी आत्मा को चित्त के रूप में स्वीकार किया। विद्वानों की धारणा है, अप्रत्यक्ष रूप से बुद्ध संभवतः आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते थे, किंतु इस तथ्य को अभिव्यक्त नहीं करना चाहते थे। शिष्यों द्वारा आत्मा संबंधी प्रश्न पूछे जाने पर बुद्ध मौन रहे, तदुपरान्त आनंद को कहा कि 'आत्मा की अस्वीकृति से भौतिकवादियों के नास्तिकवाद का समर्थन होता है और आत्मा की स्वीकृति से शाश्वतवाद का, वस्तुतः दोनों ही मिथ्या धारणाएं हैं।' इस संदर्भ में **हिरियन्ना** ने लिखा है कि बौद्धधर्म आत्मा का ऐसी स्थायी सत्ता के रूप में अवश्य निषेध करता है, पर जो बदलती हुयी शारीरिक और मानसिक अवस्थाओं के बीच स्वयं अपरिवर्तित बनी रहे, उसके स्थान पर एक 'तरल आत्मा' को स्वीकार करता है, जिसे अपने तरलत्व के कारण ही परस्पर बिल्कुल पृथक् और असमान अवस्थाओं की सन्तान नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार बुद्ध इस दृष्टि से भी '**मध्यमा प्रतिपदा**' का अनुगमन करते हुये आत्मा की स्वीकृति व अस्वीकृति पर सामान्यतः मौन रहे। **जगत् नश्वर** है अतः अनात्मवाद के विवेचन का अभिप्राय है कि संपूर्ण अनुभूत जगत् में आत्मा नहीं। आत्मा को स्वीकार नहीं किये जाने के कारण का उल्लेख करते हुये कुछ विद्वानों ने लिखा है कि बुद्ध आत्मवाद का प्रचार करते तो संभवतः जनता में अपने प्रति **आसक्ति** उत्पन्न होती जो दुःख का मूल कारण है। इसके विरुद्ध अनात्मवाद का प्रचार करने पर मृत्योपरान्त कुछ शेष नहीं रहना मानव के मानसिक त्रास का कारण बनता है। **डॉ. राधाकृष्णन्** की मान्यता थी कि महात्मा बुद्ध आत्मा में विश्वास करते थे।

पुनर्जन्म: बौद्धधर्म पुनर्जन्म में विश्वास करता है, किंतु इसमें नित्य आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया है। अतः यह विचार परस्पर विरोधी है। कहा गया है कि कर्ता के बिना कर्म हो सकता है, तो आत्मा के बिना भी पुनर्जन्म हो सकता है। बौद्धधर्म में न केवल जीवन समाप्ति के बाद पुनर्जन्म माना गया, बल्कि प्रतिक्षण पुनर्जन्म को स्वीकार किया है। पुनर्जन्म मृतव्यक्ति का नहीं होता, बल्कि

उसी के संस्कार वाले दूसरे व्यक्ति का जन्म हो सकता है। मृत्यु के बाद व्यक्ति का चरित्र बना रहता है एवं अपनी मानसिक शक्ति से अन्य व्यक्ति को जन्म देता है अर्थात् आत्मा का पुनर्जन्म न होकर चरित्र का पुनर्जन्म होता है।

यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है, जब तक कि तृष्णा पर विजय प्राप्त न कर ली जाय। **हिरियन्ना** ने कहा है जो भी हो बुद्ध ने इस सिद्धांत को एक बड़ी सीमा तक तर्क संगत बना दिया तथा इससे जुड़े हुये अलौकिक और भौतिकवाद के तत्व बिल्कुल निकाल दिये। बुद्ध ने इन दोनों मतों को अस्वीकार कर दिया और कर्म को नैतिकता के क्षेत्र में अपनी ही प्रकृति के अनुसार स्वतंत्रतापूर्वक काम करने वाला एक अपौरुषेय नियम माना।

अनीश्वरवाद: सृष्टि कर्ता के रूप में बुद्ध ने ईश्वर को स्वीकार नहीं किया क्योंकि ऐसा करने पर ईश्वर को दुःख का सर्जक भी मानना होगा। यद्यपि कुछ विद्वान बुद्ध को नितान्त अनीश्वरवादी नहीं मानते हैं, बल्कि नितान्त कर्मवादी मानते हैं। नितान्त कर्मवादी होने के कारण एवं मानव जाति को जटिल सवालों से दूर रखने के लिए उन्होंने ईश्वर संबंधी प्रश्नों का विवेचन अनावश्यक समझा।

डॉ. राधाकृष्णन की मान्यता है कि 'ईश्वर को अनिर्वचनीय परम तत्व के रूप में स्वीकार किया जाये तो **चार्वाक** को छोड़कर किसी भी भारतीय दर्शन को अनीश्वरवादी नहीं कहा जा सकता।

संदर्भ

- Adas, Michael. *Machines as the Measure of Men: Science, Technology, and Ideologies of Western Dominance*. Ithaca: Cornell University Press, 1989.
- Ahmad, Imtiaz. *State and Foreign Policy: India's Role in South Asia*. New Delhi: Vikas, 1993.
- Ali, Tariq. *An Indian Dynasty: The Story of the Nehru-Gandhi Family*. New York: Putnam, 1985.
- Austin, Granville. *The Indian Constitution: Cornerstone of a Nation*. Oxford: Clarendon Press, 1966.
- Bakshi, S.R. Morarji Desai. New Delhi: Amol, 1991.
- Keown, Damein et.al., eds. *Buddhism and Human Rights*. London: Curzon, 1998.
- Kohn, Michael H., trans., *The Shambhala Dictionary of Buddhism and Zen*. Boston: Shambhala, 1991.
- Morgan, Kenneth W., ed., *The Path of the Buddha*. New York: Ronald Press, 1974. Good survey of Buddhism throughout Asia written by prominent Asian Buddhist scholars. Similar to, but less complete than, P. V. Bapat, cited above.
- Prebish, Charles S., ed. *Buddhist Ethics: A Cross-Cultural Approach*. Dubuque: Kendall/Hunt, 1992.
- Warder, A. K., *Indian Buddhism*, 2nd ed. rev. Delhi: Motilal Banarsidass, 1980. Authoritative. Especially good on philosophical and literary issues; excellent bibliography and index.

भवभूतिप्रणीत 'मालतीमाधव' – प्रकरण में नियतश्राव्य संवाद का नाटकीय महत्त्व

डॉ० कान्ति सिंह

व्याख्याता, आर०डी०एम० डिग्री कॉलेज, छपरा

सारांश

वाचिक अभिनय का प्राण संवाद है। संवादविहीन वाचिक अभिनय की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। वैसे तो संस्कृत के आदि नाट्याचार्यों ने संवाद के विषय में अलग से कुछ भी नहीं कहा है, फिर भी नाट्यधर्म की दृष्टि से किये गये कथावस्तु के भेद में संवाद की ही प्रमुख भूमिका है। नाट्यधर्म के अनुसार कथावस्तु के तीन भेद हैं – प्रकाश, स्वगत एवं नियतश्राव्य। जो संवाद सबके सुनने योग्य होते हैं उसे प्रकाश, जो सबके सुनने योग्य नहीं होते उसे स्वगत एवं जो विशिष्ट पात्रों के सुनने योग्य ही होते हैं उसे नियतश्राव्य कहते हैं। नियतश्राव्य दो प्रकार के होते हैं – जनान्तिक एवं अपवारित। भवभूतिकृत प्रकरण 'मालतीमाधव' में नियतश्राव्य की महत्ता नाटकीय दृष्टि से अन्यतम है। इसके माध्यम से पात्रों के मनोभावों को बखूबी उभारा गया है। दस अंक के इस प्रकरण में मात्र द्वितीय, चतुर्थ एवं दशम अंक में जनान्तिक की योजना की गई है तथा द्वितीय, चतुर्थ एवं पंचम अंक में अपवारित की योजना की गयी है। इस प्रकार के संवादों के माध्यम से कथावस्तु की अग्रिम कथा को जानने की उत्सुकता प्रेक्षकों को सदैव बनी रहती है।

विशिष्ट शब्द

कथावस्तु, भवभूति, मालतीमाधव, नियतश्राव्य, जनान्तिक, अपवारित।

भूमिका

नाट्याचार्यों ने नाट्य कथावस्तु का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किए हैं। इनमें से एक नाट्यधर्म की दृष्टि से है। इसके अन्तर्गत आने वाले भेद तीन प्रकार के हैं – प्रकाश, स्वगत और नियतश्राव्य। इनके नाम से ही स्पष्ट है कि कथावस्तु का वह अंश जो सबके सुनने योग्य हो, वह 'प्रकाश' कहलाता है। जिसको सब नहीं सुन सकते, उसे 'स्वगत' तथा जो विशिष्ट पात्रों के सुनने योग्य ही हो, उसे 'नियतश्राव्य' कहते हैं। नियतश्राव्य के भी दो भेद हैं – जनान्तिक एवं अपवारित। जनान्तिक में एक पात्र दूसरे पात्र के कानों में किसी पूर्व वृत्त की सूचना देता है। इसमें त्रिपताका नामक हस्तमुद्रा का भी प्रयोग होता है। भवभूति ने नियतश्राव्य कथावस्तु का प्रयोग मालतीमाधव में कथा की मांग के अनुरूप ही किया है। अनावश्यक इसकी योजना कर कथानक में कृत्रिमता नहीं लायी गयी है।

अध्ययन का उद्देश्य

इस शोध-पत्र में नाट्यधर्म की दृष्टि से किये गये कथावस्तु के तीन भेदों में से तृतीय भेद नियतश्राव्य का भवभूतिकृत प्रकरण 'मालतीमाधव' में नाटकीय महत्ता पर प्रकाश डालने की चेष्टा की गई है।

शोध-प्रविधि

प्रस्तुत शोध आलेख में भवभूतिकृत प्रकरण में नियतश्राव्य के अन्तर्गत आने वाले जनान्तिक एवं अपवारित का प्रयोग कथावस्तु में आवश्यकता के अनुरूप हुआ है - इस विषय पर विश्लेषणात्मक विवेचना प्रस्तुत करने का मेरे द्वारा एक छोटा-सा प्रयास किया गया है।

तथ्य-विश्लेषण

वाचिक अभिनय का मूलाधार संवाद है। संवाद के बिना वाचिक अभिनय का कोई अस्तित्व ही नहीं। किसी भी रूपक की सफलता प्रायः उसमें नियोजित संवाद पर ही निर्भर करती है। नाट्य में संवाद का ही प्रयोजन होता है, क्योंकि नाटक के पात्र संवाद के माध्यम से ही अपने मनोभावों को व्यक्त करते हैं। साथ ही उसी से पात्रों का चारित्रिक वैशिष्ट्य उभरता है एवं कथावस्तु का क्रमिक विकास होता है। संस्कृत के नाट्याचार्यों ने 'संवाद' पर विशेष रूप से अपनी क्रिया-प्रतिक्रिया अभिव्यक्त नहीं की है। किन्तु सीताराम चतुर्वेदी ने 'अभिनवनाट्यशास्त्र' नामक अपने ग्रन्थ में इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है - 'नाटकीय संवाद दो या दो से अधिक पात्रों की उस बातचीत को कहते हैं जिसमें दो या दो से अधिक पात्र प्रसंग, आवश्यकता और पद के अनुरूप भाषा में बातें करते हैं।'

संवाद को ही ध्यान में रखते हुए दशरूपककार धनञ्जय ने नाट्यधर्म की दृष्टि से कथावस्तु के तीन भेद किए हैं - प्रकाश, स्वगत तथा नियतश्राव्य। इन तीनों भेदों का मुख्य आधार संवाद ही है। कथावस्तु का वह अंश जिसे सब सुन सकते हैं उसे 'प्रकाश' कहते हैं। जिस अंश को कोई नहीं सुनता, बल्कि पात्र अपने मन के भावों को स्वयं बोलते हैं और स्वयं सुनने का अभिनय करते हैं, उसे 'स्वगत' कहते हैं। जब रंगमंच पर उपस्थित पात्रों से कुछ विशिष्ट पात्र ही किसी पात्र के संवाद को सुनते हैं तब उसे 'नियतश्राव्य' कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है - जनान्तिक और अपवारित।

द्वधान्यन्नाट्यधर्माख्यं जनान्तमपवारितम्। (धनञ्जय, दशरूपक, 1/65)

जब रंगमंच पर अनेक पात्र उपस्थित रहें, किन्तु उनमें से मात्र दो पात्र आपस में इस प्रकार मंत्रणा करें कि रंगमंच पर उपस्थित अन्य पात्र उसे नहीं सुन सकें और दर्शकों की ओर अनामिका को छोड़कर, शेष तीन अंगुलियों से यह निर्दिष्ट कर दे कि केवल दर्शकगण ही उनकी बातों को सुन पायें हैं -

त्रिपताकाकरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम्।

अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम्॥

(धनञ्जय, दशरूपक, 1/65, 66)

जब कोई पात्र रंगमंच पर उपस्थित अन्य पात्रों की ओर से मुँह मोड़कर किसी दूसरी दिशा की ओर उससे छिपाकर किसी रहस्य की बात करें तब उसे अपवारित कहते हैं -

रहस्यं कथ्यतेऽन्यस्य परावृत्यापवारितम्। (धनञ्जय, दशरूपक, 1/66)

प्रकरण मालतीमाधव में कथावस्तु के क्रमिक विकास, पात्रों के चारित्रिक वैशिष्ट्य को उभारने एवं रस-सम्प्रेषण हेतु भवभूति ने नियतश्राव्य संवाद की योजना में अपनी नाट्यकला-निपुणता का परिचय दिया है। दस अंकों के इस प्रकरण में मात्र द्वितीय, चतुर्थ एवं दशम अंक में जनान्तिक संवाद की योजना की गई है।

द्वितीय अंक के अंत में ही तीन बार जनान्तिक संवाद आए हैं। प्रथमतः रंगमंच पर अवलोकिता कामन्दकी, लवङ्गिका तथा मालती उपस्थित हैं। किन्तु लवङ्गिका मात्र मालती को सुनाती हुई जनान्तिक संवाद में कहती है - 'सखि मालति! साम्प्रतं भगवत्याः सकाशात्तस्य महानुभावस्योद्गमं जानीमः।' (भवभूति, मालतीमाधव, द्वि.अं., पृ. 114)। तदुपरान्त मालती पुनः जनान्तिक संवाद के माध्यम से ही लवङ्गिका को कहती है - 'अस्ति मे कौतूहलम्' (मालतीमाधव, द्वि.अं., पृ. 114)। इन दोनों सखियों का जनान्तिक संवाद मालती का माधव के प्रति आसक्ति को अभिव्यक्त करता है। इस तथ्य से सामाजिक भी अवगत हो जाते हैं। जब दोनों सखियों को कामन्दकी द्वारा माधव के जन्मवृत्तान्त की कथा मालूम हो जाती है, तब वे दोनों पुनः जनान्तिक संवाद के माध्यम से अपनी प्रसन्नता का प्रदर्शन करती हैं तथा महाकुलोत्पन्न माधव की तुलना पारिजात से करती हैं-

मालती (सानन्दं जनान्तिकम्) - सखि लवङ्गिके, श्रुतं महाकुलप्रसूतो महाभाग इति।

लवङ्गिका (जनान्तिकम्) - सखि, कुतो वा महोदधि वर्जयित्वा पारिजातस्योद्गमः।

-(भवभूति, मालतीमाधव, द्वि.अं., पृ. 119)

ये दोनों संवाद सामाजिकों को आनन्द देने वाले हैं, क्योंकि उनके मन में जो दुविधा थी कि माधव किस कुल में उत्पन्न हुआ है, उसका विवाह मालती के साथ हो सकता है या नहीं - वह शांत हो जाती है। माधव उच्च कुलोत्पन्न है, इसलिए उसका विवाह मालती से हो सकता है। चतुर्थ अंक के प्रारम्भ में व्याघ्र से लड़ने के क्रम में मूर्च्छित हुए मकरन्द की चेतना जब लौट आती है तब सभी अतिप्रसन्न होते हैं और उसी क्षण मद्यन्तिका का हृदय मकरन्द की ओर आकर्षित हो जाता है। तब बुद्धरक्षिता मद्यन्तिका से जनान्तिक संवाद में कहती है -

बुद्धरक्षिता (जनान्तिकम्)- सखि मद्यन्तिके! एष एव सः।

-(भवभूति, मालतीमाधव, च.अं., पृ. 173)

इस संवाद का भाव यह है कि जिस पुरुष से मद्यन्तिका प्रेम करती है, वह वीर, पराक्रमी पुरुष मकरन्द ही है। इस संवाद से प्रेक्षकों को भी मद्यन्तिका-मकरन्द के प्रेम के विषय में जानकारी हो जाती है। कामन्दकी को निर्दिष्ट कर कहा गया लवङ्गिका का जनान्तिक संवाद -

लवङ्गिका (जनान्तिकम्)- भगवति! यथा हृदयमरितोद्गमद्विस्मयानन्दसुन्दर-

घृणितधीरपर्यन्तमनोहराः पर्यस्यन्ते मद्यन्तिकामकरन्दयोर्दलितनीलोत्पलमांसलच्छवयो दृष्टिसंभेदाः, तथा मन्ये मनोरथनिर्वृत्तसमागमावेताविति

(भवभूति, मालतीमाधव, च.अं., पृ. 179-180)।

- इस तथ्य को और अधिक पुष्ट करता है। दर्शकों को भी दोनों की प्रेमासक्ति पर पूर्ण विश्वास हो जाता है।

दशम अंक के अन्त में सौदामिनी जब मालती, मकरन्द और माधव के समक्ष भूरिवसु और देवरात की संतानों का परस्पर सम्बन्ध रूप मनोरथ पूर्ण होने की बात करती है तब मालती को तो

आश्चर्य होता ही है, साथ ही मकरन्द और माधव उत्सुकतावश कामन्दकी से पूछते हैं कि हमारा विवाह तो चोरी से हुआ है और सौदामिनी का वाक्यक्रम दूसरे ही प्रकार का है। उनकी बातों को सुनकर लवङ्गिका कामन्दकी से जनान्तिक संवाद में पूछती है -

‘लवङ्गिका (जनान्तिकम्)- भगवति! किं प्रतिपत्तव्यम्’।

- (भवभूति, मालतीमाधव, द.अं., पृ. 471)।

लवङ्गिका की शंका और सामाजिकों की शंका एक ही है। इस जनान्तिक को सुनकर सामाजिक सोच में पड़ जाते हैं कि अब आगे क्या होगा? यह संवाद अत्यल्प है किन्तु सारगर्भित है, क्योंकि प्रकरण के अन्त तक दर्शकों की जिज्ञासा बनी हुई है। कथावस्तु का अन्त क्या होगा और कैसे होगा? - इन दोनों प्रश्नों को जानने के लिए दर्शक अथवा श्रोता दोनों कथानक से बँधे हुए हैं।

अपवारित संवाद की योजना भी आवश्यकतानुसार की गई है। द्वितीय अंक में जब कामन्दकी माधव के जन्म-वृत्तान्त की कथा कहने के क्रम में माधव के बाल्यावस्था के अप्रतिम सौन्दर्य का वर्णन करती है तब लवङ्गिका अपवारित संवाद में मालती को कहती है -

कामन्दकी (अपवार्य)- अवलोकिते, साधु सम्प्रति मया तटस्थैव मालतीं प्रति निसृष्टार्थं दूत्यस्य लघुकृतो भारः। कुतः -

वरेऽन्यस्मिन्दोषः पितरि विचिकित्सा च जनिता

पुरावृत्तोद्गारैरपि च कथिता कार्यपदवी।

स्तुतं माहाभाग्यं यदभिजनतो यच्च गुणतः

प्रसङ्गाद्गतस्येत्यथ खलु विधेयः परिचयः॥

-(भवभूति, मालतीमाधव, द्वि.अं., पृ. 121 एवं 2/13)

- में मालती-माधव के विवाहरूपी कार्ययोजना की अर्ध-सफलता के सम्बन्ध में बताती है। अर्ध-सफलता से तात्पर्य है - नन्दन के दोषों का बखान कर मालती के मन में उसके प्रति अश्रद्धा उत्पन्न करना। साथ ही माधव के प्रति आसक्ति एवं शकुन्तला आदि का उदाहरण देते हुए गान्धर्व विवाह को न्यायोचित ठहराना। इन सारी बातों से सामाजिक भी आश्चस्त हो जाते हैं कि अब मालती, माधव से गान्धर्व विवाह के लिए मान जाएगी एवं दोनों का विवाह बहुत हद तक सम्भव है।

चतुर्थ अंक में बुद्धरक्षिता से मद्यन्तिका अपवारित संवाद में कहती है -

सखि बुद्धरक्षिते! अपि पुनर्द्रक्ष्यत एष जीवितप्रदायी पुण्डरीकलोचनः।

-(भवभूति, मालतीमाधव, च.अं., पृ. 182)

मद्यन्तिका यद्यपि अपने मनोभाव को बुद्धरक्षिता के समक्ष व्यक्त करती है किन्तु इस संवाद को सुनने वाले दर्शक-बन्धु मकरन्द के प्रति मद्यन्तिका की प्रेमासक्ति से अभिज्ञ हो जाते हैं। किन्तु मद्यन्तिका द्वारा उठायी गयी शंका, कि अब आगे मकरन्द से भेंट होगी या नहीं, सामाजिकों के लिए भी शंका का विषय बन जाता है। फलस्वरूप आगे कथावस्तु जानने की इच्छा और अधिक बलवती हो उठती है। नन्दन से मालती का विवाह निश्चित हुआ है- यह जानकर माधव का आशारूपी बन्धन टूट जाता है। अपनी अन्तर्पीड़ा को वह कामन्दकी से अपवारित संवाद में कहती है - (अपवार्य)

चिरादाशात्तन्तुस्त्रुटतु बिसिनीसूत्राभिदुरो

महानाधिव्याधिनिरवधिरिदानीं प्रसरतु।

प्रतिष्ठामव्याजं ब्रजतु मयि परिप्लवधुरा

विधिः स्थैर्यं धत्तां भवतु कृतकृत्यश्च मदनः॥

-(भवभूति, मालतीमाधव, 4/3)

इस संवाद से माधव का वियोगी रूप तथा मालती के प्रति उसकी पूर्णासक्ति दृष्टिगत होती है। मालती की मनोदशा भी माधव की तरह ही हो गई है। मालती माधव को अपवारित संवाद में कहती है - 'महानुभाव लोचनानन्दकर, एतावद् दृष्टोऽसि' (भवभूति, मालतीमाधव, च.अं., पृ. 191)। यह संवाद दोनों की प्रेमासक्ति की चरम सीमा को प्रकट करता है।

पंचम अंक में श्मशान-भूमि में नर-मांस बेचते हुए माधव, मालती का करुण क्रन्दन सुनता है। उस आवाज को सुनकर विरह में प्रमत्त माधव वहाँ पहुँच जाता है। उसके विरही रूप को देख मालती माधव से अपवारित संवाद में कहती है -

(अपवार्य) कथं मम कारणादेवैत आत्मनिरपेक्षं परिभ्रमन्ति।

-(भवभूति, मालतीमाधव, पं.अं., पृ. 241)

इस संवाद में मालती के प्रेम में माधव का प्रमत्त होकर श्मशान भूमि में घूमना उसके प्रेमी रूप का चरमोत्कर्ष है। प्रेक्षक भी समझ लेते हैं कि वह मालती के लिए कुछ भी कर सकता है। उसके इस रूप को देखकर दर्शकों को इतना आश्वासन तो अवश्य मिल जाता है कि कथानक का अन्त मालती-माधव के सुखद मिलन से होगा। उनकी यही सोच अन्त तक इस नाटक को जोड़े रखता है।

निष्कर्ष

सम्पूर्ण मालतीमाधव में भवभूति ने मात्र पंचम अंक तक ही नियतश्राव्य के अन्तर्गत जनान्तिक एवं अपवारित का प्रयोग किया है। जहाँ भी इसकी योजना की गई है, उसकी अपनी नाटकीय महत्ता है। कहीं भी ये संवाद दीर्घकाय नहीं है, बल्कि कम शब्दों में संयोजित ये संवाद सारगर्भित हैं। कथावस्तु के विकास में भी इनका प्रमुख योगदान रहा है। इतना ही नहीं, आधुनिक नाट्याचार्यों की दृष्टि से कृत्रिम माने जाने वाले नियतश्राव्य संवाद पात्रों की आन्तरिक मनोदशा को प्रेक्षकों के समक्ष बखूबी पहुँचाने में स्वाभाविक रूप से सफल सिद्ध हुए हैं।

संदर्भ:

1. भरत, नाट्यशास्त्र, प्रथम भाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वि.सं. 2028
2. भरत, नाट्यशास्त्र, द्वितीय भाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वि.सं. 2032
3. धनञ्जय, दशरूपक, मोतीलाल बनारसीदास, 1979
4. सागरनन्दी, नाटकलक्षणरत्नकोश, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वि.सं. 2028
5. चतुर्वेदी, सीताराम, अभिनवनाट्यशास्त्र, किताबमहल, 15 थार्म हिल रोड, इलाहाबाद, 1985
6. सिंह, सत्यव्रत, साहित्यदर्पण, चौखम्बा विद्याभवन, 1982
7. झा, श्याम सीताराम, नाटक और रंगमंच, प्रथम संस्करण, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना
8. भवभूति, मालतीमाधवम्, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण, वि.सं. 2062
9. भारती, अमृता, भवभूति, भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम संस्करण, 2000

वर्तमान युग में श्रीमद्भगवद्गीता की प्रासंगिकता

डॉ० बबीता सिंह

व्याख्याता, पी०के० डिग्री कॉलेज, छपरा

महाभारत के 'भीष्मपर्व' के अट्टारह अध्यायों का एक अंश श्रीमद्भगवद्गीता के नाम से सुविख्यात है। कुरुक्षेत्र के युद्ध में कृष्ण के द्वारा अर्जुन को दिये गये उपदेशों के रूप में यह सात सौ श्लोकों में निबद्ध है। गीता-माहात्म्य में कहा गया है कि सभी उपनिषद् गाय हैं और कृष्ण दूध निकालने वाले दोग्धा हैं। अर्जुन बछड़ा है और उससे निकलने वाला दूध गीता रूपी अमृत है।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः

पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।

गीता केवल एक आचारमीमांसीय ग्रन्थ ही नहीं है। अपितु इसमें तत्त्व-मीमांसा का भी प्राचुर्य है। वेदान्त दर्शन की प्रस्थानत्रयी में इसे अत्यन्त विशिष्ट स्थान प्राप्त है। इसकी महत्ता को प्रतिपादित करते हुये स्वयमेव श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है- 'गीता में हृदयं पार्थ'। गीता में संवादात्मक शैली में मानव-जीवन की नैतिक, व्यावहारिक तथा आध्यात्मिक इन तीनों प्रकार की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया गया है। इसमें मुख्यतः उपनिषद्, सांख्य, कर्ममीमांसा, योग, पाश्चरात्र तथा वेदान्त के दार्शनिक तत्त्वों का विलक्षण समन्वय दीखता है। तभी तो प्राच्य और पाश्चात्य विद्वानों ने इसे एक स्वर से मानवधर्म का ग्रन्थ कहा है।

महाभारत के युद्ध आरम्भ होने से पूर्व प्रतिपक्ष में जब अर्जुन अपने सगे सम्बन्धियों, गुरुजनों और भाइयों को देखता है तो युद्ध से विरत होना चाहता है। उसके सारथी कृष्ण उसे अज्ञानता से निवृत्त कराने हेतु कहते हैं- यह आत्मा नित्य अजन्मा और अमर है कोई इसे मार नहीं सकता। शरीर नश्वर है अतः किसी न किसी बहाने उसे नष्ट हो ही जाना है। अतएव कर्तव्य (स्वधर्म) का पालन ही सर्वोचित है। अन्याय देखकर मौन रहना अधर्म है। पलायन तो सबसे बड़ा पाप है। भारतीय परम्परा कुरुक्षेत्र के मैदान को धर्मक्षेत्र कहती है और इस युद्ध को धर्मयुद्ध के रूप में देखती है। वास्तव में गीता के उपदेश का मुख्य प्रयोजन युद्ध के रूपक को सामने रखकर जीवन की समस्या को हल करके न्यायोचित आचरण की प्रेरण देना है। व्यापक दृष्टि से विचार करने पर कुरुक्षेत्र का मैदान जीवन संग्राम एवं जीवन के अन्तर्द्वन्द्व को उपलक्षित करता है। यहाँ अर्जुन मानवमात्र का प्रतिनिधि है जो जीवन संग्राम में किंकर्तव्यविमूढ़ है। वह अपने कर्तव्य-अकर्तव्य के बीच अनिर्णय का शिकार है।

उल्लेखनीय है कि प्रत्येक मनुष्य के जीवन में ऐसी परिस्थितियाँ आती हैं जब वह स्वयं को दुविधा की स्थिति में पाता है ऐसे में वह एक ज्ञानी गुरु की आवश्यकता अनुभव करता है जो उसे कर्तव्य पथ का ज्ञान करा सके। अर्जुन को माध्यम बनाकर कृष्ण ने मानवमात्र को कर्तव्य का ज्ञान प्रदान करने का स्तुत्य कार्य किया है। वह प्रत्येक मानव को सावधान करता है कि क्षणिक आवेश में बहकर कर्तव्यच्युत न हो जाओ। निश्चय ही गीता का यह उपदेश सभी काल और परिस्थितियों के लिये सर्वथा ग्राह्य है। इसके द्वारा मानव समाज को दी गयी धार्मिक सहिष्णुता की शिक्षा आज

भी अनुकरणीय है। यह आद्योपान्त धार्मिक सहिष्णुता की भावना से ओत-प्रोत है जो हिन्दुत्व की प्रमुख विशेषता है। इसके उपदेशक ने किसी धार्मिक सम्प्रदाय की स्थापना नहीं की है और न ही वह किसी धार्मिक आंदोलन का नेता है।

गीता की सभी उपासना-पद्धतियों के साथ सहानुभूति है। इसका उपदेशक स्पष्टतः यह घोषित करता है कि, जो भक्त जिस देवता को श्रद्धा से पूजना चाहता है मैं उसकी श्रद्धा को उसी में दृढ़ करता हूँ और वह उसी से अपने इच्छित भोगों को प्राप्त करता है। वह पुनः घोषित करता है कि श्रद्धा से युक्त होकर जो अन्य देवताओं को पूजते हैं वे भी मुझे ही पूजते हैं, यद्यपि उनकी यह पूजा विधिपूर्वक नहीं है। इस प्रकार आज के सामाजिक एवं राजनैतिक परिवेश में जहाँ मजहब और ईश्वर के नाम पर लोग एक दूसरे के खून के प्यासे दिखाई देते हैं गीता की धार्मिक सहिष्णुता एवं पंथ-निरपेक्षता का दर्शन और भी प्रासंगिक हो जाता है।

गीता के निष्काम कर्मयोग की उपयोगिता आज भी निर्विवाद है- गीता के कर्मयोग का अर्थ है निष्ठापूर्वक अपने सामाजिक कर्तव्यों का पालन करना। वास्तव में गीता कर्मयोग के प्रसंग में प्रत्येक व्यक्ति से यह आग्रह करती है कि वह अपने वर्णगत कर्तव्यों का, उन सामाजिक दायित्वों का निष्ठापूर्वक पालन करे जो समाज में एकता लाने एवं उसे अक्षुण्ण रखने के लिये साधनस्वरूप है। गीता का कर्मयोग निष्काम कर्मयोग है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफलहेतुर्भूः मा तेऽसंगोस्त्वकर्मणि॥

2/47 श्रीमद्भगवद्गीता

तात्पर्य यह है कि हम कर्म को सदैव साध्य के रूप में देखें, उसे कभी भी साधन के रूप में ग्रहण न करें। हम कर्म तो करें किन्तु कर्मफल में आसक्ति न रखें। हम कर्म करने से पहले तथा कर्म करते समय भी उससे प्राप्त होनेवाले फल के विचार को मन में कदापि न लायें। गीता के अनुसार जो कर्म फलाकांक्षा की भावना से किये जाते हैं वे बन्धनकारी होते हैं और जो कर्म फलाकांक्षा की भावना का परित्याग करके किये जाते हैं वे बन्धनकारी न होकर मोक्ष प्रदायक होते हैं। गीता सकाम भाव से किये जानेवाले कर्मों के दुष्परिणामों को भी रेखांकित करती है। इसके अनुसार सकाम होकर कर्म करने से फल में आसक्ति उत्पन्न होती है, आसक्ति से आकांक्ष जन्म लेती है। आकांक्षा से क्रोध और क्रोध से मोह उत्पन्न होता है। मोह से स्मृति नष्ट होती है और समृति-नाश से बुद्धि नष्ट होती है। बुद्धि नष्ट होने से सबकुछ नष्ट हो जाता है।

गीता इसी प्रसंग में संन्यास और त्याग में भेद करती है। उसके अनुसार ऐसे सभी कर्मों का त्याग जो फलाकांक्षा से किये जाते हैं संन्यास है तथा कर्मों के फलों का परित्याग त्याग है। कर्म को अकर्म से श्रेयस्कर बताते हुये निष्काम भाव से कर्तव्य कर्म के सम्पादन का आदेश गीता की अपनी सार्वभौम विशेषता है। वर्तमान भारतीय परिवेश में जहाँ सर्वत्र भ्रष्टाचार और अनाचार का बोलबाला है, निष्काम कर्मयोग की उपयोगिता और भी बढ़ जाती है। उल्लेखनीय है कि राजनीति और प्रशासनिक सेवायें समाज सेवा के साधन हुआ करती हैं किन्तु आज इसकी विश्वसनीयता भी संदिग्ध हैं और समाज सेवा का साध्य अप्राप्त्य है। यदि कम-से-कम हमारा वर्तमान नेतृत्व और सेवा संवर्ग ही निष्काम भाव से योजनाओं का निर्माण एवं कार्यान्वयन करे तो लोक सेवा का लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है।

लोकसंग्रह का आदर्श तथा स्वधर्म: गीता पुरुषोत्तम एवं मुक्तात्माओं को लोक कल्याण हेतु प्रयासरत दिखाकर मानवमात्र को लोक-कल्याण हेतु प्रेरित करती है। गीता ने इस सन्दर्भ में आदर्श वर्णव्यवस्था के रूप में स्वधर्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके ऊँच-नीच के भेदभाव और अनावश्यक प्रतिस्पर्धा को दूर करने का आदेश दिया है। इसमें शाश्वत नैतिक व्यवस्था को स्वीकार किया जाता है। गीता प्रत्येक व्यक्ति से यह आग्रह करती है कि वह जगत् की शाश्वत नैतिक व्यवस्था को सुदृढ़ करे जिससे लोकसंग्रह या लोककल्याण में कोई व्यवधान न हो। इसके अनुसार समाज का प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक कार्य को सम्यक्तया नहीं कर सकता अतः सृष्टि के प्रारम्भ में ही भगवान् वासुदेव ने विविध गुण-कर्मों के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन चार वर्णों को आविर्भूत किया था। कृष्ण के अनुसार जिस वर्ण का जो स्वाभाविक धर्म है वही उसका स्वधर्म तथा उसके लिये वही कल्याणप्रद है। गीता द्वारा प्रतिपादित यह व्यवस्था परिवर्तित रूप में आज भी विद्यमान है। आधुनिक युग में जबकि लोग अपने कर्तव्यों को भूलकर अधिकारों के लिये लड़ रहे हैं गीता द्वारा अपने वर्णगत कर्मों (स्वधर्म) के पालन का आदेश और भी समीचीन हो जाता है।

शमो दमस्तपः शौचं शान्तिरार्जवमेव च।

ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्मस्वभावजम्॥

18/42 श्रीमद्भगवद्गीता

गीता में विशिष्ट दार्शनिकता: गीता का दार्शनिक सिद्धान्त है कि असत् का भाव नहीं हो सकता और जो सत् है उसका कभी अभाव नहीं होगा। जिस प्रकार कोई व्यक्ति पुराने वस्त्रों का त्याग कर नये वस्त्रों को धारण करता है उसी प्रकार आत्मा भी पुराने शरीर का त्यागकर नये शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। शुद्ध आत्मा अथवा ब्रह्म ही सत्य है जो त्रैकालिक है। शरीर नश्वर है किन्तु शरीर के साथ आत्मा का नाश नहीं होता।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोपराणि।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

2/22 श्रीमद्भगवद्गीता

स्थितप्रज्ञ की अवधारणा: गीता में आत्मसाक्षात्कार या ईश्वरलाभ करनेवाले व्यक्ति को स्थितप्रज्ञ कहा गया है। गीता स्थितप्रज्ञ के आदर्श को मानवजीवन की सर्वोच्च अवस्था और सर्वोच्च मूल्य मानती है। इस अवस्था में मानव की प्रज्ञा या बुद्धि स्थिर हो जाती है। यह जागृत अवस्था की समाधि है। इस अवस्था में परमात्मा के साथ अखण्ड सम्बन्ध स्थापित होता है और सभी कार्यों को करते हुये भी अकर्तापन का अनुभव होता है। इस अवस्था को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति ईश्वर के पद को प्राप्त करता है और पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्त हो जाता है। स्थितप्रज्ञ में सभी कामनाओं एवं वासनाओं का परित्याग हो जाता है। इसमें शुद्ध एवं अशुद्ध दोनों प्रकार की वासनाओं का त्याग शामिल है। सत्त्व की गणना शुद्ध वर्ग में आती है, रजस् एवं तमस् की गणना अशुद्ध वर्ग में की जाती है। स्थितप्रज्ञ दोनों प्रकार की वासनाओं एवं कामनाओं से रहित होता है। वह सदैव अपने में अपने से ही सन्तुष्ट रहता है। सात्त्विक वासनाओं का त्याग ईश्वरभक्ति से ही सम्भव है। सच्ची भक्ति होने पर वह निरन्तर परमानन्द में डूबा रहता है।

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्यार्थ मनोगतान्।

आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥

2/55 श्रीमद्भगवद्गीता

स्थितप्रज्ञ दुःखों में अनुद्विग्न चित्त एवं सुखों में स्पृहरहित (अनासक्त) होता है। चूँकि उद्विग्नता, राग, भय एवं क्रोध से उत्पन्न होती है एवं राग, भय तथा क्रोध इच्छाजन्य है। पुनः चूँकि स्थितप्रज्ञ सभी कामनाओं से रहित होता है। अतः वह अनुद्विग्न चित्त होता है। उसकी आसक्ति केवल ईश्वर में होती है और जगत् के प्रति अनासक्त रहता है, क्योंकि जगत् के सभी पदार्थ अनित्य होते हैं-

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।

वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥

2/56 श्रीमद्भगवद्गीता

स्थितप्रज्ञ शुभ और अशुभ प्रिय एवं अप्रिय, सभी स्थितियों में तटस्थ रहता है, क्योंकि वह समझता है कि ये सभी स्थितियाँ ईश्वर के अधीन हैं। इस कारण वह शुभ और प्रिय स्थिति के प्राप्त होने पर प्रसन्न नहीं होता तथा अशुभ और अप्रिय स्थितियों में दुःखी भी नहीं होता। वह जितेन्द्रिय होता है। उसकी ग्यारह इन्द्रियाँ (पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय एवं मन) उसके नियन्त्रण में होती हैं। वर्तमान सन्दर्भ में भी स्थितप्रज्ञ की अवधारणा का और भी अधिक महत्त्व है। सम्प्रति काम, क्रोध, लोभ, मोह, हिंसा, स्वार्थपरकता आदि अनेकानेक समस्याओं के समाधानार्थ स्थितप्रज्ञ की अवधारणा रामबाण है।

निष्कर्षः इस प्रकार किसी विद्यार्थी को जीवन में सफल होने के लिये शिक्षा के जिन उद्देश्यों की प्राप्ति अपेक्षित मानी जाती है उसकी प्रतिपूर्ति गीता आवश्यक रूप से कर देती है। गीता एक व्यापक अवधारणा है जो जीवन के प्रत्येक पहलू से सम्बद्ध है और जीवन का प्रत्येक पहलू गीता में मुखर हुआ है। भौतिक जीवन को आध्यात्मिक जीवन में बदलने के लिये इसमें शाश्वत् उपदेश हैं। यह नूनमेव सार्वकालिक और सार्वदेशिक है।

सन्दर्भ ग्रन्थसूची:

1. महाभारततात्पर्यनिर्णय 1, 69-70
2. डा. राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन भाग 2
3. भारतीय दर्शन की समीक्षात्मक रूपरेखा- राममूर्ति पाठक
4. भारतीय दर्शन - बलदेव उपाध्याय - 64-78
5. भारतीय दर्शन - हरेन्द्र कुमार - 37, 38
6. श्रीमद्भगवद्गीता मूल - गीता प्रेस, द्वितीय अध्याय पंच, अष्टादश
7. डा. हरेन्द्र प्र. सिन्हा-धर्मदर्शन की रूपरेखा

वेदकालीन वस्त्र एवं परिधान

डॉ० नमिता कुमारी

जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा

वेद भारतीय संस्कृति और सभ्यता का आधार है। वैदिक साहित्य के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि वैदिक काल में वस्त्र उद्योग पर्याप्त उन्नत अवस्था में था। वैदिक कालीन आर्यों के वस्त्र और परिधान ऊनी, सूती और रेशमी हुआ करते थे। अजिन और कुश के बने वस्त्रों के पहनने की प्रथा यज्ञ के पवित्र अवसर पर थी किन्तु यह वैदिक युग का साधारण परिधान न था। किसी प्राचीन काल के परिधान की बहुमूल्य स्मृति के रूप में ही अजिन और कौशेय वस्त्र व्यवहार में लाये जाते थे, साधारण अवसरों पर नहीं। ऋग्वेद में अनेक मंत्रों में अजिन-परिधान का उल्लेख प्राप्त होता है, जिसमें मरुद्गण मृगाजिन धारण किये हुए वर्णित है।¹ ऋग्वेद में 'सुवासस्' तथा 'सुवसन्' शब्दों का प्रयोग आर्यजनों की वस्त्रपरिधान में विशेष-अभिरुचि द्योतित करता है।² शरीर के निचले भाग में धारण किया जाने वाला वस्त्र 'वासस्'³ तथा ऊपरी भाग में धारण किया जाने वाला वस्त्र 'अधिवासस्'⁴ कहलता था। ओढ़ने के काम आने वाली चादर के लिए पर्याणहन शब्द का प्रयोग होता था।⁵

'नीर्विकरोति' जैसे वाक्य नीवि शब्द से अन्तर्वस्त्र या (पेटीकोट) का भाव प्रकट करते हैं। शरीर के ऊपरी भाग को ढकने के लिए दो प्रकार के वस्त्रों का प्रयोग होता था, प्रथम ढीला चोंगे जैसा कपड़ा पहनना इसके लिए पर्याणहन, अधिवास और उपावसन शब्द प्राप्त होते हैं। द्वितीय शरीर से चिपकने वाले कुर्ते आदि के तुल्य वस्त्र पहनना। इसके लिए वैदिक ग्रंथों में 'प्रतिधि' 'द्रापि'⁶ तथा अब तक शब्दों का प्रयोग मिलता है। अथर्ववेद में वर्णित नवबन्धु का 'उपपासन' चादर ही प्रतीत होता है।⁷ मुद्गलानी का जो वस्त्र हवा के झोंकों में उड़ा करता था वह भी उत्तरीय प्रतीत होता है।⁸ मुनिजन भी परिधान का प्रयोग करते थे। बालखिल्य सूक्तों में एक स्थान पर ऋषि कृष ने प्रस्कण्व राजा की दान स्तुति की है—जिसमें सौ सफेद बैलों, सौ कुत्तों, चार सौ लाल घोड़ियों के साथ-साथ एक सौ विशुद्ध अजिन के दान की चर्चा की गई है।⁹ शतपथ ब्राह्मण में अजिन पहनने वाले पुरुषों का वर्णन किया गया है—'अजिनवासिन्। ऐतरेयब्राह्मण में वर्णन प्राप्त होता है कि दीक्षित पुरुषों को दीक्षा के अवसर पर अपने वस्त्र के ऊपर मृगचर्म (कृष्णाजिन) धारण करना चाहिए।¹⁰ शरीर के ढक जाने पर भी कृष्णाजिन धारण करने के विधान से भी यह सूचित होता है कि प्राचीनता तथा पवित्रता का ध्यान रखकर शुभ अवसरों पर इस पवित्र वस्त्र का प्रयोग वैदिक समाज को अभीष्ट था। इस प्रकार सोम यज्ञ के अवसर पर दीक्षित यजमान को बांस के बने मण्डप में रहने तथा दीक्षित यजमान-पत्नी को अधोवस्त्र के ऊपर कुश के बने वस्त्र धारण करने की विधि ब्राह्मणों में दी गई है—कौशंवासः परिधाययति।¹¹ वैदिक आर्यों के साधारण वस्त्र ऊन (ऊर्णा) रेशम तथा सूत के बने होते थे। सूती वस्त्र के लिए 'वासस्' शब्द का प्रयोग किया गया है—वासस्¹² रेशमी वस्त्र के लिए तार्य्य शब्द प्राप्त होता है—वसानस्तार्य्यचर।¹³ यह तृषा नामक तन्तुओं से बनता था। गोल्ड स्टूकर तथा एंगलिंग ने भी तार्य्य का अर्थ रेशमी वस्त्र या क्षौम वस्त्र से लिया है।¹⁴ परुष्णी तथा सिन्धु नदियों के प्रदेश ऊन की पैदावार के लिए तथा ऊनी शिल्प के लिए विख्यात थे। मरुद्गण परुष्णी के बने शुद्ध रंगे हुए ऊनी वस्त्र धारण किये वर्णित किये गये हैं—उत स्मते परुष्णयामूर्णा बसत शुन्ध्यव।¹⁵ ऋग्वेद और यजुर्वेद में ऊन के कोमल वस्त्रों के लिए 'ऊर्णमद्रस्' शब्द का प्रयोग हुआ है।¹⁶

रेशमी वस्त्रों का प्रयोग वैदिक यज्ञ एवं अनुष्ठान के अवसरों पर विशेष रूप से किया जाता था। अथर्ववेद के अनुसार मृतक के शरीर में तार्य वस्त्र धारण करा देना चाहिए, जिससे यमगृह गमन करते समय मृतक अच्छे अच्छे वस्त्रों में अंतिम यात्रा करे।¹⁷ सायणभाष्य के अनुसार 'तार्य' तृण या त्रिपर्य नामक लताओं के सूत से बना हुआ क्षौम वस्त्र था।¹⁸

वैदिक ग्रंथों में वर्णित वासस् (वस्त्र) सूत का बना हुआ था। वैदिक काल में बुनकारी कला उन्नत स्थान पर पहुंच गयी थी, क्योंकि मंत्रों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि मर्दानी धोतियों के अतिरिक्त अत्यधिक कीमती जनानी साड़ियां भी तैयार की जाती थी, जिनमें किनारा, झालर तथा कारचोबी का कार्य किया रहता था। साड़ियों पर सुई से पुष्प-सज्जा तथा बेल-बूटे काढ़े जाते थे, जिससे इस काल की विशिष्ट उन्नति का पता चलता है। धार्मिक कृत्यों के अवसर पर कोरे वस्त्र धारण करने की प्रथा थी, किन्तु प्रतिदिन के व्यवहार में धुले हुए श्वेत वस्त्रों को धारण करने का प्रचलन था। कमनीय कलेवर वाली युवतियां सुनहले तार की बनी जरी के काम वाली रंगीन साड़ियां पहना करती थीं। पुरानी युवती, उषा के वस्त्र निरीक्षण से यह तथ्य भली-भांति ज्ञात होता है।¹⁹ वैदिक काल में सिले हुए वस्त्रों को पहनने का प्रचलन भी था। धन संपन्न ऊंचे दर्जे के पुरुष और स्त्रियां शरीर से सटने वाले सुनहले तारों के बने जरी के कामयुक्त द्रापि धारण करते थे, अतः उसे हिरण्य द्रापि कहते थे—हिरण्यद्रापये।²⁰

बेल-बूटे काढ़े हुए परिधान को 'पेशस' कहते थे। ऋग्वेद में इसे हिरण्यपेशस कहा गया है। इन वस्त्रों को दंपति पहनते थे²¹ यजुर्वेद में सोने के तार का काम करने वाली और बेल-बूटे काढ़ने वाली स्त्रियों की 'पेशस्कारी' कहा गया है। इन वस्त्रों के अतिरिक्त वैदिक आर्य माथे पर पगड़ी धारण करते थे। अवसरों की भिन्नता के कारण पगड़ी (उष्णीष) के बांधने के तरीके भी भिन्न-भिन्न थे। ब्राह्मणों के प्रसंग में उनके उष्णीय दिन की भांति चमकने वाले उज्ज्वल और प्रकाशमान होते थे और उसके रात्रि के समान काले-काले केशों को नितान्त सजते थे—अहरूष्णीषंरात्री केशा।²² यज्ञ के अवसर पर राजाओं के उष्णीय धारण का सुंदर उल्लेख है। पगड़ी के अर्थ में प्रयुक्त 'उष्णीय' शब्द का अर्थ 'गर्मी को मारने वाला होता है। यह कई रंगों की होती होगी क्योंकि अभिचार 'शत्रुमारण' आदि के यज्ञों में ऋत्विक् लोग लाल वर्ण की उष्णीय पहनकर काम करते थे—लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति।

अतः वैदिक आर्यों के वस्त्रों एवं उनके पहनने के तरीकों से यह निष्कर्ष निकलता है कि भारत में प्राचीन काल से ही वस्त्र एवं परिधान को महत्व दिया जाता रहा है। वैदिक कालीन समाज सभ्य, समुन्नत एवं सुसंस्कृत था। वैदिक कालीन समाज के लोग सभ्यता के उस स्तर पर पहुंच चुके थे जहां मानव समाज प्रत्येक वस्तु के सौंदर्य और माधुर्य को बढ़ाने के लिए विशिष्ट एवं उन्नत कलाओं की सहायता करता है। जीवन की तीन मूलभूत आवश्यकताओं—भोजन, वस्त्र एवं आवास में से एक वस्त्र में भी हम सब प्राचीन काल से ही काफी उपलब्धि प्राप्त कर चुके थे, ऐसा हम सब गर्व के साथ कह सकते हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. ऋग्वेद-1.66.10
2. प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थ-व्यवस्था पृष्ठ-69-जी० एस० पी० मिश्र
3. ऋग्वेद-1.34.1

4. ऋग्वेद-1.140.9, 1.162.16
5. अथर्ववेद-14.2.12
6. ऋग्वेद-1.25.13
7. ऋग्वेद-10.102.2
8. शत्पथ ब्राह्मण-5.4.4.3
9. बालखिल्य सूक्त-7.2.3
10. ऐतरेय ब्राह्मण-12.1.3
11. शत्पथ ब्राह्मण-5.2.1.8
12. अथर्ववेद-14.1.27
13. अथर्ववेद-8.4.31
14. सूर्यकान्त वैदिक कोश-पृष्ठ-172
15. ऋग्वेद-5.52.9
16. ऋग्वेद-5.5.4, यजुर्वेद-2.2
17. अथर्ववेद-8.4.31
18. सायण भाष्य-
19. ऋग्वेद-8.26.13
20. ऋग्वेद-8.31.8
21. यजुर्वेद-30.9
22. अथर्ववेद-14.2

रामचरितमानस में ग्राम-संस्कृति की अवधारणा

प्रवीन कुमारी

नरेला (दिल्ली)

साहित्य समाज का दर्पण कहा जाता है। जीवन और साहित्य दोनों में ही आनन्द एवं सभ्यता के द्वारा संस्कृति के निर्माण एवं विकास का सतत् प्रयास होता रहा है। काव्य में व्यापक मानवतावादी संस्कृति का चित्रण करना उसे सार्वभौम भूमिका प्रदान करना माना गया है। मानव जीवन के सौंदर्य के निर्माण और विकास की प्रक्रिया को ही संस्कृति कहा जाता है। काव्य जीवन की वास्तविक कटुताओं से बचकर हमें अनुपम संपन्न बनाता है। इसी कोटि में आने वाला काव्य सांस्कृतिक काव्य होता है। ऐसे काव्य का महत्व क्षणिक न होकर शाश्वत होता है, तथा ऐसा काव्य हमें जीने की एक नई दृष्टि प्रदान करता है। भक्त शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास का 'रामचरितमानस' ऐसा ही अमर काव्य है।

'रामचरितमानस' ग्रामीण संस्कृति के पुनर्स्थापन की दिशा में ही एक महती महाकाव्य है। यह महाकाव्य सामाजिक, पारिवारिक, आध्यात्मिक एवं नैतिक जीवन की संस्कृति से आप्लावित करता है। अब हम 'संस्कृति' के बारे में कुछ विचारकों के विचार को जानने और समझने का प्रयास करेंगे।

- (1) डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी-मनुष्य की श्रेष्ठ साधनाएं ही संस्कृति है।¹
- (2) डॉ. वासुदेवसरण अग्रवाल-हमारे जीवन का अंग हमारी संस्कृति है। संस्कृति जीवन के वृक्ष का संवर्द्धन करने वाला रस है।²
- (3) डॉ. रामधारी सिंह दिनकर- संस्कृति जिंदगी का एक तरीका है, और वह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है, जिसमें हम जन्म लेते हैं।³

इस प्रकार निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि 'संस्कृति' मानव जीवन को निरापद एवं स्वामित्व प्रदान करने वाला ही नहीं, अपितु मानव जीवन को उत्कृष्ट बनाने वाले समस्त व्यक्तिगत एवं सामाजिक कार्य-कलापों, विचारों, व्यवहारों, अनुभूतियों एवं आदर्शों का समन्वित रूप है। यह मानव जीवन को पूर्णता प्रदान करने वाला साधन ही नहीं अपितु बाह्य परिस्थितियों के संपर्क से अभिव्यक्त होने वाली मानवोचित गुणों का प्रभावशाली समूह है। 'संस्कृति' वह आधारशिला है, जिस पर मानव जीवन का भव्य भवन टिका हुआ है। संस्कृति के उत्तरोत्तर विकास से ही मानव जीवन में चार चांद लग जाती है।

निसंदेह कहा जा सकता है कि 'संस्कृति' एक सनातन प्रवाह है, जो देश एवं काल की बाह्य परिस्थितियों से प्रभावित होकर नया रूप धारण करते हुए भी अविच्छिन्न गति से सतत् विकासशील रहती है। "संस्कृति" का संबंध मानव जीवन के भौतिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक, दार्शनिक, कलात्मक आदि सभी प्रकार के विकासों एवं जीवन के विभिन्न पहलुओं से है।⁴ अतः किसी भी देश का गांव की संस्कृति से वहां के रहन-सहन, आचार-विचार, रीति-रिवाज, ज्ञान-विज्ञान, जीवन-यापन के ढंग, कला प्रेम एवं परंपरागत अनुभवों का बोध होता है। अगर इस बात को 'रामचरितमानस' जो तुलसीदास का अमर काव्य है, में देखते

हैं तो पाते हैं कि 'रामचरितमानस' में ग्राम संस्कृति पूर्ण रूपेण भरी पड़ी है। 'ग्राम' शब्द 'ग्राम' बन गया। 'ग्राम' शब्द संज्ञा पु. है, जिसका अर्थ गांव या ग्राम हम कह सकते हैं।⁵

अतः 'ग्राम-संस्कृति' का अर्थ हुआ 'गांवों की संस्कृति'। गांवों में किस प्रकार की संस्कृति होती है, वहां के रीति-रिवाज, रहन-सहन तथा खान-पान आदि से बोध होता है। 'ग्राम साहित्य' में निम्नलिखित चीजें आती हैं, और क्या वे सारी चीजें तुलसीदास के 'रामचरितमानस' में हैं, तो वह कैसे इसी का आकलन करना ही प्रस्तुत निबंध की सार्थकता और प्रयोजन है। पहले हम 'ग्राम संस्कृति' में जो चीजें आती हैं, उसके आधार पर तुलसीदास के 'रामचरितमानस' को कसने का प्रयास होगा—

1. सोहर के गीत।
2. मुण्डन के गीत।
3. जनेऊ के गीत।
4. नहछू संस्कार और
5. विवाह के गीत आदि।

गोस्वामी तुलसीदास ने अपने 'रामचरितमानस' में इन सारे ग्रामीण परिवेशों का वर्णन किया है, उसे हम देखने का प्रयास करेंगे। 'सोहर' जिसे कहीं-कहीं 'सोहिलों' भी कहते हैं, उस गीत का नाम है, जो पुत्र-जन्म के अवसर पर गाया जाता है, अब जरा 'सोहर' के गीतों को भी देखा जाय—

“बाजि लागी आनंद बधइया,
गावइ सखि सोहर ॥”

तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' में जन्म और विवाह के अवसर पर स्त्रियों से मंगलगीत भी गवाया है। 'सोहर' गीत का बहुत ही अच्छे तरीके से वर्णन तुलसीदास ने 'राम लला नहछू' में किया है—

“बनि-बनि आपति नारि जानि गृह मायन हो ।
विहसंत आऊ लोहारिनि हाथ वरायन हो ॥”

पुनः और देखिए, प्रसंग है—'सीता सोलह शृंगार करके अटारी पर चढ़ गई, वहां रामचन्द्र जी के सेज बिछी थी। उसका वर्णन जरा देखिए—

“सोरहो शृंगार सीता कइली,
अटरियां चढ़ि गाइलिनि ।
रघुनन्दनक डासत सेज,
सिराहने ढाढी भइलिनी ॥”

इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसीदास ग्राम संस्कृति के बड़े पारखी महाकवि थे।

'ग्राम-संस्कृति' में मुण्डन के गीत भी आते हैं। जन्म के तीसरे, पांचवे या सातवें वर्ष में पहले-पहल जब बच्चे के सिर के बाल उतारे जाते हैं, उसे मुण्डन कहते हैं। हिन्दू समाज के सोलहों संस्कारों में यह एक संस्कार है। 'ग्राम-संस्कृति' में मुण्डन के गीत बहुत ही प्रचलित होते हैं, वहीं दूसरी ओर 'जनेऊ के गीत' भी आते हैं। जनेऊ पहनना आर्य जाति की बहुत पुरानी प्रथा है। जिसका चित्र तुलसीदास जी ने भी अपनी रचनाओं के माध्यम से किया है।

‘विवाह के गीत’ रामचरितमानस में तो भरे पड़े हैं। तुलसीदास ने राम और सीता के विवाह का वर्णन बहुत ही आकर्षक ढंग से किया है। जब राम माँ सीता के मांग में सिन्दूर दे रहे हैं, तो उस समय का वर्णन जो तुलसीदास ने किया। वह सचमुच दृश्य उपस्थित कर देता है—

“राम सीय सिर सिन्दूर देहि ।

सोभा केहि न जात विधि के ही ॥”

इस प्रकार हम देखते हैं कि ‘ग्राम-संस्कृति’ का संपूर्ण फलक ‘रामचरितमानस’ में बन पड़ा है, तथा उसमें गोस्वामी जी को जो सफलता मिली है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

वास्तव में तुलसी का ‘रामचरितमानस’ एक ऐसा महाकाव्य है, जिसे जिस किसी भी रूप में व्यक्ति अध्ययन करने बैठे वह उसी रूप में इसको पाता है। यह तुलसी की सफलता ही कही जा सकती है। ‘रामचरितमानस’ में ‘ग्राम-संस्कृति’ का जो सफल नियोजन गोस्वामी तुलसीदास ने किया है, वह अद्वितीय है, तथा तुलसी की प्रतिभा का ज्वलंत प्रमाण है। सच्चे अर्थों में तुलसी के ‘रामचरितमानस’ को अगर हम ‘ग्राम-संस्कृति’ का महाकाव्य कहें तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं होगी। ‘ग्राम-संस्कृति’ की जो अविच्छिन्न धारा गोस्वामी जी ने अपने महाकाव्य में बहाई है, वह आज भी उनके काव्य में सुरक्षित है तथा रहेगी, तभी तो ठीक ही कहा गया है—

“तुलसी कवि सम कवि नहीं कोऊ ।

भए न अहहि जगत मह अब नहीं होऊ ॥”⁸

सहायक ग्रंथों की सूची

1. डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी—‘सभ्यता और संस्कृति’—(पृ.27) शीर्षक—भारतीय संस्कृति की देन।
2. डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल—‘कला और संस्कृति’—(पृ. 11-12) शीर्षक—संस्कृति का स्वरूप।
3. डॉ. रामधारी सिंह दिनकर—‘हमारी सांस्कृतिक एकता’—(पृ. 3) शीर्षक—संस्कृति है क्या?
4. भारतीय संस्कृति की रूप रेखा—(पृ. 1)
5. हिन्दी राष्ट्रभाषा कोश, प्रकाशक—इंडियन प्रेस, इलाहाबाद।
6. ग्राम-साहित्य, संपादक—रामनरेश त्रिपाठी, प्रकाशक—हिन्दी मंदिर, प्रयाग।
7. रामलला नहछु, लेखक—गोस्वामी तुलसीदास से।
8. रामचरितमानस, लेखक—गोस्वामी तुलसीदास से।

साहित्य में विचारधारा

कुमारी गरिमा

व्याख्याता, इंटर स्तरीय विद्यालय, गोड्डा

विचारधारा कोट या कुर्ते जैसी कोई चीज नहीं है, जब मन किया एक उतारा और दूसरा पहन लिया। मेरे विचार से विचारधारा कुछ दूसरी ही चीज है। उसे आदमी मजबूती से पकड़ता है। वह समर्पण मांगती है। उसके लिए निष्ठा चाहिए, गहरा आंतरिक विश्वास चाहिए। उसी निष्ठा और गहरे विश्वास में से सब तरह के अभाव, कष्ट, निन्दा, अपमान और जेल, यातना सबकुछ सहने और जरूरत पड़ने पर अपने प्राण तक दे देने की ताकत आती है। जहां ये निष्ठा और समर्पण और अकुंठ विश्वास नहीं है, वहां फिर विचारधारा कैसी? अब सवाल पैदा होता है कि विचारधारा से हमारा क्या मतलब है? विचार तो आसानी से समझ में आता है। सबके मन में कभी कोई विचार आता रहता है। अभी मैं अपने बारे में सोच रही हूँ, फिर अपने वर्ग के विषय में सोचने लगी, फिर देश की ज्वलंत समस्या-जैसे भारत-पाक संबंध या फिर आरक्षण नीति के बारे में सोचने लगी। किसान अपने खेतों के बारे में विचार करता है, गृहणी अपने घर-परिवार के बारे में। नेतागण के मन में कुछ दूसरे ही तरह के विचार आते रहते हैं-कैसे विधानसभा या लोकसभा का टिकट दुबारा-तिबारा हासिल किया जाय, मंत्रिमण्डल में कैसे घुसा जाय आदि-आदि। यानी कि सबके पास अपने-अपने विचार होते हैं और आदमी उन्हीं में गोते खाता रहता है। इसलिए विचार तो सब समझते हैं, पर विचारधारा जरा टेढ़ी खीर मालूम होती है। अमृत राय विचारधारा पर विचार करते हुए लिखते हैं, “‘विचार’ और ‘धारा’ दोनों ही शब्द संस्कृत से हिन्दी में आये हैं और हिन्दी के अपने हैं, लेकिन उन दोनों का सामासिक पद जो ‘विचारधारा’ है वह कदाचित् हमारे यहां का पुराना प्रयोग नहीं है। मेरा अनुमान है कि वह अंग्रेजी से हिन्दी में आया है और ‘आइडियॉलोजी’ का रूपांतर है।”

‘विचारधारा’ के अर्थ के विकास का इतिहास एक जटिल स्वरूप धारण किए हुए है। कहीं विचारधारा ‘विचारों के विज्ञान’ के रूप में परिभाषित है तो कहीं ‘छद्म चेतना’ के रूप में। कहीं इसे ‘लेखक की वर्गीय चेतना’ के रूप में देखा गया है तो कहीं ‘विश्वदृष्टि’ के रूप में। और फिर आज के उत्तर आधुनिक समय में जबकि विचारधारा के अंत के फतवे जारी किए जा रहे हैं तो समस्या यह है कि आज के संदर्भ में विचारधारा से क्या अर्थ लगाएं? वास्तव में, ‘विचारधारा’ की किसी एक कालखंड में, किसी एक विचारक द्वारा, किसी एक संदर्भ में दी गई व्याख्या को ही आखिरी मानना एक भूल होगी। अतः हमें विचारधारा के अर्थ का वास्तविक स्वरूप निर्धारण हेतु इसके विकासक्रम तथा उस विकासक्रम में उभरते हुए इसके अर्थों की प्रकृति एवं उसके प्रयोजनों को ध्यान में रखना होगा।

विचारधारा की अवधारणा आधुनिक चिंतन की उपज है। सामान्यतः विचारधारा के अर्थ की व्याख्या मार्क्सवाद के संदर्भ में की जाती है लेकिन मार्क्स के पूर्व ही डीट्रेसी और नेपोलियन आदि ने विचारधारा के अर्थ के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। फ्रांस के बुद्धिजीवी दार्शनिक डीट्रेसी ने 1797 ई. में पहली बार ‘विचारधारा’ शब्द का प्रयोग करते हुए इसे सामाजिक प्रक्रिया को समझने के लिए ‘विचारों के विज्ञान’ के रूप में परिभाषित किया। विचारधारा का प्रयोग ज्ञानमीमांसा तथा भाषाविज्ञान में भी हुआ है। नेपोलियन ने ‘विचारधारा’ की व्याख्या करते हुए विचारों के विज्ञान के

रूप में इसकी आलोचना की। हेगेल तथा मार्क्स के मध्य के समय में धर्म, समाज तथा विचार प्रक्रिया पर लंबी बहस चली। फायरेबारव अपने ग्रंथ 'एसेंस ऑफ क्रिश्चनरी' में लिखते हैं कि विचारधारा का आस्थावाद से विरोध तथा भौतिकवाद और विवेकवाद से गहरा संबंध है।

विचारधारा के अर्थ के विकास में मार्क्स-एंगेल्स का महत्वपूर्ण स्थान है। उनकी रचनाओं में विचारधारा का अर्थ सब जगह एक समान नहीं है। विचारधारा की धारणा में परिवर्तन और विकास हुआ है। "जर्मन विचारधारा" नामक पुस्तक में मार्क्स-एंगेल्स ने विचारधारा को 'छद्म चेतना' कहा है जबकि "राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना को योगदान" नामक पुस्तक में इसे एक विशेष ऐतिहासिक संदर्भ की विशिष्ट सामाजिक चेतना के रूप में परिभाषित किया है। विचारधारा को यथार्थवाद का विरोधी मानने वाले आलोचक अपने मत के समर्थन में मार्क्स-एंगेल्स के 'जर्मन विचारधारा' वाले मत-जिसमें कि विचारधारा को भ्रम, अवास्तविक और यथार्थ का उल्टा प्रतिबिम्ब कहा गया है-को प्रस्तुत करते हैं। पर वास्तव में इसमें मार्क्स-एंगेल्स ने मुख्य रूप से धर्म और दर्शन की चर्चा की है, साहित्य और कला की नहीं। अर्थात् वे धर्म और दर्शन द्वारा प्रतिपादित, विचारधारा को 'छद्म चेतना' अथवा 'यथार्थ का उल्टा प्रतिबिम्ब' कहते हैं। उनके अनुसार विचारधारा का वास्तविक अर्थ-विशिष्ट सामाजिक चेतना या वर्ग चेतना ही है। इसी चेतना के माध्यम से जनता अपने शोषण को पहचानती एवं उसके विरुद्ध संघर्ष करती है।

मार्क्स का मानना है कि विचारधारा स्वयं ऐतिहासिक होती है। इतिहास प्रक्रिया उसके स्वरूप एवं चरित्र का निर्माण करती है। सामाजिक वास्तविकता तथा अंतर्विरोधों में परिवर्तन के फलस्वरूप विचारधारा में परिवर्तन होता है। एक समय की प्रगतिशील विचारधारा, दूसरे समय में प्रतिक्रियावादी विचारधारा बन जाती है। विचारधारा शाश्वत नहीं होती है। विचारधारा की धारा विकासशील धारा है।

मार्क्स ने विचारधारा को 'छद्म चेतना' के रूप में देखा। 'छद्म चेतना' में धार्मिक, आध्यात्मिक विश्वचेतना की बात की। मार्क्स का मानना है कि 'विचारधारा छद्मचेतना के संदर्भ में उस चीज को इंगित करती है जो उल्टी रूप में है।' पूंजीवाद पर विचार करते हुए मार्क्स का मानना है कि, 'पूंजीवाद उत्पादन की ऐसी व्यवस्था है जिसमें पूंजीपति वर्ग का अधिकार होता है। श्रमिक की स्वतंत्रता है कि वह अपने श्रम को बेच सके। इसके बरवस पूंजीपति की स्वतंत्रता है कि वह इस श्रम को खरीद सके। मुक्त बाजार में हर आदमी को हर जगह, हर तरह की खरीद-बिक्री की छूट होनी चाहिए। इस प्रक्रिया में श्रम से लेकर आत्मा, परमात्मा सबकी खरीद-बिक्री होती है। मार्क्स का कहना है कि पूंजीवाद में सिर्फ खरीद बिक्री की स्वतंत्रता है, लेकिन उसे इस तरह प्रस्तुत किया जाता है कि मानों वह जीवन का कोई महत्वपूर्ण कार्य हो। शासक वर्ग की विचारधारा पर वे लिखते हैं, हर समय और समाज में शासक वर्ग का विचार ही मुख्य विचार हुआ करते हैं। "The ideas of the ruling class are in every epoch the ruling ideas?"²

एंगेल्स ने स्वतंत्र रूप से 'एंटी ड्यूटिंग' नामक पुस्तक में विचारधारा की चर्चा की है। उनके अनुसार विचारधारा वह है जहां विचार से वस्तुजगत का संबंध होता है। तथ्यों से विचार तक की यात्रा करने के बजाय विचारों से तथ्यों तक पहुंचते हैं। इस यात्रा में जहां अंतराल पड़ता है, उसे कल्पना से पूर्ण करते हैं। 1833 में मेटरिंग को लिखे पत्र से भी एंगेल्स की विचारधारा संबंधी अवधारणा का पता चलता है। यहां वे लिखते हैं "प्रत्येक विचारधारा जब एक बार पैदा होती है, तो वह पहले से मौजूद धारणाओं से अपना विकास करती है। विचारधारा, विचारों की वस्तुजगत से स्वतंत्र सत्ता को

स्वीकार करती है। विचारक के विचार, वस्तुजगत से प्रभावित तो होते हैं, लेकिन इस बारे में वह सचेत नहीं होता।¹⁵ एंगेल्स ने विचारधारा की दार्शनिक से ज्यादा मनोवैज्ञानिक व्याख्या की। बाद के दिनों में Freud ने जिसे 'रेशनलाइजेशन' कहा उससे यह काफी साम्यता रखता है।

एंगेल्स ने भी विचारधारा को इतिहास के साथ परिवर्तनशील माना है। मध्यकाल में धर्म व आध्यात्मिकता संपूर्ण समाज को आच्छादित करने वाली विचारधारा प्रक्रिया के रूप में की जिसका रूप और अर्थ पूंजीवाद के विकास के साथ बदलता है। पूंजीवाद के विकास के साथ मजदूर वर्ग की विचारधारा भी पैदा होती है। अतः विचारधारा का स्वभाव ऐतिहासिक होता है।

विचारधारा के अर्थ संबंधी इस विमर्श को लेनिन के प्रवेश से एक नया आयाम मिलता है। लेनिन ने जनसंघर्ष के बीच में विचारधारा पर विचार किया। उन्होंने विचार तथा व्यवहार की एकता तथा उनके आपसी संबंध पर विचार किया तथा इससे विचारधारा के सकारात्मक अर्थ का विकास हुआ। लेनिन के विचारधारा को वर्ग तथा वर्ग-चेतना से जोड़कर देखा। अलग-अलग वर्ग की अलग-अलग विचारधारा होती है। एक वर्ग की सामाजिक स्थिति से उसकी विचारधारा का निर्माण होता है।

लेनिन ने समाजवाद को पहली बार एक विचारधारा माना और वैज्ञानिक समाजवाद को सर्वहारा वर्ग की विचारधारा कहा। वर्गों के परस्पर संबंधों के होते हुए भी कोई वर्गहीन विचारधारा नहीं हो सकती। हर विचारधारा ऐतिहासिक स्थिति से तय होती है। मजदूर वर्ग अपनी स्थिति से एवं इतिहास के विश्लेषण से भी विचारधारा का ज्ञान अर्जित करता है। लेनिन के अनुसार 'छद्म चेतना' से मुक्ति ही वैज्ञानिक विचारधारा है क्योंकि धार्मिक विचारधारा में छद्म चेतना उपस्थित रहती है।

जार्ज लुकाच ने लेनिन की विचारधारा संबंधी अवधारणा को आगे बढ़ाते हुए मार्क्सवाद को विचारधारा तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद को संघर्षशील मजदूर वर्ग की विचारधारा कहा। बुर्जुवा विचारधारा की छद्मता का कारण उसकी ऐतिहासिक स्थिति होती है। विचारधारा में छद्म अंश तब ज्यादा होती है, जब वह भाववादी होती है। लुकाच कला तथा साहित्य को भी विचारधारा का एक हिस्सा मानते हैं।

विचारधारा के अर्थ के विकास में इटली के प्रसिद्ध क्रांतिकारी नेता 'एन्टोनियो ग्राम्शी' का महत्वपूर्ण स्थान है। विचारधारा के सकारात्मक अर्थ का विकास करते हुए उन्होंने मार्क्सवादी चिंतन की भाषा व दिशा बदल दी। उन्होंने मार्क्सवाद के स्थान पर एक नया शब्द रखा—“व्यवहार तथा अनुभव का दर्शन”। ग्राम्शी के समय में फ्रैंकफर्ट स्कूल का दौर था जहां विचारधारा के 'छद्म चेतना' वाली बात महत्वपूर्ण थी। लेकिन ग्राम्शी ने इसे स्वीकार नहीं किया। वे दो तरह की विचारधारा की बात करते हैं—एक आवयविक विचारधारा जो विभिन्न वर्गों की विचारधारा से निर्मित होती है तथा दूसरी ऐच्छिक या यादृच्छिक विचारधारा, जो वैयक्तिक, पीढ़ीगत या कुछ लोगों द्वारा भी निर्मित हो सकती है। ग्राम्शी ने विचारधारा के संदर्भ में वर्चस्वशीलता की अवधारणा प्रस्तुत की। उनकी मान्यता है कि समाज का वास्तविक संघर्ष 'वर्चस्व का संघर्ष' है। विचारधारा वर्चस्व का माध्यम तथा साधन दोनों है तथा यह संघर्ष, प्रतिरोध के बोध का भी माध्यम है। लेनिन से थोड़ा भिन्न दृष्टिकोण रखते हुए ग्राम्शी मानते हैं कि विचारधारा मुक्तिधर्मी ही नहीं होती बल्कि पराधीन भी बनाती है। ग्राम्शी ने अपने चिंतन को विकसित करने का साधन मूल रूप से 'जनता' को बनाते हुए 'लोकमत' संबंधी अवधारणा विकसित की। उनके पूर्व जनचेतना (कॉमनसेंस) शब्द निंदापरक था इसके विपरीत उन्होंने जनचेतना की जगह साधुमत (गुडसेंस) का प्रयोग करते हुए कहा कि लोकमत में ही आम जनता की जिन्दगी के अनुभव होते हैं।

विचारधारा के अर्थ के इस विकास परंपरा में 'लुई अल्यूसर' का विचारधारा संबंधी चिंतन इस अर्थ में महत्वपूर्ण है कि इसका उत्तर आधुनिकता पर गहरा प्रभाव पड़ा। विचारधारा की आलोचना की जो प्रवृत्ति उत्तर आधुनिकता में है, उसके मूल में अल्यूसर का ही चिंतन है। अल्यूसर ने विचारधारा के संबंध में समग्रतावादी प्रकृति की आलोचना की। वे विचारधारा को भौतिकवादी मानते हैं।

गोल्डमान ने विचारधारा के यथार्थ के संदर्भ में 'विश्वदृष्टि' शब्द का प्रयोग किया। 'विश्वदृष्टि' से उनका तात्पर्य आम राय के विकसित रूप से है जिसमें समाज तथा प्रकृति दोनों शामिल हैं। मनुष्य सामाजिक जीवन में जीते हुए दुनिया के बारे में अपनी विशेष रुचि किसी साहित्यिक पाठ की परीक्षा द्वारा यह देखने में है कि किस सीमा तक यह उस सामाजिक वर्ग अथवा समूह की विचार-संरचना (अथवा 'विश्व-दृष्टि') को व्यक्त करता है।⁴

'पियरे माशरे' मुख्य रूप से अर्थ में मौजूद द्वंद्वों पर ध्यान देते हैं। ध्यान रखने की बात है कि अर्थ में द्वंद्व और रूप में द्वंद्व दोनों अलग-अलग होते हैं। माशरे के लिए "कृति जो कहती है उससे कहीं अधिक जो नहीं कहती है उसके कारण विचारधारा से बंधी होती है।"⁵

पूँजीवादी समाज में विचारधारा की क्रियाशीलता की व्याख्या करते हुए अर्डोनों, लावेलस आदि विचारकों ने पूँजीवादी समाज की विचारधारा की आलोचना की। इसकी बुनियादी मान्यता यह है कि पूँजीवादी युग में हर चीज का बाजारीकरण हुआ है। जिसके चलते पूँजीवादी विचारधारा में मूल अभिप्राय को छुपाने की प्रवृत्ति होती है। बाजार की संस्कृति में विचारधारा का वस्तुकरण हो जाता है।

उत्तर आधुनिकतावाद तथा विचारधारा के संबंध के संदर्भ में प्रसिद्ध विचारक देबोर का मानना है कि वस्तुतः उत्तर आधुनिक समाज 'दृश्यों की दुनिया' है। इस प्रक्रिया में विचारधारा केवल विचार के तौर पर ही काम नहीं करती है बल्कि उसका भौतिक रूप भी दिखाई देता है। उत्तर आधुनिक समाज में प्रस्तुतीकरण वस्तु से ज्यादा महत्वपूर्ण हो जाता है। प्रसिद्ध विचारक ब्रादीला मानते हैं कि विचारधारा ने 'छद्म चेतना' का रूप धारण कर लिया है। आगे चलकर उत्तर आधुनिकता के मुख्य प्रतिनिधि चिन्तक फूको विचारधारा के विभेदों को ही अस्वीकार कर देते हैं और 'डेनियल बेल' (1960) विचारधारा के अंत का घोषणा पत्र जारी करते हैं। तर्क का नकार उत्तर आधुनिकता की बुनियादी विशेषताओं में से एक है।

उत्तर आधुनिकता के सबसे कठोर आलोचक हाबरमास ने कहा कि तर्क द्वारा तर्क का नकार वास्तव में पद्धतिगत गड़बड़ है। कुछ ऐसी ही पद्धति बेल की भी है। उपर्युक्त विश्लेषण के पश्चात् विचारधारा के अर्थ के संदर्भ में कुछ बातें निर्धारित की जा सकती हैं। विचारधारा के तीन संदर्भ हैं—रचना, बोध और आलोचना। विचारधारा सिर्फ विचारों की धारा नहीं है। यह रचना की उत्पत्ति व प्रभाव तथा अंतर्वस्तु व रूप दोनों की संघटना में होती है। हर विचार विचारधारा नहीं है। विचार विचारधारा तब होता है जब जीवन जगत का सामान्यीकरण हो, एक विशेष प्रकार का बोध हो। विचारधारा अंतर्विरोधों को ढकने का भी काम करती है। विचारधारा का एक स्वभाव यह भी होता है कि वह अपने को सबसे अधिक विश्वसनीय सिद्ध करने का प्रयास करती है।

लुई आल्थुशे से:—प्रसिद्ध फ्रांसीसी दार्शनिक विचारक लुई आल्थुशे बीसवीं शताब्दी में बीस वर्षों तक 1970-80 के दशक में यूरोप के मार्क्सवादी चिंतन में महत्वपूर्ण रहे हैं।

उनके लेखन की बुनियादी विशेषता है कि उन्होंने मार्क्सवाद और संरचनावाद को मिलाने की कोशिश की है। संरचनावादी दृष्टि से मार्क्सवाद को पढ़ने की कोशिश भी है। इस प्रक्रिया में उन्होंने यूरोप के दूसरे विचारकों संरचनावादियों के अलावा फ्रायड से भी मदद ली है। विचारधारा और चेतना के बारे में उनके विचार 70 के दशक से 80 के दशक तक अत्यंत महत्वपूर्ण रहे हैं।

कला का विचारधारा से संबंध

कला विचारधारा से ही पैदा होती है। वह विचारधारा की ओर संकेत भी करती है। लेकिन वह विचारधारा से अपने को अलग भी करती है। विचारधारा से कला Retreat करती है। कला के जन्म के समय विचारधारा से गहरा संबंध होता है।

संदर्भ ग्रंथ

1. विचारधारा और साहित्य—हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, अमृत राय—1984
2. आलोचना का उत्तर-समय—प्रधान संपादक नामवर सिंह, 2005
3. Idiology—David Mclellan, World View, 1998.
4. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका—हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकुला, मैनेजर पाण्डेय।
5. कक्षा-व्याख्यान।

निराला युग की कविताओं में मुक्तिगान

आशा

तदर्थ व्याख्याता, स्वामी श्रद्धानंद कॉलेज, दिल्ली

‘निराला’ अपने साहित्य कर्म में इतने निराले रहे कि उन्होंने साहित्य में एक अत्यंत निराली परंपरा का ही निर्माण कर डाला। वे मानव, समाज, राजनीति, साहित्य आदि को बंधन मुक्त करने हेतु आजीवन संघर्ष करते रहे। समस्त प्रकार के अवांछनीय बंधनों को तोड़ने का श्रीगणेश सन् 1932 में ‘तोड़ती पत्थर’ से हुआ था। इससे पूर्व लोकप्रसिद्ध नायक-नायिकाओं, राजा-महाराजाओं, वीर पुरुषों अथवा श्रेष्ठ पात्रों पर ही काव्य सृजन किया जाता था। हां, गद्य में प्रेमचंद जी ने अपने उपन्यासों तथा कहानियों में ग्रामीण पात्रों, शोषित, पीड़ित, दलित, दैन्य से प्रताड़ित, अन्याय से कुचले हुए लोगों को अपने सृजन का केंद्र बिंदु बनाकर विगत परंपरा को तोड़ा था, किंतु काव्य सृजन तो परंपरा का ही अनुसरण कर रहा था। निराला जी की ‘तोड़ती पत्थर’ ने ही काव्य में इस परंपरा को तोड़ा है। काव्य को छंदों के शिकंजे से मुक्त कराने का श्रेय भी निराला जी को ही जाता है। उन्होंने ही छंदमुक्त कविता का सूत्रपात किया है। ‘परिमल’ की भूमिका में वे कहते हैं ‘मुक्त काव्य से साहित्य में एक प्रकार की स्वाधीन चेतना फैलती है।’ इस साहसिक कृत्य हेतु उन्हें तत्कालीन बुद्धिजीवियों, साहित्यकारों एवं संपादकों द्वारा बार-बार मानसिक यातनाएं दी गईं, उनकी उपेक्षा की गई। ‘सरोज स्मृति’ में वे स्वयं लिखते हैं—

‘तब भी मैं इसी तरह समस्त
कवि जीवन में व्यर्थ ही व्यस्त
लिखता अबाध गति मुक्त छंद
पर संपादक गण निरानंद’

नंददुलारे वाजपेयी लिखते हैं—‘निराला’ अंतःपुर के समस्त वैभव और उसकी सारी परतंत्रता से मुक्त कर कविता देवी को खुली हवा में ले आए’—वे आगे लिखते हैं—“स्वछंदता का अबाध स्वरूप निराला जी की रचनाओं में देखा जाता है, उनकी तुलना इस युग के किसी दूरे कवि से नहीं की जा सकती।

‘तोड़ती पत्थर’ ने न केवल विषयवस्तु या छंद के बंधन को तोड़ा है, वरन उसने जन मानस में दीनों के प्रति करुणा का भाव जागृत कर उन्हें दैन्य-मुक्त कराने हेतु प्रेरित भी किया है। चाहे वह इलाहाबाद के पथ पर चलचिलाती धूप में पत्थर तोड़ने वाली श्रमिक महिला हो अथवा ‘भिक्षुक’। उनके चित्रांकन की विशेषता यह है कि रसज्ञ भाव-विगलित हुए बिना नहीं रह पाता। प्रमाण स्वरूप ‘भिक्षुक’ कविता का एक अंश द्रष्टव्य है—

‘वह आता पछताता पथ पर
पेट-पीठ दोनों मिलकर हैं एक
चल रहा लकड़िया टेक
मुट्ठी भर दाने को, भूख मिटाने

मुंह फटी पुरानी झोली का फैलाता
दो टूक कलेजे के करता
पछताता पथ पर आता'

निराला क्रांतिकारी कवि थे, जिसके लक्षण उनके साहित्य, विचार और आचरण तीनों में स्पष्ट दिखाई देते हैं। महादेवी वर्मा के अनुसार 'निराला जी विचार से क्रांतिदर्शी और आचरण से क्रांतिकारी हैं। वे भारतीय कृषक के शोषण से न केवल क्षुब्ध दिखाई देते हैं वरन उसे शोषणमुक्त करने हेतु क्रांतिका का आह्वान करते हुए 'बादल-राग' में लिखते हैं—

'जीर्ण बाहु है शीर्ण शरीर
मुझे बुलाता कृषक अधीर
ऐ विप्लव के वीर!
चूस लिया है उसका सार
हाड़ मात्र ही है आधार
ऐ जीवन के पारावार'

भारतीय विधवा नारी का जीवन दुःख के अथाह सागर में डूबा हुआ होता है। पुरुष-प्रधान, समाज-व्यवस्था में उसकी पीड़ा का कोई अंत नहीं है। निराला जी का परदुःखः कातर, संवेदनशील हृदय उसे पीड़ा-मुक्त कराने हेतु छटपटाने लगता है। विधवा की पीड़ा का कारुणिक चित्रण करते हुए वे लिखते हैं—

'अति छिन्न हुए भीगे अंचल में मन को
दुख रुखे-सूखे अधर त्रस्त चितवन को
वह दुनिया की नजरों से दूर बचाकर
रोती है अस्फुट स्वर में
दुख सुनता है आकाश धीर
निश्चल समीर
सरिता की वे लहरें भी ठहर-ठहरकर'

कबीर के पश्चात शोषण, अन्याय, अत्याचार से जुड़े लोगों को दबंग एवं निर्भीक तरीके से चुनौती देकर ललकारने का जो साहस निराली जी में दिखाई देता है, वैसा साहस अन्य कवियों में दिखाई नहीं देता। 'कुकुरमुत्ता' में अंग्रेजों को ललकार कर वे कहते हैं—

'अबे सुन बे गुलाब
भूल मत जो पाई खुशबू रंगो आब
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट
डाल पर इतरा रहा है कैपिटलिस्ट'

वे समाज को रुढ़ियों एवं सड़ी-गली मान्यताओं के बंधन से मुक्त करना चाहते थे। स्वयं अपनी पुत्री सरोज का भी विवाह उन्होंने बिना दहेज, बिना बारात तथा बिना किसी को आमंत्रित किए ही पुरानी सारी परंपराओं को तोड़कर एकदम नए ढंग से संपन्न कर डाला। वे स्वयं लिखते हैं—

‘.....पर नहीं चाह
मेरी ऐसी, दहेज देकर
मैं मूर्ख बनूं, यह नहीं सुघर
बारात बुलाकर मिथ्या-व्यय
मैं करूं नहीं ऐसा सुसमय
हो गया ब्याह आत्मीय स्वजन
कोई थे नहीं, न स्वजन
कोई थे नहीं, न आमंत्रण
था भेजा.....’

प्रस्तुत काव्यांश इस बात का प्रमाण है कि वे कोरे उपदेशक नहीं थे, अपितु वे जैसा सोचते थे, लिखते थे, उसी के अनुरूप आचरण भी करते थे। कथनी और करनी में अद्भुत एकरूपता के कारण ही वे अन्य कवियों से सर्वथा निराले थे। उन्होंने वैवाहिक परंपराएं तो तोड़ी ही, सरोज की मृत्यु पर उसका तर्पण भी वे अनोखे ढंग से करते हैं—

‘कन्ये, गत कर्मों का अर्पण
कर करता मैं तेरा तर्पण’

निष्कर्षतः निराला जी को मुक्ति का कवि कहा जा सकता है। मुक्ति विषमता से, मुक्ति भेदभाव से, मुक्ति विपन्नता से, शोषण से, अन्याय से, कुरीतियों से। वे समानता पर आधारित एक स्वस्थ समाज का निर्माण करना चाहते थे, जिसके लिए वे आजीवन विरोधी शक्तियों से संघर्ष करते रहे। निराला जी के इस मुक्ति-संघर्ष में प्रयोगवादी कवियों ने भी सुर में सुर मिलाया है। द्वितीय महायुद्ध के भीषण दुष्परिणामों के फलस्वरूप अब मध्यवर्गीय समाज भूख और अनैतिकता के बीच पिसने लगा तो मध्यवर्गीय शिक्षित नवयुवक-कवियों के हृदय में व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह की आग भड़क उठी और इसी के परिणाम स्वरूप अन्याय, अत्याचार, उत्पीड़न एवं शोषण से मध्यवर्गीय समाज को मुक्त कराने हेतु प्रयोगवादी काव्य का सृजन प्रारंभ हुआ। प्रयोगवादी रचनाओं का सूत्रपात 1943 में ‘अज्ञेय’ द्वारा संपादित ‘तार-सप्तक’ के प्रकाशन से माना जा सकता है। प्रयोगवादी कवियों ने जहां एक ओर अव्यवस्था के प्रति विद्रोह किया वहीं दूसरी ओर साहित्य की प्रचलित परंपराओं को भी बदलकर उनके स्थान पर नए शब्द, नए छंद, नए उपमान, नए प्रतीक आदि का प्रयोग प्रारंभ किया। विभिन्न नए प्रयोगों से युक्त होने के कारण ही इन कविताओं की प्रवृत्ति को ‘प्रयोगवाद’ के नाम से अभिहित किया गया। प्रयोगवाद के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए डॉ॰ लक्ष्मीसागर वाष्णीय लिखते हैं—‘यह एक ऐसा व्यक्ति चाहता है जो समाज की कुरूपताओं, कलुषताओं, रुढ़ियों और खोखली परंपराओं के प्रति विद्रोह करता है। ‘अज्ञेय’, नेमीचंद जैन, रघुवीर सहाय, जगदीश गुप्त, धर्मवीर भारती, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, सुदामा पाण्डेय ‘धूमिल’, केदारनाथ सिंह आदि उल्लेखनीय प्रयोगवादी कवि हैं।

संदर्भ सूची:

- आधुनिक हिन्दी कवि के केन्द्रीय कवि निराला, सी.जे. प्रसन्न कुमारी
- अनकहा निराला, जानकी वल्लभ शास्त्री

टैगोर एवं फ्रायड की कामदृष्टि

डॉ० मनोज कुमार सिंह

जिन लोगों को फ्रायड और टैगोर पूरब और पश्चिम की तरह विरोधी क्षितिज जान पड़ते हैं। उन्हें शायद इसमें शर्म होगा कि आकाश एक ही है। बाहरी संसार में आदमी कितने नाते और रिश्तों में बंटा रहता है। लेकिन मन के भीतर संसार में वह बंटवारा नहीं है। मन के संसार में बसने वाले अविभाजित मनुष्य की वास्तविकता की खोज फ्रायड को भी थी, रवीन्द्र को भी। फ्रायड में जिस मनुष्य के Id, ego तथा superego के विस्तार में ढूँढ़ा, उसे ही एक अर्थ में टैगोर भी ढूँढ़ना चाहते थे तो उन्होंने कहा “मनेर मनुष मक्ये अन्वेषण”- मन के मनुष्य को मन में खोजना है। इसलिए काम भावना और प्रेम जो मन के सूत्रधार हैं। दोनों के ही विषय बन गये। फ्रायड का काम-भावना जीवन की प्रेरणा-शक्ति के रूप में है तो टैगोर का प्रेम तत्व भी उतना ही व्यापक और शुद्ध है। सच्चे प्रेम की श्रेय उच्चता को फ्रायड जिस प्रकार आदमी के व्यक्ति का सबसे मग्न हुआ प्रमाण मानता है उसी प्रकार उच्च कोटि के प्रेम का श्रेय टैगोर उस दृष्टि में मानते हैं जिसमें सौन्दर्य के प्रति भोग का भाव समाप्त हो हर दिव्य वासना का हो जाता है। प्रमाण में टैगोर की “विज्ञाणिनी” शीर्षक कविता को याद करें जिसमें कामदेव वन देवी की अभी-अभी नहाई हुई और वस्त्रहीन रूपराशि को देखकर वासना के वाण उस पर छोड़ना चाहता है किन्तु देखते ही देखते उसके चरणों पर अपना धनुष वाण समर्पित कर देता है। मनुष्य के काम भाव की श्रेष्ठता का शायद यही प्रेम भरा स्वप्न फ्रायड ने भी देखा होगा जिसमें योग्य संसार के विरले ही आदमी सिद्ध हो सकते थे। अधिक तो उसके मनो विश्लेषण के विषय बनकर रह गये।

जोन ब्योर ने रवीन्द्रनाथ टैगोर के सम्बन्ध में कहा था - “He is India bringing to Europe a new symbol not the cross but the lotus.” और वस्तुतः यह परिवर्तनकारी प्रतीक जो टैगोर द्वारा प्रस्तुत किया गया वह सार्वभौम महत्ता का अधिकारी भी हुआ है। वे सौन्दर्योपासक थे। अपने इस नवीन अनुसंधान के बल पर उन्होंने बौद्धिक पृथकता की दीवार को तोड़ने में सफलता प्राप्त की जो राष्ट्रों को पृथक-पृथक रखती थी। उन्होंने भारत के लिए सौन्दर्य की नई वाइबिल दी। जैसे-जैसे उनकी कृतियों को स्तवन बढ़ता गया वैसे-वैसे लोगों ने अनुभव किया कि वे अपने में अद्वितीय थे। वे वस्तुतः ज्ञान की विभिन्न शाखाओं की सम्मिलित भूमि थे और प्रमुखतः एक कलाकार थे। उन्होंने विचार के क्षेत्र में एक पूर्णतः नवीन युग का शुभारम्भ किया।

प्राथ्य के लिए टैगोर ने जितना किया फ्रायड ने बहुत अंशों में पाश्चात्य के लिए भी उतना ही किया। फ्रायड ने विज्ञान का तथा विचार के सभी अंगों का निर्देशन एक नई दिशा की ओर किया है और उसकी इस महत्ता के कारण ही मनोविज्ञान में फ्रायड का एक अलग युग ही मानते हैं। फ्रायड ने मन को Id के साथ ही Ego तथा Superego का सम्मिश्रण माना है और किसी भी प्रकार ही आधुनिक विचारधारा को पूर्णतः समझने के लिए उसकी बहुत ही आवश्यकता प्रतीत होती है। फ्रायड का यह संदेश जिस प्रकार सिद्धान्त के क्षेत्र में अत्यन्त ग्राह्य है वैसे ही व्यवहार के क्षेत्र में अत्यन्त क्रान्तिकारी भी। वास्तव में यह बहुत ही मनोरंजक है कि एक समय के इन दो महान विचारकों को करीब-करीब एक ही चीज कहती है- हाँ दोनों की अभिव्यक्ति का रूप अलग-अलग है दोनों ही अपने विचारों में क्रान्तिकारी हैं।

वास्तव में बहुत ही यांत्रिक प्रक्रिया होगी अगर यह बतलाया जाय कि फ्रायड तथा टैगोर दोनों किन-किन बातों पर एक दम एक प्रकार का विचार रखते हैं। टैगोर तथा फ्रायड का एक दूसरे से सम्बन्धित अध्ययन किया गया और यह देखने का प्रयास किया गया कि उनके विचारों में समता है या नहीं। मगर क्या अपने इस दुस्साहस में पहली सीढ़ी पर ही हमें दिक्कत नहीं होगी। हाँ सचमुच किसी महान् कवि को तथा एक महान् दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक को एक ही साँस में उल्लिखित करने में थोड़ा आश्चर्य अवश्यभावी है।

टैगोर एक कवि है। कभी-कभी तो उन्होंने दार्शनिक की खिल्ली भी उड़ाई है। उनकी कविता "Cycle of Spring" में जब राजा कवि से पूछता है कि उसकी कला का क्या अर्थ है। तब कवि ईश्वर को धन्यवाद देते हुए उत्तर देता है कि उसकी कविता को कोई दार्शनिक शिक्षा नहीं देनी है। यह सिर्फ अपने अस्तित्व का सूचना देती है। टैगोर एक स्वप्न द्रष्टा है मगर फ्रायड विचार के दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक हैं। एक वैज्ञानिक के नाते फ्रायड का कर्तव्य शृंगारिक की वहिस्मृति तथा विवेकशीलता तथा वास्तविकता की अभिव्यक्ति है। टैगोर एक कलाकार होने के कारण कहीं भी मनोभ्रमण कर सकते हैं। फ्रायड को वैज्ञानिक बन्धनों की रक्षा करनी है उसके पाँव कुछ नियमों में बंधे हुए हैं जिन्हें वह तोड़ नहीं सकता। तब फिर किसी भी प्रकार की समता की बात सोचें तो कैसे।

मगर वास्तविकता वैसी नहीं। टैगोर एवं फ्रायड दोनों को ही एक सी चीज कहनी है। एक ही संगीत में दोनों गाते हैं एक राग, दोनों की आवाजें भिन्न-भिन्न है। दोनों की लयें भिन्न हैं। दोनों के ताल भिन्न है।

सिर्फ टैगोर के साथ ही नहीं बल्कि पूरे भारतीय विचार के साथ न तो कभी दर्शन तथा मनोविज्ञान में पूर्ण अन्तर रहा है और न सम्भव ही है भारतीय विचार का मौलिक सिद्धान्त यह है कि परमार्थ सत्ता एवं हमारी आन्तरिक सत्ता दोनों समान है और यह सत्य जिसका दिग्दर्शन टैगोर के द्वारा भी हुआ है, मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से समझा जा सकता है।

फ्रायड ने कला की एक अलग ही परिभाषा दी है। सर्वप्रथम वह कलाकार का विश्लेषण करता है और देखता है कि चूँकि कोई भी कलाकार कुछ सीमाओं का अनुभव करता है कुछ बन्धनों तथा व्यवधानों को मानता है और उसका अतिक्रमण करने में भी वह अपने को पूर्णतः असमर्थ पाता है, वह कल्पना लोक में चला जाता है। फ्रायड के अनुसार व्यक्ति की असंख्य सामाजिक तथा असामाजिक इच्छाएँ होती हैं। कुछ की पूर्ति में उस समाज के नियमों द्वारा बाधा पड़ती है वह वैसी इच्छाएँ दमित हो जाती है और अचतेन में चली जाती है। मगर यथा संभव वे अपनी संतुष्टि चाहती है और उसके लिए कोई कलाकार कल्पना लोक का सहारा लेता है। उनकी भावनाओं की पूर्ति कविताओं, कहानियों, उपन्यासों तथा कला के अन्य अंगों में होती है।

टैगोर में भी हम इसी तत्व को पाते हैं। वे भी इसी चीज का अनुभव करते हैं और कभी दूर तक इसे मानते हैं कि कला असंतुष्ट दमित इच्छाओं के कारण ही उत्पन्न होती है। उन्होंने अपनी पुस्तक personality में कहा है- "In our life we have one side which is finite where we exhaust ourselves at every step, and we have naother side where our asspirations enjoyments and sacrifices are finfinite. This infinite side of man must have its revealments and satisfactions in some symbols..... it builds for its dwelling a paradise where only those materials are used that have transa\cended that earth's morality." अतः उनके अनुसार भी कलाकृति के द्वारा ऐसे संसार की रचना की जाती है जहाँ हमारी बहुत सी आशाओं इच्छाओं तथा भावनाओं की अभिव्यक्ति तथा संतुष्टि है। फ्रायड को भी करीब-करीब वही कहना है। फ्रायड के

साथ टैगोर भी यह मानते हैं कि व्यक्ति की कुछ भावनाएँ असामाजिक होती हैं, और इसलिए उनकी स्पष्ट अभिव्यक्ति संभव नहीं। टैगोर मानते हैं- There is another division in man.... it is the dualism in his consciousness of what is and what ought to be in man that conflict is between what is desired and what ought to be desired.”

फ्रायड और टैगोर दोनों ही इस बात पर एक मत हैं कि समाज में आचार के नियम हैं जो हमारी इच्छाओं की जाँच करते हैं, क्या होना चाहिए और क्या नहीं होना चाहिए? यह सत्य है कि टैगोर उन आचार के नियमों का एक दूसरा ही रूप देते हैं उनके अनुसार हमारी जो इच्छा होती है वह हमारे प्राकृतिक जीवन के हृदय में निवास करती है, जिसके कारण हम पशुओं से समता रखते हैं और हमारी जो इच्छा होनी चाहिए वह हमारे जीवन के अभ्यन्तर पक्ष में तथा इस जीवन के परे की अवस्था में निवास करती है।

फ्रायड के अनुसार धर्म सम्पूर्ण मानव जाति का एक मानसिक बीमारी है। अतः इसे एक दिन अवश्य ही लुप्त हो जाना चाहिए। यह एक भ्रम है किन्तु यह भ्रम विश्व व्यापक भ्रम है। ऐसा कहा जाता है कि कोई स्वप्न जिसे सभी देखते हैं और निश्चित रूप से देखते हैं स्वप्न नहीं सत्य बन जाता है। अतः यह भ्रम ही यथार्थ या वास्तविक हो गया है। किन्तु इस धर्म का भविष्य क्या होगा? क्या उसका भी चरम लक्ष्य मुक्ति या मोक्ष ही रहेगा।

मुक्ति की अवस्था में न दुःख रहता है न दर्द, न प्रेम रहता है, न घृणा। किसी भी तरह की इच्छा या मानसिक भावना नहीं रहती। मगर फ्रायड के लिए यह स्थिति मान्य नहीं हो सकती क्योंकि वह मानता है कि मानसिक अवस्थाएँ जैसे चेतन, उपचेतन, अचेतन फिर Id, ego और suiperego कभी भी लुप्त नहीं होती। जीवन के साथ ही उसकी समाप्ति होती है दूसरी ओर जब हम टैगोर को देखते हैं वे भी उसी स्थिति को मानते हैं। वे भी ऐसी मुक्ति की आशा नहीं रखते जो किसी भी प्रकार की मानसिक अवस्था संवेग तथा भावना से परे हो। बल्कि वे ऐसी मुक्ति की कल्पना करते हैं जो मानव जीवन की असंख्य सीमाओं तथा मानसिक अवस्थाओं के अनगिनत व्यवधानों से घिरे होने पर किसे वे मानते हैं-

वैराग्य-साधन में मुक्ति से आभार नय,

असंख्य बन्धन माझे, महानन्दमय लभिवो मुक्ति स्वाद।

फ्रायड और टैगोर दोनों ही जीवन की सम्भावनाओं में कट्टर विश्वास रखते हैं फ्रायड अचेतन की कल्पना करता है। जो विश्व का संचालक है। टैगोर अपने सभी साहित्य को जीवन-देवता की वेदी पर चढ़ा देता है। दोनों के लिए जीवन रचनात्मक तथा शाश्वत है। फ्रायड के लिए भी वस्तुओं के पिछे अचेतन है जो सर्वशक्तिमान है और शाश्वतः जीवन अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति उसे माध्यम से पाता है। टैगोर की सभी चीजें जीवन देवता पर आखिर निर्भर करती हैं जो सभी तरह के जीवन का जनक है।

फ्रायड पर एक सबसे बड़ा आक्षेप यह है कि उसने योन मनोविज्ञान पर सर्वाधिक जोर दिया है मगर ऐसी बात नहीं। Sex शब्द फ्रायड के द्वारा उसी रूप में व्यूहृत नहीं हुआ है जिस रूप में उसे हम अपने प्रतिदिन के जीवन में व्यवहृत करते हैं। फ्रायड उसका व्यवहार शुद्ध, श्रेष्ठतर क्षेत्र में करता है। Sex के सम्बन्ध में फ्रायड कहता है कि किसी भी प्रकार का आनन्द जो शारीरिक स्पर्श से मिलता है वही सेक्स कहलाता है। सुख, सिद्धान्त तथा यथार्थ सिद्धान्त से बने हुए उसके libido को प्रायः सभी प्राच्य तथा पाश्चात्य विचारकों ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में मान लिया है। टैगोर भी ऐसा मानते हैं कि वासना के प्रति सबको आकर्षण है और सभी व्यक्तियों का मार्ग उससे निर्धारित होता

है। अपनी किसी कविताओं में ईश्वर से ऐसी शिकायत करते हैं कि संसार के दूसरे लोग मुझे वासना के आकर्षण से खींच रहे हैं।

“तब नर नारी सबे दिग्विदिके मोरे हेने निएजाय
कत वेदनगर डोरे वास नार होने”

और फ्रायड की तरह वे भी प्रेम की भावना पर आक्षेप नहीं करते और उसे मानव जीवन का एक आवश्यक अंग मानते हैं। टैगोर भी सभी तरह के प्रेम को सांसारिक या संसार से परे पवित्र मानते हैं। अपने एक वर्णन में उन्होंने एक युवक की तस्वीर आंकी है। जिसका सारा जीवन अपनी प्रेयसी के प्रेम में ही बीत जाता है। न्याय के दिन देखता है कि उसका सारा प्रेम गुणों की पुस्तिका में लिखा हुआ है। वह आश्चर्यचकित रह जाता है किन्तु तभी चित्रगुप्त उसे समझाते हैं कि प्रेम और पूजा दोनों एक ही चीज है।

“साधु महारंगे वसे यौवनेर पात
एत पुण्य केन लेखे देव पूज्य खाते?
चित्रगुप्त हेरे बले बड शकू कू इस
यारे वले माल बांसा तारे बले पूज्य।”

इस तरह प्रेम और पूजा को समान मान कर टैगोर ने फ्रायड का समर्थन किया है।

टैगोर के समर्थक उनकी इन प्रेम कविताओं को किसी ऊँची तरह के प्रेम को बतलाने वाली कविता कहकर व्याख्या करेंगे। उसे विश्वस्तरीय प्रेम मानेंगे। इस स्थल पर टैगोर की कुछ ऐसी पंक्तियों का उल्लेख कर रहा हूँ जो शारीरिक प्रेम की आवश्यकता दिखलाती है।

आत्मा का आत्मा से प्रेम नहीं बल्कि शरीर का शरीर से प्रेम। अपनी कविता “दे हेर मिलन” में उन्होंने कहा है। मेरा प्रत्येक अंग तुम्हारे प्रत्येक अंग के निकट जाना चाहता है।..... और अब आत्माओं की एकता शरीरों की एकता माँगती है। हृदय से आच्छल मेरा शरीर हृदय ही के भय से तुम्हारे शरीर पर मूर्च्छित होकर गिर जाना चाहता है।

“प्रति अंग काँपे, तब प्रति अंग तरे
प्रामे मिलन माँगे दे हेर मिलन
हृदय आच्छन्न देह हृदयेर मयें
मूरूछि पड़िते चाय तब देह परे।”

अब यह कविता प्रेम के सिर्फ उसी रूप को दिखाना चाहते हैं जिसे फ्रायड ने आवश्यक माना है। इस प्रकार टैगोर फ्रायड के मत को बहुत दूर तक मानते हैं। और Auden के साथ फ्रायड के बारे में हम भी यह कह सकते हैं कि “To us he is no more a person now but a whole climate of opinion.”

यह सचमुच आश्चर्य की बात है कि एक ही समय के दो प्रमुख विचारक पूर्णतः एक दूसरे से भिन्न विचार रखते हैं। मगर इससे अधिक समानता की हम आशा नहीं कर सकते हैं। कोई तो उसे काल्पनिक स्वप्न में देखता है और कोई उसे परीक्षण और प्रयोग में।

इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि सौन्दर्य का आकर्षण ही फ्रायड के काम और टैगोर के प्रेम का मूल है। वासना का विकास ही फ्रायड के व्यक्तित्व बल और टैगोर के मनोबल का कारण है। इसलिए फ्रायड की भाषा में जिसे मनोग्रन्थियों से मुक्ति कहेंगे। उसे ही बहुत अर्थों में टैगोर की

भाषा में चेतना की मुक्ति कह सकते हैं। फ्रायड का मनुष्य यदि मन की लघुताओं के कारण छोटा है तो टैगोर का मनुष्य भी और यदि फ्रायड का मनुष्य मन की महत्ताओं के कारण बड़ा है तो टैगोर का भी। मृत्यु के सम्बन्ध में जिस प्रकार फ्रायड आदमी में मरण की प्रवृत्ति (Death instinct) की विशेषता पर बल देता है कि वह मृत्यु से डर का भी उसके आकर्षण से खिंचता रहता है और कितने ही बहानों से इनकार कर के भी उसे स्वीकार करता है, वही बात टैगोर की भावना में भी मिल जाती है। टैगोर ने मेरम हे तुभि मोर श्याम समान। कृष्णा के समान मृत्यु को भी प्रिय कहकर या मरिते चाई ना आसि सुन्दर भुवने मानकर माझें आभि बाँचिवार चाई लिखकर संसार में जीने के लोभ और मरने के आकर्षण की विरोधाभास भरी व्यंजनों की है तो बहुत दूर तक माना जा सकता है कि काम-भाव वासना, प्रेम, मनोलोक, सौन्दर्य और मृत्यु को समान विषय मानकर मनोविज्ञान और साहित्य में मजिलें बनाने वाले ये दो द्रष्टा एक ही सत्य का दो पहलुओं से महत्व सिद्ध करते हैं।

उपर्युक्त अध्ययन के संदर्भ में निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि इन दोनों ही विचारकों के विचार इस बिन्दु पर लगभग समानान्तर में पाये गये हैं।

संदर्भ

1. रविन्द्र नाथ टैगोर- उपन्यास - पोखरे वारणी (आँख की किरकिरी) - शोपेर कविता गीतिकाव्य- गीतान्जलि
एक नक्षत्र की आत्महत्या फरे वाइरे (मनो वैज्ञानिक राजा)
कहानी- कथा चतुष्टय 1894
गल्प दशक 1895
2. Freud S. : The interpretation of dream, New York, Macmillan, 1992.
3. Freud S. : Introductory Lectures on Psychoanalysis, London, Allen 1929.
4. Freud S. : The Isycho pathology of everyday life, in A.A. Brill (Ed.) the basis/c writings of Sigmund Freud, New York, Modern Library, 1938.
5. Freud S. : Outline of Psychoanalysis, New York, Norton, 1949 (Translated by J. Strachey).
6. Freud S. : Collected Papers London, Hogarth, 1924, Vol. II.

कामकाजी महिलाओं के मानसिक स्वास्थ्य का विश्लेषण

डॉ० आशा कुमारी

असिस्टेंट प्रोफेसर, डॉ० आर०बी० राय कॉलेज, हाजीपुर

प्रस्तुत शोधकार्य का उद्देश्य व्यवसाय में कार्यरत विभिन्न आयुवर्ग की महिलाओं के भूमिका संघर्ष का उनके मानसिक स्वास्थ्य पर प्रभाव का अध्ययन करना है। इस हेतु यह परिकल्पना निर्मित की गई है कि व्यवसाय में कार्यरत विभिन्न आयुवर्ग की महिलाओं के भूमिका संघर्ष का उनके मानसिक स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभाव में सार्थक अंतर नहीं होगा। परिकल्पना के परीक्षण हेतु शैक्षिक, तकनीकी तथा लिपिकीय व्यवसाय में कार्यरत 225 महिलाओं का चयन अप्रसम्भाव्यता प्रतिचयन के अंतर्गत उद्देश्यानुसार प्रतिचयन द्वारा किया गया है तथा जिनकी आयु (25-30) वर्ष तक की है। चयनित प्रतिदर्श पर भूमिका संघर्ष मापनी-प्रेम वर्मा तथा सीमा विनायक तथा मानसिक स्वास्थ्य मापनी-डॉ० कमलेश शर्मा प्रयुक्त की गई है। समूहों के मध्य सार्थकता की जांच के लिये 'टी' परीक्षण के प्रयोग से ज्ञात हुआ कि व्यवसाय में कार्यरत विभिन्न आयुवर्ग की महिलाओं के भूमिका संघर्ष का उनके मानसिक स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभाव में सार्थक अंतर होता है।

प्रस्तावना

विश्व ज्यों-ज्यों प्रगति और विकास के पथ पर अग्रसर हो रहा है, मानव का कार्यक्षेत्र उतना ही विस्तृत होता जा रहा है। आज पुरुषों के साथ ही महिलाएं भी जीवन यापन के लिए नित नए आयाम खोजने लगी हैं। चिकित्सा, विज्ञान, प्रशासन, शिक्षा, राजनीति, प्रबंधन, संचार, कानून तथा सैन्य कोई भी ऐसा क्षेत्र बाकि नहीं रह गया है, जहां महिलाओं की पहुंच न हो। आज इसी नये वर्ग को कामकाजी महिलाओं की संज्ञा दी जाती है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से देश में परिवर्तनों की प्रक्रिया तीव्र गति से चल रही है उसका एक महत्वपूर्ण परिणाम यह निकला है कि भारतीय नारी अपनी परंपरागत स्वाभाविक विशेषता से मुक्त होने लगी है। आज महिलाएं अधिकाधिक संख्या में वैतनिक एवं लाभपूर्ण व्यवसायों और कामकाजों में आने वाली है अब ये महिलाएं उन क्षेत्रों में भी दखल दे रही है जिन पर अब तक पुरुषों का आधिपत्य था। स्त्री-पुरुष के कार्य और क्षेत्र के बीच की विभाजन रेखा तो कब की धूमिल पड़ चुकी है। महिलाएं आज सचमुच आजाद नजर आती है ख्यालों के तौर पर, फैसलों को लेकर, सपने देखने और उन्हें हकीकत में बदलने के जज्बे की कसौटी पर। इसका परिणाम जहां एक ओर भौतिक सुख-सुविधाओं में वृद्धि हुई है। जीवन यापन के स्तर में बढ़ोतरी हुई है तो वही दूसरी तरफ इसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी दृष्टिगोचर हुआ है।

कार्यरत महिलाओं में निराशा, कुंठा, तनाव, वैवाहिक कुसमायोजन, प्रतिस्पर्धा तथा महत्वाकांक्षाओं में बढ़ोतरी हुई है, जिसके फलस्वरूप कार्यरत महिलाओं में भूमिकाओं के मध्य संतुलन स्थापित न कर पाने की वजह से भूमिका संघर्ष की उत्पत्ति होती है तथा उनका मानसिक स्वास्थ्य प्रभावित होता है।

रॉस (1961)–कामकाजी पत्नियों के लिए सामंजस्य की समस्या और भी चौका देने वाली है, जब पति नई परिस्थितियों में स्वयं को ढालने में असमर्थ या उसके लिए तैयार न हो, अचानक आ जाने वाली एक नई भूमिका भी तनाव पैदा करती है, जब उसका टकराव पहले से स्थापित भूमिका से होता है, स्वयं भी इस नई भूमिका के प्रति तैयार नहीं रहती। परिस्थितियां और कभी-कभी उसकी स्वयं की इच्छा उसे उस भूमिका को ग्रहण करने के लिये बाध्य करती है।

कुमारी लता आर (1991)–ने 200 शिक्षिकाओं के भूमिका संघर्ष का उनकी आयु के संदर्भ में पाया कि भूमिका संघर्ष के किसी भी मापन में आयु का सार्थक प्रभाव नहीं पाया गया।

स्टीफेनस्को मिशेल सी. (1998)–(35-50) आयुवर्ग की 18 महिलाएं जो बहुभूमिकाओं का निर्वाह कर रही थी पाया कि वह भूमिका संघर्ष, तनाव, अवसाद के साथ शारीरिक बीमारी भी महसूस करेगी। जबकि अन्यो ने यह निष्कर्ष निकाला कि एक महिला जितनी अधिक भूमिकाओं में रत होगी वो उतने ही अधिक आंतरिक स्रोत विकसित कर लेगी नकारात्मक भूमिकाओं का प्रतिरोध करने के लिये।

उद्देश्य

1. शैक्षिक व्यवसाय में कार्यरत विभिन्न आयुवर्ग की महिलाओं के भूमिका संघर्ष का उनके मानसिक स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन करना।
2. तकनीकी व्यवसाय में कार्यरत विभिन्न आयुवर्ग की महिलाओं के भूमिका संघर्ष का उनके मानसिक स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन करना।
3. लिपिकीय व्यवसाय में कार्यरत विभिन्न आयुवर्ग की महिलाओं के भूमिका संघर्ष का उनके मानसिक स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन करना।

परिकल्पना

1. शैक्षिक व्यवसाय में कार्यरत विभिन्न आयुवर्ग की महिलाओं के भूमिका संघर्ष का उनके मानसिक स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभाव में सार्थक अंतर नहीं होगा।
2. तकनीकी व्यवसाय में कार्यरत विभिन्न आयुवर्ग की महिलाओं के भूमिका संघर्ष का उनके मानसिक स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभाव में सार्थक अंतर नहीं होगा।
3. लिपिकीय व्यवसाय में कार्यरत विभिन्न आयुवर्ग की महिलाओं के भूमिका संघर्ष का उनके मानसिक स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभाव में सार्थक अंतर नहीं होगा।

न्यादर्श

तालिका क्रमांक-01

व्यवसाय	आयुवर्ग			
	25-36	37-48	49-60	कुल
शैक्षिक व्यवसाय	25	25	25	75

तालिका क्रमांक-02

व्यवसाय	आयुवर्ग			
	25-36	37-48	49-60	कुल
तकनीकी व्यवसाय	25	25	25	75

तालिका क्रमांक-03

व्यवसाय	आयुवर्ग			कुल
	25-36	37-48	49-60	
लिपिकीय व्यवसाय	25	25	25	75

प्रयुक्त परीक्षण

1. भूमिका संघर्ष मापनी-प्रेम वर्मा और सीमा विनायक
2. मानसिक स्वास्थ्य मापनी-डॉ. कमलेश शर्मा।

विधि

न्यादर्श में चयनित कार्यरत विभिन्न आयुवर्ग की महिलाओं पर भूमिका संघर्ष मापनी तथा मानसिक स्वास्थ्य मापनी का प्रशासन व्यक्तिगत रूप से किया गया है। फलांकन के उपरान्त 'टी' परीक्षण के माध्यम से व्यवसाय में कार्यरत विभिन्न आयुवर्ग की महिलाओं के भूमिका संघर्ष का उनके मानसिक स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभाव के मध्य सांख्यिकीय दृष्टिकोण से अंतर की सार्थकता ज्ञात की गई।

परिणामों का विश्लेषण: परिणामों का विश्लेषण निम्नानुसार किया गया है:

तालिका क्रमांक-04

शैक्षिक व्यवसाय में कार्यरत (25-26), (37-48), (49-60) आयुवर्ग की महिलाओं के उच्च भूमिका संघर्ष समूह तथा निम्न भूमिका संघर्ष समूह के मानसिक स्वास्थ्य के परिणाम-

आयुवर्ग	समूह		मध्यमान		'टी' का मान	सार्थकता
	उच्च भूमिका संघर्ष समूह	निम्न भूमिका संघर्ष समूह	उच्च भूमिका संघर्ष समूह	निम्न भूमिका संघर्ष समूह		
25-36	12	12	78.83	95.25	3.27	0.01 स्तर पर सार्थक अंतर है
37-48	12	13	77.67	92.38	4.42	0.01 स्तर पर सार्थक अंतर है
49-60	12	13	77.42	89.92	2.60	0.05 स्तर पर सार्थक अंतर है
स्वतंत्रता के अंश- 22			0.05 स्तर पर सार्थकता हेतु मान-	2.07		
			0.01 स्तर पर सार्थकता हेतु मान-	2.82		
स्वतंत्रता के अंश- 23			0.05 स्तर पर सार्थकता हेतु मान-	2.07		
			0.01 स्तर पर सार्थकता हेतु मान-	2.81		

विश्लेषण

परिणामों से स्पष्ट है कि शैक्षिक व्यवसाय में कार्यरत (25-36), (37-48), (49-60) आयुवर्गों के निम्न भूमिका संघर्ष समूह की महिलाओं का मानसिक स्वास्थ्य उच्च भूमिका संघर्ष समूह की महिलाओं के मानसिक स्वास्थ्य की अपेक्षा अच्छा है अतः यहां निराकरणाय परिकल्पना

अस्वीकृत की जाती है कि शैक्षिक व्यवसाय में कार्यरत विभिन्न आयुवर्ग की महिलाओं के भूमिका संघर्ष का उनके मानसिक स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभाव में सार्थक अंतर नहीं होगा।

यह परिणाम प्रमिला कपूर (1974) शिक्षिकाओं में औसत स्तर का पारिवारिक भूमिका संघर्ष तथा उच्च स्तर का व्यावसायिक भूमिका संघर्ष पाया जाता है। जिससे यह प्रतीत होता है कि शैक्षिक व्यवसाय में कार्यरत महिलाओं की प्रमुख समस्या उनकी भूमिका परिवर्तन से संबंधित है जहां एक ओर उनका पारिवारिक सामंजस्य विघटित होता है वही दूसरी तरफ पारिवारिक विसंगतियों के परिणाम स्वरूप उनकी व्यावसायिक भूमिका भी प्रभावित होती है।

तालिका क्रमांक-05

तकनीकी व्यवसाय में कार्यरत (25-36), (37-48), (49-60) आयुवर्ग की महिलाओं के उच्च भूमिका संघर्ष तथा निम्न भूमिका संघर्ष समूह के मानसिक स्वास्थ्य के परिणाम-

आयुवर्ग	समूह		मध्यमान		'टी' का मान	सार्थकता
	उच्च भूमिका संघर्ष समूह	निम्न भूमिका संघर्ष समूह	उच्च भूमिका संघर्ष समूह	निम्न भूमिका संघर्ष समूह		
25-36	12	12	80.83	88.77	0.79	0.05 स्तर पर सार्थक अंतर है
37-48	12	13	80.58	87.5	1.52	0.05 स्तर पर सार्थक अंतर है
49-60	9	16	75.67	88.87	2.48	0.05 स्तर पर सार्थक अंतर है
स्वतंत्रता के अंश- 22			0.05 स्तर पर सार्थकता हेतु मान- 2.07			
			0.01 स्तर पर सार्थकता हेतु मान- 2.82			
स्वतंत्रता के अंश- 23			0.05 स्तर पर सार्थकता हेतु मान- 2.07			
			0.02 स्तर पर सार्थकता हेतु मान- 2.81			

विश्लेषण

परिणामों से स्पष्ट है कि तकनीकी व्यवसाय में कार्यरत (25-36) एवं (37-48) आयुवर्गों के उच्च भूमिका संघर्ष समूह तथा निम्न भूमिका संघर्ष समूह की महिलाओं के मानसिक स्वास्थ्य में समानता है। अतः यहां निराकरणिय परिकल्पना स्वीकृत की है परंतु (49-60) आयुवर्ग में निम्न भूमिका संघर्ष समूह की महिलाओं का मानसिक स्वास्थ्य उच्च भूमिका संघर्ष समूह की महिलाओं के मानसिक स्वास्थ्य की अपेक्षा अच्छा है यहां निराकरणिय परिकल्पना अस्वीकृत की जाती है।

यह परिणाम प्रमिला कपूर (1974) व्यावसायिक गतिविधियां मानसिक स्वास्थ्य को प्रभावित करती है तथा स्टेल्मैन (1977), मैकेहनिक (1983), कन्डेल एटआल (1995), हावियो मनीला विविध भूमिकाओं द्वारा भूमिका तनाव, भूमिका संघर्ष एवं भूमिका अतिभार के परिणाम स्वास्थ्य पर नकारात्मक होते हैं।

तकनीकी व्यवसाय में (25-48) आयुवर्ग की महिलाएं अपने पारिवारिक जीवन, वैवाहिक जिम्मेदारियों सामाजिक गतिविधियों के साथ-साथ व्यावसायिक परिस्थितियों से संबंधित विभिन्न दायित्वों का निर्वहन कुशलता पूर्वक करती है परंतु (49-60) आयुवर्ग की महिलाएं दोहरी

भूमिकाओं के निर्वहन में कठिनाई अनुभव करती है क्योंकि आयु वृद्धि के साथ उनमें सामंजस्य क्षमता का ह्रास दृष्टिगोचर हुआ है जिसके फलस्वरूप उनमें तनाव, निराशा, कुंठा, अवसाद आदि उत्पन्न होते हैं जो मानसिक स्वास्थ्य को प्रभावित करते हैं।

तालिका क्रमांक- 06

लिपिकीय व्यवसाय में कार्यरत (25-36), (37-48), (49-60) आयुवर्ग की महिलाओं के उच्च भूमिका संघर्ष समूह तथा निम्न भूमिका संघर्ष समूह के मानसिक स्वास्थ्य के परिणाम

आयुवर्ग	समूह		मध्यमान		'टी' का मान सार्थकता	
	उच्च भूमिका संघर्ष समूह	निम्न भूमिका संघर्ष समूह	उच्च भूमिका संघर्ष समूह	निम्न भूमिका संघर्ष समूह		
25-36	13	12	85.51	91.42	1.30	0.05 स्तर पर सार्थक अंतर है
37-48	11	12	78.36	93.75	3.40	0.01 स्तर पर सार्थक अंतर है
49-60	12	12	77.00	87.25	1.56	0.05 स्तर पर सार्थक अंतर है
स्वतंत्रता के अंश- 23			0.05 स्तर पर सार्थकता हेतु मान- 2.07			
			0.01 स्तर पर सार्थकता हेतु मान- 2.82			
स्वतंत्रता के अंश- 21			0.05 स्तर पर सार्थकता हेतु मान- 2.08			
			0.03 स्तर पर सार्थकता हेतु मान- 2.83			
स्वतंत्रता के अंश- 22			0.05 स्तर पर सार्थकता हेतु मान- 2.07			
			0.04 स्तर पर सार्थकता हेतु मान- 2.82			

विश्लेषण

परिणामों से स्पष्ट है कि लिपिकीय व्यवसाय में कार्यरत (25-36), (49-60) आयुवर्गों के उच्च भूमिका संघर्ष समूह तथा निम्न भूमिका संघर्ष समूह की महिलाओं के मानसिक स्वास्थ्य में समानता है अतः यहां निराकरणिय परिकल्पना स्वीकृत की है परंतु (37-48) आयुवर्ग में निम्न भूमिका संघर्ष समूह की महिलाओं का मानसिक स्वास्थ्य उच्च भूमिका संघर्ष समूह की महिलाओं के मानसिक स्वास्थ्य की अपेक्षा अच्छा है यहां निराकरणिय परिकल्पना अस्वीकृत की जाती है।

यह परिणाम एडम्स बोनी (2000) जो महिलाएं दोहरी भूमिकाएं निभाती हैं वे आत्मग्लानि अनुभव करती हैं तथा लियोनार्ड ब्रेन (2002) प्रतिबल मानसिक तनाव और भूमिका संघर्ष इन सभी के बीच अंतःसंबंध होता है।

लिपिकीय व्यवसाय में (25-36), (49-60) आयुवर्ग की महिलाएं दोहरी भूमिकाओं के निर्वहन कुशलतापूर्वक करती हैं। वहीं दूसरी तरफ (37-48) आयुवर्ग की महिलाएं अपनी दोहरी भूमिकाओं (पारिवारिक एवं व्यावसायिक) के निर्वहन में सामंजस्य स्थापित करने में कठिनाई उत्पन्न करती हैं क्योंकि उनके सामने अपने परिवार की आवश्यकताओं को पूरा करना तथा बच्चों के सुनहरे भविष्य को बनाना ज्यादा महत्वपूर्ण है इस व्यवसाय से जुड़ी महिलाओं को इनकी पारिवारिक पृष्ठभूमि अत्यधिक प्रभावित करती है और यही उनमें आत्मग्लानि उत्पन्न करती है जो मानसिक स्वास्थ्य को प्रभावित करती है।

निष्कर्ष

1. शैक्षिक व्यवसाय में कार्यरत विभिन्न आयुवर्गों के उच्च भूमिका संघर्ष समूह की महिलाओं के मानसिक स्वास्थ्य तथा निम्न भूमिका संघर्ष समूह की महिलाओं के मानसिक स्वास्थ्य में सार्थक अंतर है।
2. तकनीकी व्यवसाय में (25-36), (37-48) आयुवर्ग के उच्च भूमिका संघर्ष समूह की महिलाओं के मानसिक स्वास्थ्य तथा निम्न भूमिका संघर्ष समूह की महिलाओं के मानसिक स्वास्थ्य में सार्थक अंतर नहीं है। तकनीकी व्यवसाय में (49-60) आयुवर्ग के उच्च भूमिका संघर्ष समूह की महिलाओं के मानसिक स्वास्थ्य तथा निम्न भूमिका संघर्ष समूह की महिलाओं के मानसिक स्वास्थ्य में सार्थक अंतर है।
3. लिपिकीय व्यवसाय में कार्यरत (25-36) के उच्च भूमिका संघर्ष समूह की महिलाओं के मानसिक स्वास्थ्य तथा निम्न भूमिका संघर्ष समूह की महिलाओं के मानसिक स्वास्थ्य में सार्थक अंतर नहीं है।
लिपिकीय व्यवसाय में कार्यरत (37-48), (49-60) आयुवर्ग के उच्च भूमिका संघर्ष समूह की महिलाओं के मानसिक स्वास्थ्य तथा निम्न भूमिका संघर्ष समूह की महिलाओं के मानसिक स्वास्थ्य में सार्थक अंतर नहीं है।

संदर्भ-सूची

1. Bala Krishnaweni D., " Role conflict of women teacher's in V.O.C. District". Ph.D. Aligappa University Indian Edu. Abstract. Issue: 4, 1998 Jan.
2. Adam's, Bonnie, "Role Conflict: Women Managers" Dissertation. Abstract International Section A: Humanities and Social Sciences. Vol 61 (2-A): 674, 2004 Aug.
3. Leonard, Brain, " Stress Depression and Role Conflict in working Mothers Comment", South African Psychiatry Review, Vol 5(2): 19, 2002 May.
4. Stellman (1977), Tearly & Machanic (1983) Kendel etal (1985), Havvio Manila (1986), Ousted in-Denner, Stain, Lorraine, Astbury, Jill, and Morge Caral " Psychosocial and Mental Health Aspect of women's Health". (World organization, Geneva, 89p, 1993, 513) 2008.
5. कपूर प्रमिला, कामकाजी भारतीय नारी बदलते जीवन मूल्य और सामाजिक स्थिति, राजपाल एण्ड संस: दिल्ली, 1976.
6. कपिल, डॉ. एच.के. अनुसंधान विधियां, हर प्रसाद भार्गव प्रकाशन: आगरा, 1987.
7. श्रीवास्तव, डॉ. डी.एन. एवं डॉ. प्रीति वर्मा, मनोविज्ञान और शिक्षा में सांख्यिकी, विनोद पुस्तक मंदिर: आगरा 2001.
8. गुप्ता, सुभाषचंद्र, कार्यशील महिलायें एवं भारतीय समाज, अर्जुन पब्लिशिंग हाउस: दिल्ली, 2004.
9. जडिया, डॉ. प्रभावती, हिन्दू नारी-कार्यशीलता के बदलते आयाम, अर्जुन पब्लिकेशन हाउस, 2003.

केन्द्र-राज्य संबंधः भारत के संदर्भ में विवेचन

डॉ० अनिल कुमार सिंह

स्नातकोत्तर राजनीति विज्ञान विभाग, जे०पी० विश्वविद्यालय, छपरा

भारतीय संविधान के अनुच्छेद में यह घोषणा की गई है कि भारत राज्यों का संघ होगा। इससे स्पष्ट है कि भारतीय संविधान द्वारा बहुत कुछ कनाडा की व्यवस्था के अनुसार संघीय व्यवस्था अपनाई गई है। संविधान के भाग 11 में केन्द्र और राज्यों के बीच विधायी और प्रशासनिक संबंधों का उल्लेख किया गया है। भाग 12 में केन्द्र और राज्यों के बीच वित्तीय संबंधों का उल्लेख किया गया है। संघीय सूची में पूर्णतः राष्ट्रीय महत्त्व के विषयों को केवल केन्द्र के अधीन रखा गया है। इनमें महत्त्वपूर्ण विषय हैं प्रतिरक्षा, सशस्त्र सेनाएं, युद्ध और शांति, विदेशी संबंध, परमाणु ऊर्जा, मुद्रा और सिक्के, निरोधक नजरबंदी, प्रसारण, रेलवे, बैंकिंग आदि। राज्य की सूची में स्थानीय महत्त्व के विषय हैं जिनमें विशेष रूप से विधि व्यवस्था, पुलिस, जेलें, सार्वजनिक स्वास्थ्य, कृषि, सहकारिता आदि शामिल हैं।

अंततः, समवर्ती सूची में समान महत्त्व के विषय हैं—यह विषय केन्द्र और राज्य दोनों को सौंपे गए हैं लेकिन राज्य में यह भी प्रावधान किया गया है कि इन विषयों पर दोनों के बीच विवाद होने पर केन्द्र का अधिकार सर्वोपरि होगा। अनुच्छेद 248 में यह भी उपबंध है कि अवशिष्ट विषय केन्द्र के पास रहेंगे। इन सभी बातों से यह स्पष्ट रूप से सिद्ध है कि भारत एक संघीय राज्य है। इसी आधार पर हम यह कह सकते हैं कि “भारत निस्संदेह एक संघ है जिसकी संप्रभुता में केन्द्र और राज्यों का हिस्सा है।”

विधायी संबंध

भारत 25 राज्यों का संघ है। इस संबंध में संविधान के अध्याय 1 भाग 11 में निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण उपबंध हैं।

1. अनुच्छेद 245 में कहा गया है कि संसद पूरे देश के लिए कानून बना सकती है और राज्यों द्वारा अपने-अपने क्षेत्र के लिए कानून बनाए जा सकते हैं। संसद को ऐसा कानून बनाने का भी अधिकार है जिसका प्रवर्तन राज्य क्षेत्रातीत होगा।
2. अनुच्छेद 246 में प्रावधान है कि संघीय सूची के विषय पर केवल संसद ही कानून बना सकती है। राज्य सरकार राज्य सूची में दर्ज विषयों के बारे में कानून बना सकती है। समवर्ती सूची में दिए गए किसी विषय पर बनाए गए कानून के बारे में विवाद होने पर केन्द्र को कानून बनाने की अनन्य शक्ति प्राप्त है।
3. अनुच्छेद 247 में कहा गया है कि संसद को कानून का अधिक अच्छा प्रशासन सुनिश्चित करने के लिए अतिरिक्त न्यायालयों की स्थापना का उपबंध करने की शक्ति प्राप्त है।
4. अनुच्छेद 249 में कहा गया है कि राज्य सभा में सदन के उपस्थित और मत देने वाले 2/3 सदस्यों के बहुमत से राज्य सूची के किसी विषय को उस सूची से निकाल कर संघ सूची में शामिल किया जा सकता है। अगर ऐसा संकल्प पारित हो जाता है तो वह एक वर्ष तक

प्रवर्तन में रहता है और राज्य सभा में विशेष बहुमत से संकल्प पारित करके उसकी अवधि किसी भी सीमा तक बढ़ाई जा सकती है। यदि ऐसा संकल्प पारित हो चुका है तो इस विषय के संबंध में संसद द्वारा कानून बनाया जा सकता है। लेकिन संकल्प के प्रतिसंहारण के बाद छः महीने बाद ऐसा कानून प्रवर्तन में नहीं रहेगा। यदि उस मामले में राज्य सरकार पहले ही कानून बना चुकी है तो केन्द्र का कानून ही प्रवर्तन में रहेगा और जब तक केन्द्र का कानून प्रवर्तन में है तब तक राज्य का कानून उस हद तक प्रवर्तन में नहीं रहेगा जिस हद तक वह केन्द्र के कानून के विरुद्ध है। यह संशोधन राज्य सभा द्वारा पारित संविधान का तदर्थ संशोधित रूप माना जाता है जो राष्ट्रीय आवश्यकता की पूर्ति के लिए किया जाता है।

5. अनुच्छेद 250 में कहा गया है कि यदि संविधान के भाग 18 के अंतर्गत आपात की घोषणा की गई है तो उस दौरान संसद राज्य सूची में दर्ज किसी भी विषय पर कानून बना सकता है। यह भी स्पष्ट किया गया है कि यदि राज्य द्वारा और केन्द्र द्वारा बनाए किसी कानून में विरोध होता है तो केन्द्र का कानून प्रवर्तन में रहेगा और राज्य का कानून उस हद तक निलम्बित रहेगा जिस हद तक वह केन्द्र के कानून के विरुद्ध है और वह कानून आपात के प्रति-संहारण के बाद अधिक से अधिक छः महीने तक प्रवर्तन में रह सकता है।
6. अनुच्छेद 251 में कहा गया है कि कोई भी कानून इस कारण असांविधानिक नहीं माना जाएगा कि अनुच्छेद 249 या 250 के अंतर्गत बनाया गया वह कानून राज्य सरकार द्वारा बनाए गए किसी कानून से असंगत है। इसका अर्थ यह है कि अनुच्छेद 249 और 250 के अंतर्गत बनाया गया कोई भी कानून प्रवर्तन में रहेगा और राज्य द्वारा बनाया गया कानून उस हद तक निलम्बित रहेगा जिस हद तक वह संघीय कानून के विरुद्ध है।
7. अनुच्छेद 252 के अनुसार दो या अधिक राज्य सरकारों द्वारा आग्रह किए जाने पर संसद राज्य सूची में दर्ज किसी विषय पर कानून बना सकती है। ऐसा कानून केवल उन्हीं राज्यों पर लागू होगा जिन्होंने ऐसा आग्रह किया है। बाद में कोई अन्य राज्य भी उसे स्वीकार कर सकता है। लेकिन ऐसे कानून का संशोधन या निरस्त केवल संसद द्वारा किया जा सकता है। अनुच्छेद 253 में कहा गया है कि किसी अंतर्राष्ट्रीय संधि या करार को क्रियान्वित करने के लिए केन्द्र राज्य सूची के विषय पर कानून बना सकता है।

इन सांविधानिक प्रावधानों के अध्ययन से पता चलता है कि राज्यों को बहुत सीमित विधायी अधिकार दिए गए हैं। राज्यों द्वारा संघीय सूची के किसी विषय पर कानून नहीं बनाया जा सकता और कोई अवशिष्ट विषय भी राज्य के विधायी अधिकार के लिए नहीं छोड़ा गया है। राज्यों द्वारा समवर्ती सूची के विषयों पर कानून बनाया जा सकता है। लेकिन इस संबंध में भी केन्द्र की अधिकारिता सर्वोपरि है। राज्य केवल उन्हीं विषयों पर कानून बना सकते हैं जो राज्य सूची में दर्ज हैं। इस सूची में पहले 66 विषय शामिल किए गए थे। लेकिन बाद में 4 विषयों को समवर्ती सूची में शामिल कर लिया गया है। इसके अलावा, अनुच्छेद 200 के अंतर्गत राज्यपाल किसी भी राज्य द्वारा पारित विधेयक को राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रख सकता है। इस संबंध में राष्ट्रपति का वीटो स्पष्ट रूप से मान्य होगा साथ ही, संविधान में यह नहीं कहा गया है कि राष्ट्रपति कितने समय के भीतर उस कानून पर विचार पूरा कर लेगा।

ऐसे उदाहरण हैं कि राज्यों द्वारा 1968 और 1969 में पारित किए गए विधेयक दिल्ली में विधि मंत्रालय में अभी भी विचाराधीन हैं। संक्षेप में, राज्यों के विधायी अधिकारों में बड़ी कटौती की गई है। एक समालोचक की दृष्टि में यह व्यवस्था गैर संघीय है।

प्रशासनिक संबंध

ऊपर हमने केन्द्र और राज्यों के प्रशासनिक संबंधों का वर्णन किया गया है। इस संबंध में संविधान में निम्नलिखित उपबंध हैं—

1. अनुच्छेद 250 में यह कहा गया है कि प्रत्येक राज्य के लिए यह बाध्यकर है कि केन्द्र के सभी कानूनों को निष्ठापूर्वक क्रियान्वित करे और भारत सरकार द्वारा जारी किए गए सभी कार्यकारी निर्देशों का अनुपालन करे।
2. अनुच्छेद 257 में कहा गया है कि किसी भी राज्य की कार्यपालिका अपनी शक्ति का इस प्रकार प्रयोग नहीं करेगी जिससे संघ की कार्यपालिका की शक्ति के प्रयोग में कोई अड़चन हो या उस पर कोई प्रतिकूल प्रभाव पड़े और संघ की कार्यपालिका की शक्ति का विस्तार किसी राज्य को ऐसे निदेश देने तक होगा जो भारत सरकार को उस प्रयोजन के लिए आवश्यक प्रतीत हों। ऐसे सभी निदेशों का सभी राज्यों को निष्ठापूर्वक पालन करना होगा। अनुच्छेद 258 के अंतर्गत केन्द्र किसी राज्य सरकार की सहमति से उस सरकार को ऐसे किसी विषय से संबंधित कृत्य, जिन पर संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार है, सशर्त या बिना शर्त सौंप सकेगा। ऐसी स्थिति में ऐसे कृत्यों को करने के लिए केन्द्र द्वारा राज्य को अतिरिक्त अनुदान दिया जाएगा। इसके विपरीत राज्य सरकारें भी अपना कोई कृत्य केन्द्र सरकार को सौंप सकती हैं जिसके लिए राज्यों द्वारा केन्द्र को खर्चा दिया जाएगा। यदि अतिरिक्त कार्य के लिए खर्चा देने के विषय में कोई विवाद होगा तो इस बारे में भारत के मुख्य न्यायाधीश द्वारा नियुक्त मध्यस्थ द्वारा फैसला किया जाएगा जिसका निर्णय अंतिम होगा।
3. अनुच्छेद 260 के अंतर्गत भारत सरकार को किसी विदेशी प्राधिकरण या अधिकरण के साथ करार करने का अधिकार है और ऐसा करके वह ऐसे कृत्य हाथ में ले सकती है जिनका विस्तार उसकी क्षेत्रीय सीमा के बाहर है।
4. अनुच्छेद 261 के अंतर्गत यह कहा गया है कि भारत के राज्य क्षेत्र में सर्वत्र, संघ के और प्रत्येक राज्य के सार्वजनिक कार्यों, अभिलेखों और न्यायिक कार्यवाहियों को पूरा विश्वास और पूरी मान्यता दी जाएगी।
5. अनुच्छेद 282 के अंतर्गत यह कहा गया है कि अंतर्राज्यीय नदी जल विवादों के निपटारे के लिए संसद कानून बना सकेगी। 1955 में भारत की संसद ने एक कानून बनाया जिसके अंतर्गत ऐसे विवादों का निपटारा भारत के मुख्य न्यायाधीश द्वारा नियुक्त अधिकरण द्वारा किया जाएगा।
6. अंत में, अनुच्छेद 263 में प्रावधान है कि राज्यों के बीच उत्पन्न विवादों की जांच करने और उस पर सलाह देने, राज्यों के अथवा संघ और एक या अधिक राज्यों के सामान्य हित से संबंधित विषयों के अन्वेषण और उन पर विचार-विमर्श करने के लिए अंतरराज्य परिषद का गठन किया जा सकेगा।

संघ और राज्यों के प्रशासनिक संबंधों के विषय में सांविधानिक उपबंधों को देखने से पता चलता है कि केन्द्र की स्थिति राज्यों की अपेक्षा अधिक मजबूत है। केन्द्र द्वारा समय-समय पर कानून बनाए जाते हैं और निर्देश दिए जाते हैं जिनका राज्यों को पालन करना होता है। यदि कोई राज्य केन्द्रीय निर्देश के प्रति लापरवाही दिखाता है तो राष्ट्रपति अनुच्छेद 365 के अंतर्गत कार्यवाही कर सकता है। ऐसी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति में उस राज्य में प्रशासन की असफलता माना जा सकता है। ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति द्वारा अनुच्छेद 356 द्वारा दी गई आपात शक्ति का प्रयोग किया जा सकता है।

अनुच्छेद 263 द्वारा यह अपेक्षा की गई है कि केन्द्र और राज्यों के बीच उसी प्रकार का तालमेल होगा जैसा कि आस्ट्रेलिया की संघकारी प्रणाली में है। लेकिन राजनैतिक कारणों से अंतरराज्य परिषद का अभी तक गठन नहीं किया गया है। सरकारिया आयोग ने अपनी 1987 की रिपोर्ट में यह सिफारिश की है कि केन्द्र और राज्य के मामलों को निपटाने के लिए अंत-सरकार परिषद के रूप में एक वृहत्तर निकाय का गठन किया जाना चाहिए। एक छोटा निकाय (स्थायी समिति) भी होना चाहिए जिसमें सात सदस्य हों और प्रधानमंत्री उसका अध्यक्ष हों। इस परिषद में भारतीय संघ के छह क्षेत्रों, अर्थात् उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम और केन्द्र का एक प्रतिनिधि होना चाहिए।

वित्तीय संबंध

संविधान के भाग 12 में केन्द्र और राज्यों के वित्तीय संबंधों को निर्दिष्ट किया गया है। संविधान के कतिपय उपबंधों में यह निर्दिष्ट किया गया है कि केन्द्र और राज्यों के बीच राजस्व का बंटवारा किस प्रकार होगा। केन्द्र द्वारा उन मदों पर कर लगाया जाएगा जो संघ सूची में हैं। राज्य सूची के कुछ मदों पर कराधान का अधिकार राज्यों को प्राप्त है। राज्यों के राजस्व के साधन बहुत कम हैं। अतः अनुच्छेद 276 के अंतर्गत केन्द्र द्वारा राज्यों को अनुदान दिया जाता है। कुछ राज्य (जैसे पश्चिम बंगाल और उड़ीसा) जूट और जूट से बने सामान का निर्यात करके केन्द्र के लिए बहुत विदेशी मुद्रा अर्जित करते हैं। इसलिए केन्द्र को ऐसे राज्यों को अतिरिक्त अनुदान देने चाहिए।

केन्द्र के राजस्व का सबसे बड़ा साधन आयकर है। इसलिए केन्द्र द्वारा राज्य सरकारों को इस आय में से हिस्सा दिया जाता है। लेकिन सबसे महत्वपूर्ण उपबंध अनुच्छेद 280 में है जिसमें प्रति पांच वर्ष बाद या जब भी राष्ट्रपति आवश्यक समझे, वित्त आयोग के गठन का प्रावधान किया गया है। यह आयोग एक कानूनी निकाय है जो बैठकें करके, निर्देश पदों के अनुसार, यह निर्णय करता है कि केन्द्र और राज्यों के बीच राजस्व का वितरण किस प्रकार किया जाएगा। एन.के.पी. साल्वे की अध्यक्षता में नियुक्त नौवें वित्त आयोग ने यह सिफारिश की है कि राज्यों का हिस्सा बढ़ाया जाए।

संदर्भ

- Federalism and Centre-State Relations in India : Towards A New Era of Mutual Co Operation, O.P. Tiwari, Deep & Deep, 1996.
- Federalism and Frictions in Centre-State Relations : A Comparative Review of Indian and German Constitutions, K.L. Bhatia, Deep and Deep, 2001.
- The Purse and The Power : Aspects of Centre State Relations in India, Arie De Ruijter, B.R., 1998.
- Centre-State Financial Relations in India 1870 to 2010 : 140 Years of Indian Federal Finance, M M Sury, New Century Pub, 2008.
- Federalism and Decentralisation : Centre-State Relations in India and Germany, Gert W. Kueck, Sudhir Chandra Mathur and Klaus Schindler, Mudrit, 1998.
- Centre State Relations and Public Finance, R.D. Panwar, Ivy, 2001.

भारत में गठबंधन सरकारों का मूल्यांकन

डॉ० नीलम कुमारी सिंह

व्याख्याता, आर०डी०एम० डिग्री कॉलेज, छपरा

परिचय

सदन में बहुमत जुटाने के लिए दो या दो से अधिक दलों के बीच आपसी समझौते से गठबंधन सरकार का जन्म होता है ऐसा समझौता चुनावपूर्व या चुनाव पश्चात हो सकता है। रोजर स्कटन के अनुसार विभिन्न दलों या राजनीतिक पहचान रखने वाले व्यक्तियों के बीच आपसी समझौता गठबंधन कहलाता है। जनता ने किसी एक विरोधी दल को विश्वास देने के स्थान पर विभिन्न विरोधी दलों में अपने विश्वास को बाँट दिया था, परिणामस्वरूप एकदलीय सरकार के स्थान पर गठबंधन सरकारें स्थापित हुईं। ये गठबंधन सरकारें वैचारिक साम्यता पर आधारित होने के बजाय बेमेल अवसरवादी गठबंधन थीं। भारतीय राजनीति में 90 का दशक काफी उतार-चढ़ाव का दशक रहा है। इस दशक में केन्द्र सहित कई राज्यों में अनेक सरकारें बनीं और बिगड़ीं। दशक के प्रारम्भ में आया गठबंधन सरकार शब्द अब एक वास्तविक बन गया है। कभी गठबंधन से दूर रहने वाले कांग्रेस भी अब आवश्यकतानुसार राज्यों में गठबंधन कर रही है।

उद्देश्य

प्रस्तुत शोध पत्र का प्रमुख उद्देश्य यह है कि गठबंधन सरकार के धनात्मक एवं ऋणात्मक पक्षों पर प्रकाश डालना। वर्तमान राजनीतिक परिदृश्य के आधार पर यह स्पष्ट करना कि गठबंधन सरकार के पीछे मूलभूत कारण कौन से हैं? तथा यह विचार करना कि भारत में किस प्रकार की गठबंधन सरकार सफल हो सकती है।

विश्लेषण

एक संसदीय शासन व्यवस्था में राजनीतिक सत्ता का केन्द्र बिन्दु मंत्रिमण्डल होता है। बहुमत प्राप्त दल द्वारा गठित मंत्रिमण्डल को एकदलीय मंत्रिमण्डल कहा जाता है। क्योंकि इसमें सारे सदस्य या मंत्री केवल एक ही दल बहुमत प्राप्त दल के होते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है या हो सकता है कि विधानमण्डल में किसी भी राजनीतिक दल एक न्यूनतम कार्यक्रम के आधार पर संगठित हो जाते हैं और इस तरह बहुमत का निर्माण तथा मंत्रिमण्डल का गठन करते हैं। एक से अधिक राजनीतिक दलों को मिलकर जो मंत्रिमण्डल या सरकार बनती है उसे गठबंधन या मिला-जुला सरकार कहते हैं। ऐसे मंत्रिमण्डल में सामान्यतः उन सभी-राजनीतिक दलों को प्रतिनिधित्व दिया जात है जो कुछ सामान्य सिद्धांतों के आधार पर संगठित हुए हैं। यह स्मरणीय है कि मिले-जुले मंत्रिमण्डल में जो घटक-राजनीतिक दल होते हैं वह सरकार बनाने के उद्देश्य से संगठित होने के बाद भी अपने पृथक दलीय अस्तित्व को बनाये रखते हैं अर्थात् उन सभी राजनीतिक दलों की पहचान बनी रहती है। इन अर्थों में गठबंधन सरकार का गठन करने वाले राजनीतिक दलों का विलय नहीं होता है। सरकार का गठन चार प्रकार से हो सकता है। प्रथम जब कोई दल स्पष्ट बहुमत से

जीतकर आए। द्वितीय जब किसी एक विचारधारा से सम्बन्धित दल समूह स्पष्ट बहुमत की स्थिति में रहे जैसा केरल में वाम लोकतांत्रिक मोर्चा, पं बंगाल व त्रिपुरा में साम्यवादी दल। जैसा कि 1977 की जनता पार्टी 1999 में NDA तथा 2004 में U.P.A. के साथ हुआ। चतुर्थ जब चुनाव के बाद किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत न मिलने पर राजनीतिक दल सरकार बनाने के लिए मोर्चा या गठबंधन करे। राजनीतिक विश्लेषक तीसरी तथा चौथी प्रक्रिया के अन्तर्गत गठित सरकारों को गठबंधन सरकार के अन्तर्गत परिभाषित करते हैं।

1967 के पूर्व भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का भारतीय राजनीति में एकाधिकार था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को स्वतंत्रता संग्राम में उसकी भूमिका तथा उसके नेताओं के आदर्शों का लाभ मिला परन्तु नेहरू का चमत्कारिता आभामंडल भी कांग्रेस के स्थायी एकाधिकार को सुनिश्चित नहीं कर सका। जैसे-जैसे भारत में सामाजिक तथा राजनीतिक चेतना जागृत हुई। भारत जैसे विशाल देश एक राजनीतिक वर्ण क्रम में नहीं समा सका क्योंकि उसके पास धर्मों और क्षेत्रों, जातियों, भाषाई और सांस्कृतिक पहचानों की विविध असमानताएँ विद्यमान थी। फिर सत्तारूढ़ दल क्षेत्रीयता को समाप्त करने में विफल रहा और क्षेत्रीय मुद्दों की उसने उपेक्षा भी की। जिसके कारण क्षेत्रीय मुद्दों को लेकर क्षेत्रीय पार्टियाँ विभिन्न प्रदेशों में बनीं। चूँकि क्षेत्रीय मुद्दें जनता से सीधे तौर पर गहरे से जुड़े रहते हैं। इसी कारण क्षेत्रीय दलों ने चुनाव में सफलताएँ भी प्राप्त कीं। कावेरी जल विवाद इसका प्रमुख उदाहरण है जो वर्षों तक तमिलनाडु और कर्नाटक की राजनीति में प्रमुख भूमिका निभाता रहा इसके साथ ही कांग्रेस से लोगों का मोह भंग होने के कारण एक राजनीतिक निर्वात की उत्पत्ति हुई। चूँकि कोई विपक्षी राष्ट्रीय पार्टी उस समय इतनी सशक्त नहीं थी जो उस निर्वात को भर सके फलतः उस निर्वात को क्षेत्रीय राजनीतिक दलों द्वारा भर दिया गया। मण्डल आयोग की सिफारिशों को लागू करने के बाद जातिवाद में वृद्धि हुई और प्रत्येक राज्य में जातिगत समीकरणों के आधार पर छोटे-छोटे राजनीतिक दल बनने लगे। यद्यपि गठबंधन सरकार समय और परिस्थितियों की अनिवार्यता के कारण अस्तित्व में आती है, किन्तु इसके कई सकारात्मक पक्ष भी हैं। जैसे-यह सरकार अनेक प्रकार के मतदाताओं का प्रतिनिधित्व करती है। गठबंधन सरकार में विभिन्न विचारधाराओं वाली पार्टियाँ शामिल होती हैं इस कारण उसमें मतदाताओं के विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व रहता है। गठबंधन सरकार में विभिन्न दलों के बीच आपसी समझ-बुझ का विकास होता है। चूँकि गठबंधन सरकार में विभिन्न दलों के बीच साझा कार्यक्रम बनाया जाता है इस कारण इसमें विभिन्न दलों के बीच समन्वय होता है। गठबंधन सरकार में दलों के बीच समन्वय होता है। गठबंधन सरकार में क्षेत्रीय मुद्दों पर भी ध्यान दिया जाता है। एक दलीय शासन में उपेक्षित पड़े क्षेत्रीय मुद्दें गठबंधन सरकार में प्रधानता पा जाते हैं तथा क्षेत्रीय समस्याओं का समाधान भी गठबंधन सरकार में निकल आता है। वस्तुतः क्षेत्रीय समस्याओं में क्षेत्रीय दलों और उनके वोट बैंक का बड़ा हाथ रहता है किन्तु जब एक या एक से अधिक क्षेत्रीय दल राष्ट्रीय दल के साथ या आपस में गठबंधन करते हैं तो वे दलीय स्वार्थ से ऊपर उठकर क्षेत्रीय समस्याओं के समाधान का प्रयास करते हैं। इसके साथ ही गठबंधन सरकार साझा कार्यक्रम बनाती है और उसका सामूहिक उत्तरदायित्व होता है। इस सरकार द्वारा लिए गए निर्णय विभिन्न घटक राजनीतिक दलों के निर्णय माने जाते हैं। इसलिए कोई भी निर्णय लेने से पहले घटक दल विचार विमर्श करते हैं इस प्रकार इन निर्णयों में जनता के हित का अधिक ध्यान रखा जाता है।

गठबंधन सरकार का सबसे कमजोर पहलू इसकी अस्थिरता है। किसी भी मुख्य दल के सरकार से समर्थन वापस लेने पर सरकार गिर सकती है। इस कारण से सरकार को घटक दलों द्वारा "ब्लैकमेल" भी किया जाता है। गठबंधन सरकार में प्र. मंत्री की स्थिति काफी दयनीय रही है।

प्र. मंत्री को गठबंधन अथवा सरकार में सम्मिलित छोटी से छोटी पार्टी की भी माँग को स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। न तो प्रधानमंत्री अपनी कैबिनेट का चयन अपनी इच्छानुसार कर सकता है और न ही उसमें कोई परिवर्तन सहयोगी पार्टियों के परामर्श के बिना कर सकता है। गठबंधन सरकार का एक दुष्प्रभाव यह भी होता है कि इससे विभिन्न राजनीतिक दलों के बीच तनाव भी फैलता है। जिला अथवा ग्राम स्तर पर सरकार में सम्मिलित दलों के कार्यकर्त्ताओं को कभी-कभी अपने दल के नीतियों की विरोधी नीति का समर्थन करने और जनता को संतुष्ट करने में कठिनाई होती है जिससे उनके मनोबल पर बुरा प्रभाव पड़ता है। गठबंधन सरकार पार्टी के अनुशासन को प्रभावित करती है। चुनाव पूर्व जिसके विरोध में प्रत्याशी खड़े होते हैं वही साझा सरकार में उनके सहयोगी बन जाते हैं। इस स्थिति का संतोषप्रद उत्तर मतदाताओं को दे पाना कठिन होता है। साझा सरकार में विभिन्न दलों को मंत्रीमंडल में स्थान देने के कारण मंत्रीमंडल बड़ा हो जाता था। मंत्रियों पर प्र. मंत्री के ढीले नियंत्रण से भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन मिलता है। प्रत्येक मामले पर घटक दलों की सलाह की अनिवार्यता के कारण काम की गति धीमी रहती है तथा कुछ महत्वपूर्ण मुद्दों की उपेक्षा केवल इसलिए कर दी जाती है क्योंकि वे सरकार में शामिल किसी घटक दल के वोट बैंक के लिए हानिकारक होते हैं। अनेक राजनीतिक विश्लेषकों का मानना है कि छोटे-छोटे क्षेत्रीय दलों के उभार से भारतीय संघ में क्षेत्रीयता, अलगाववादी जैसी विघटनकारी शक्तियों को बढ़ावा मिल रहा है।

भारत में गठबंधन सरकार

जहाँ तक भारत में गठबंधन सरकार का प्रश्न है तो इस अवधारणा से भारतीय बहुत पहले से परिचित है किंतु इसका यहाँ अधिक प्रचलन न होने के कारण भारत में साझा सरकार को एक नई अवधारणा मान लिया गया है। भारत में साझा सरकार के गठन की प्रक्रिया स्वतंत्रता के पूर्व ही आरंभ हो गयी थी। भारत सरकार अधिनियम 1935 के अन्तर्गत हुए चुनावों में काँग्रेस ने 05 प्रांतों में सरकार बनाई जबकि मुम्बई में वह दो-तीन दलों के समर्थन से सरकार बनाने की स्थिति में थी तथा असम एवं उत्तर पश्चिमी सीमा प्रांत में वह सबसे बड़े दल के रूप में उभरीं इन प्रांतों में भी गठबंधन सरकारें बनीं।

स्वतंत्रता के बाद पहली गैर काँग्रेसी सरकार का गठन केरल के पहले आम चुनाव 1955 ई. में एस. नम्बूदिरिपाद के नेतृत्व में हो गया था। वह साम्यवादी सरकार सही मामलों में गठबंधन सरकार नहीं थी। भारत में गठबंधन की शुरुआत 1967 में चौथे आम चुनाव से मानी जाती है। इस चुनाव में काँग्रेसी आधिपत्य को पहली बार झटका लगा इस चुनाव में बंगाल, उ.प्र., उड़ीसा, बिहार, म. प्र., तमिलनाडु, हरियाणा और पंजाब में काँग्रेस बुरी तरह परास्त हुई और यहाँ गैर काँग्रेसी संविद सरकारें गठित हुईं। सभी गठबंधन सरकारें भी उ. प्र. में इस गठबंधन सरकार की प्रथम बागडोर चौधरी चरण सिंह ने सम्हाली। आपात्काल (जून 1975 से अप्रैल 1977) के बाद जनता पार्टी का गठन हुआ। यह कई राजनीतिक दलों जैसे – जनसंघ, भारतीय लोकदल, सोशलिस्ट पार्टी तथा काँग्रेस फार डेमोक्रेसी का उत्तर समूह थी। इसने 1977 के आम चुनावों में भारी जीत हासिल कर केन्द्रीय स्तर पर प्रथम गठबंधन सरकार बनाई। 1989 में राष्ट्रीय मोर्चा सरकार, भाजपा तथा वाम मोर्चा के समर्थन पर बनी। 1996-97 में पहले देवगौड़ा फिर इन्द्रकुमार गुजराल की सरकारें कई पार्टियों के संयुक्त मोर्चे के गठन से बनीं जिसे काँग्रेस ने बाहर से समर्थन दिया। 1998 में 13 पार्टियों संयुक्त मोर्चा के गठन से बनीं जिसे काँग्रेस ने बाहर से समर्थन दिया। 1998 में 13 पार्टियों के गठबंधन से बनी

बाजपेयी सरकार 13 महीने चली। 1999 में पुनः बाजपेयी के नेतृत्व में 24 पार्टियों वाला राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन (राजग) सत्ता में आया। पुनः मई 2004 में कांग्रेस के नेतृत्व में संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन केन्द्र में सरकार बनाने में सफल रहा।

भारत में जो भी गठबंधन बनते हैं वे किसी आदर्श की नींव पर नहीं बनाते बल्कि अवसरवादिता के सिद्धांत की बुनियाद पर बनते हैं। 1970 और 1980 के दशक में जो भी राजनैतिक गठबंधन बनते थे उनका उद्देश्य कांग्रेस को हटाना था। आज जो गठबंधन बन रहे हैं उनका एक ही उद्देश्य है सत्ता की प्राप्ति। यही कारण है कि इन गठबंधनों को कोई भविष्य नहीं होता। इन गठबंधनों में परस्पर विरोधी विचारधारा वाली पार्टियाँ शामिल होती हैं। संयोगवश वे कुछ कारणों से एक होती हैं। उदाहरणार्थ संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन में वामपंथी पार्टियाँ भी शामिल हैं जबकि प. बंगाल और केरल में कांग्रेस के ये घोर विरोधी हैं। अतः आज का गठबंधन कोई सिद्धान्त नहीं है बल्कि यह अवसरवादिता पर आधारित है।

सन्दर्भ-सूची

- (1) दि इंडियन पोलिटिकल सिस्टम-नार्मन डी पामर।
- (2) गवर्नमेंट एण्ड पोलिटिक्स ऑफ इंडिया-डब्ल्यू एच. मोरिस जॉंस।
- (3) भारतीय राजनीति व्यवस्था-एस. एम. सईद।
- (4) इंडियन गवर्नमेंट एण्ड पोलिटिक्स-डी. सी. गुप्ता।
- (5) भारतीय संविधान : एक परिचय-दुर्गादास बसु।
- (6) दल-बदल की राजनीति-डॉ. सुभाष कश्यप।
- (7) भारतीय शासन एवं राजनीति-डॉ. रुपा मंगलानी।
- (8) पोलिटिकल इन इंडिया-रजनी कोठारी।
- (9) इंडियन गवर्नमेंट एण्ड पोलिटिकल-जे. आर. स्वीच।

वैश्वीकरण की चुनौतियाँ एवं भारत

डॉ० अनुराधा गौतम

समाजशास्त्र विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया

परिचय

वैश्वीकरण या भूमण्डलीकरण एक बहु आयामी खुली अवधारणा है, जो व्यापार प्रौद्योगिकी, उद्योग और अर्थव्यवस्था के रूपांतरण को सार्वभौमिक दिशा की ओर इंगित करती है। यह एक सांस्कृतिक प्रक्रिया भी है। यह एक प्रक्रिया है जो आधुनिकता से संस्थाओं को सार्वभौमिक दिशा की ओर रूपांतरित करती है। (गिडेन्स, 1991), एक विश्वव्यापी व्यापार प्रारूप के रूप में वैश्वीकरण यद्यपि एक नवीन अभिगम है, किन्तु इसकी जड़ें द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के पाँच दशकों में निहित हैं। 1960 के दशक को समाज वैज्ञानिकों और नीति नियोजकों ने वृद्धि काल के रूप में देखा, 1970 के दशक को आधुनिकरण, 1980 के दशक को सामाजिक रूपांतरण और विकास तथा 1990 के दशक को संबन्धीय विकास के रूप में व्याख्यायित किया और अन्ततः इस दशक के उत्तरार्द्ध अर्थात् 20 वीं सदी के समापन के दौर में उदारीकरण और निजीकरण पर विशेष बल देते हुए वैश्वीकरण की अवधारणा रखा (पाण्डेय, 1997), वैश्वीकरण को अग्रसारित करने वाले प्रमुख प्रेरक हैं- बाजार की खोज, बहुराष्ट्रीय विनिवेश और प्राद्योगिकी, इलेक्ट्रॉनिक के नये उपकरण तथा कम्प्यूटर से जुड़ा विश्व सूचना संकूल (Computer Network)

वैश्वीकरण का सार्वधिक विरोधाभास का पहलू-सामाजिक-आर्थिक विषमता, असमानता, अन्याय, असुरक्षा जो विश्व समाजों की अर्थव्यवस्था, शासनतंत्र तथा सामाजिक संरचना में व्याप्त है। औद्योगिक रूप से विकसित देश सम्पूर्ण विश्व जनसंख्या के 20% का प्रतिनिधित्व करते हैं और विश्व संसाधनों के 80% पर नियंत्रण संसाधनों के मात्र 20% पर अस्तित्व कायम रखे हैं। उत्तरी अमेरिका, इंग्लैण्ड, फ्रांस जर्मनी, इटली जैसे देश औद्योगिक अर्थव्यवस्था से ऊपर उठकर उद्योगोत्तर अर्थ व्यवस्था (Post Industrial Economy) के रूप में स्थापित हुए हैं। ये देश अपने उत्पादनों के बिक्री हेतु त्वरित बाजार क्षेत्र की आवश्यकता से व्याकूल है, पश्चिम के इन राष्ट्रों के लिए विकसित देश जैसे लैटिन अमेरिका, अफ्रिका और एशिया के देश विकल्प बाजार के क्षेत्र के रूप में दिख रहे हैं। ऐसी स्थिति में भारत जैसे विकासशील देश तकनीकी इलेक्ट्रॉनिक साम्राज्य के इच्छुक नहीं है।

प्राचीन भारतीय शास्त्रों से “बसुधेव कुटुम्बकम” का संदेश ले तो वैश्वीकरण कोई नयी अवधारणा नहीं है किन्तु वैश्वीकरण की प्रक्रिया पर तब प्रश्नचिन्ह लग जाता है जब आत्मीयता की जगह शोषण, त्याग की जगह मुनाफा और सहयोग के नाम पर कर्ज की अवधारणा लेकर उपस्थित होती है। स्वदेशी समाज एक भगौलिक इकाई नहीं है यह वह जगह है जहाँ दुनिया देशज तरिके से जीवन जीता है। वह जिस देश में रहता है, वह उसका स्वदेशी समाज है। प्रत्येक स्वदेशी समाज की अपनी विशेषतायें होती हैं। उनकी अपनी विशिष्ट प्रकार की अर्थव्यवस्था समाज व्यवस्था सांस्कृतिक एवं धार्मिक व्यवस्था होती है। इस विशिष्ट प्रकार की व्यवस्थाओं पर आज वैश्वीकरण को एक भयंकर खतरे के रूप में देखा जा रहा है क्योंकि ये भारत जैसे विकासशील देशों की अर्थव्यवस्था,

राजनीतिक व्यवस्था सहित अनेक सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था पर अपना प्रभुत्व थोप रहा है। आज प्रत्येक देश वैश्वीकरण के नकारात्मक पहलू पर ध्यान दे रहा है क्योंकि वैश्वीकरण का दूसरा स्वरूप मुक्त बाजार व्यवस्था अर्थात् उदारीकरण है जो किसी भी स्वदेशी अर्थव्यवस्था को अपने कब्जे में लेना चाहता है। इसकी अभिव्यक्ति गेट, डंकल, विस्त व्यापार संगठन, विश्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के रूप में है। विश्व व्यापार संगठन वैश्वीकरण के सबसे शक्तिशाली संस्थागत अभिव्यक्ति है जो आर्थिक सहायता या सुधार के माध्यम से बिना किसी बाधा के स्वदेशी राजनीति में सीधे तौर से दखल आंदाजी करता है।

स्वदेशी अवधारणा का आह्वान सर्वप्रथम बाल गंगाधर तिलक ने किया जिसे महात्मा गांधी ने सफलतापूर्वक आगे बढ़ाया (एस. गुरुमूर्ति, 1994), स्वदेशी की अवधारणा स्वतंत्रता आंदोलन के एक अंग के रूप में व्यक्त हुई, जिसमें सकारात्मक और नकारात्मक दोनों बाते थी। सकारात्मक अवधारणा के रूप में इसका लक्ष्य था, हजारों साल की निरंतरता में भारतीय जीवन के सभ्यतामूलक राजनैतिक और आर्थिक आदर्शों, विचारों संस्थाओं में फिर से जान फूंकना और उन्हें पुनः स्थापित करना। नकारात्मक अवधारणा के रूप में इसने विदेशी पश्चिम सभ्यता, राजनैतिक और आर्थिक विचारों, उत्पादों, प्रतिकों और संस्थाओं को थोपे जाने के विरोध की शक्ति अखिलियार की। यह धारणा शोषण और प्रताड़ना के बचाव के रूप में उभरी।

विदेशी माल का बहिष्कार, असहयोग आंदोलन, नमक सत्याग्रह और आखिरकार भारत छोड़ो आंदोलन स्वदेशी आंदोलन के अंतर्गत ही हुए, जिसका लक्ष्य पश्चिम से थोपे गये या आयातित विचारों, वस्तुओं और संस्थाओं का विरोध कर भारत को सभ्यतागत, राजनैतिक, आर्थिक आजादी दिलाना था। महात्मा गांधी का कहना था कि स्वदेशी एक बहु-आयामी अवधारणा है। सभ्यता में यह अपने धर्म और परम्परा की त्रुटियों को दूर करते हुए उसके साथ लगाव रखता है। राजनीति में यह स्वदेशी संस्थाओं को पुर्नजीवित और पुनःस्थापित करने, उनकी कार्य क्षमता बढ़ाने और उनकी कमियों को दूर करने पर जोर देता है। अर्थशास्त्र में यह पड़ोसियों के साथ सदभाव की वकालत करता है और दूरस्य की बजाये पास के और सबसे करीबी पड़ोस को प्राथमिकता देने की बात करता है।

विश्व व्यापार संगठन को आमतौर पर नव-साम्राज्यवाद, नव-उपनिवेशवाद के रूप में देखा जा रहा है जो 300 वर्ष पुरानी साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद के परम्परा को जारी रखना चाहता है। आधुनिक ज्ञान प्रणाली पर आधारित वैश्वीकरण से राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक तौर नहीं लड़ा जा सकता, अनुभव हमें बताता है कि विश्व व्यापार संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक में अंतर संबंध है। वास्तव में विश्व व्यापार संगठन वैश्वीकरण का अगुआ हो गया, जो स्वदेशी ज्ञान प्रणाली के विरुद्ध है। यह स्वदेशी समाज की चेतना को चिढ़ाता है। अतः आवश्यकता है, इन चुनौतियों को समझकर संतुलित मार्ग अपनाने की। भारत जैसे समाजवादी एवं कल्याणकारी देशों से जुड़े सामाजिक न्याय के सिद्धान्त का वैश्वीकरण के कार्यक्रम में कोई स्थान नहीं है।

तकनीकी-इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों एवं संसाधनों जैसे-कम्प्यूटर, ई-मेल तथा इंटरनेट आदि सुलभता सामान रूप से विश्व के सभी देशों को सुलभ नहीं है। अनुसंधान एवं विकास आज किसी भी अर्थव्यवस्था की प्रगति के लिए संजीवनी शक्ति है। इस दिशा में प्रायः पश्चिम के बहुराष्ट्रीय लोगों की ही पहल है। ऐसी स्थिति में भारत जैसे विकासशील देशों की शक्ति संरचना में भागीदारी और

नीति निर्धारण में साझेदारी से वंचित रहने की बहुत संभावना है। फलतः बहुराष्ट्रीय कंपनियों का वर्चस्व और आर्थिक एवं बाजार क्षेत्रों में अग्रिम भागीदारी विकसित देशों की ही दिख पर रही है। भारत में रह रहे गरीब, कमजोर पिछड़े वर्ग, कृषि श्रमिक आदि की आवश्यकताओं और आशाओं के लिए वैश्वीकरण एक भ्रामक अवधारणा है क्योंकि यह धनी और निर्धन के बीच उग्र वर्ग चेतना और सामाजिक-आर्थिक दूरी को बढ़ावा देता है। वैश्वीकरण को अंगीकार करने का सीधा आशय विश्व के बहुसंख्यक समाजों पर सुसंगठित अल्पसंख्यक राष्ट्रों के प्रभुत्व और प्राथमिकता को स्वीकार करना है। भारत की संस्कृति, ऐतिहासिक परम्परा, राष्ट्रीय अस्मिता और वैचारिकी विकसित राष्ट्रों से भिन्न है। अतः वैश्वीकरण का आदर्श यहाँ एक चुनौति के रूप में उभर कर आया है। जिसे स्वदेशी मानसिकता द्वारा ही मुकाबला किया जा सकता है।

अध्ययन का उद्देश्य

प्रस्तुत अध्ययन निम्नलिखित उद्देश्यों को ध्यान में रखकर किया जा रहा है:-

1. वैश्वीकरण के प्रभाव के कारण स्वदेशी ज्ञान प्रणाली में उत्पन्न चुनौतियों का अध्ययन करना
2. वैश्वीकरण के लुभावने कार्यक्रमों के परिणामस्वरूप भारतीय समाज में बढ़ती हुई विषमता, विसंगति, असंतुलन, विभेदीकरण का अध्ययन करना।
3. वैश्वीकरण के कारण उत्पन्न स्वदेशी संस्कृति के रूपांतरण का अध्ययन करना।
4. परम्परागत भारतीय परिवार एवं विवाह संस्था पर वैश्वीकरण के प्रभावों का अध्ययन करना।
5. सूचना प्रौद्योगिकी के कारण भारतीय संस्कृति में होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन करना।
6. वैश्वीकरण के कारण भारतीय अर्थव्यवस्था पर सकारात्मक और नकारात्मक प्रभावों का अध्ययन करना।

उपकल्पनाएँ

प्रस्तुत शोध के लिए निम्नलिखित उपकल्पनाओं का निर्माण किया है:-

1. वैश्वीकरण के कारण स्वदेशी संस्कृति लुप्त होती जा रही है।
2. वैश्वीकरण के कारण सम्पूर्ण समाज एक बाजार क्षेत्र में परिवर्तित हुआ है।
3. वैश्वीकरण के कारण लोगों में औपचारिक संबंधों का प्रादुर्भाव हुआ है।
4. वैश्वीकरण के कारण धनी धनी होता जा रहा है और गरीब और गरीब।
5. परम्परागत शिक्षा एवं ज्ञान प्रणाली के अस्तित्व पर संकट छा गया है।
6. तकनीकी शिक्षा पर केवल धनी सम्पत्तियों का कब्जा हो गया है।

अध्ययन पद्धति

प्रस्तुत अध्ययन का संबंध एक ऐसी समसामयिक समस्या से है जिसके कारण विगत एक दशक से भारतीय समाज जूझ रहा है। इस अध्ययन के लिए सप्रग के रूप में पटना नगर को सुविधानुसार चुना गया है। इस अध्ययन में प्राथमिक एवं द्वैतीयक दोनों स्रोतों से तथ्यों को एकत्रित करने का प्रयास किया जायेगा। वस्तुनिष्ठ एवं वैज्ञानिक सूचना प्राप्त करने के लिए स्तरित निदर्शन प्रणाली द्वारा निदर्शन का चुनाव किया जायेगा ताकि विभिन्न आय वर्ग, पेशे वर्ग और विभिन्न पर्यावरणों तथा विभिन्न

शैक्षणिक वर्ग के लोगों से सूचनाएँ एकत्रित की जाये। अवलोकन और साक्षात्कार अनुसूची द्वारा तथ्यों का संकलन किया जायेगा। इस अध्ययन में अन्वेषणात्मक और निदानात्मक शोध प्रचरना का प्रयोग किया जायेगा।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. Swadeshi view of Globalisation - Daya Krishna
2. भूमंडलीकरण और रोजगार - डॉ. अश्विनी महाजन
3. स्वदेशी - दंतोपंत ठेंगड़ी
4. सर्वसमावेशी स्वदेशी - दंतोपंत ठेंगड़ी
5. स्वदेशी पत्रिका
6. हिन्दुस्तान समाचार पत्र
7. The Times of India
8. प्रभात खबर समाचार पत्र
9. The Hindustan Times

जैविक खेती महत्ता: एक अर्थशास्त्रीय विवेचन

डॉ० रंजना सिंह

एसोसिएट प्रोफेसर, आर०डी० एंड डी०जे० कॉलेज, मूंगेर

उत्तर बिहार की मिट्टी का पीएच मान खतरनाक स्तर की ओर बढ़ रहा है। सामान्य स्थिति में, जहां यह आठ को पार कर गया है। पीएच के बढ़ने से तकरीबन 50 प्रतिशत जगहों की मिट्टी नमकीन हो उसर होने लगी है। ऐसी मिट्टी में जिंक, बोरॉन, आयरन व मैगनिक समेत अन्य तत्वों की कमी से उर्बा शक्ति कम हो जाती है। कहीं-कहीं तो मिट्टी का पीएच 9.24 तक पहुंच गया है। इसपर नियंत्रण के लिये किसान व कृषि विभाग सजग नहीं हुए तो यहां बीज का अंकुरण भी मुश्किल हो जायेगा। तब उसर जमीन को खेती योग्य बनाने के लिये काफी खर्च एवं परिश्रम करना पड़ेगा।

—हिन्दुस्तान, दैनिक अखबार 24 जुलाई, 2010

भारत में 1950-51 और 2006-07 के बीच कृषि था, परन्तु 1990-2007 के बीच खाद्यान्न उत्पादन में 1.2 प्रतिशत की कमी आयी जबकि जनसंख्या में 1.9 प्रतिशत की वृद्धि दर्ज हुई। इस प्रकार जनसंख्या वृद्धि और खाद्यान्न उत्पादन वृद्धि में अंतर विद्यमान है जो भावी संकट की ओर इशारा करता है।

भारत में पिछले दशब्दी में 2.6 प्रतिशत की दर से कृषि क्षेत्र में वृद्धि हुई है और 11वीं पंचवर्षीय योजना के तीन वर्षों 2007-08 से 2009-10 के बीच कृषि क्षेत्र का विकास 2 प्रतिशत वार्षिक की दर से हुई है। देश में 2009-10 में 216.85 मिलियन टन खाद्यान्न उत्पादन का लक्ष्य था, परन्तु 7.51 प्रतिशत उत्पादन हुई है। इसके कई कारक जिम्मेवार हैं:-

- प्रथम हरितक्रान्ति लाने में रासायनिक खादों का महत्वपूर्ण योगदान है। इसका अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि 2005-06 में इसका प्रयोग 105.5 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर था और अब 2008-09 में 128.6 कि. ग्राम का उपयोग हो रहा है।

इस अंधाधुंध प्रयोग से हमारी बढ़ती हुई जनसंख्या को एक ओर खाद्यान्न उपलब्ध हुआ और दूसरी ओर खाद्यान्न के मामले में देश आत्मनिर्भर हुआ। परन्तु इसका दुष्परिणाम अब आना शुरू हो गया है कि मिट्टी का पीएच 8 प्रतिशत से अधिक हो गया है और मिट्टी नमकीन तथा उसर हो रहा है। कुछ वर्षों बाद बहुत जल्द ही जमीन खेती के लिये अनुपयुक्त हो जायेगी जिसकी कल्पना करके रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

- देश की जनसंख्या में वृद्धि और उत्तराधिकार कानूनों के कारण भूमि उपखण्डों की संख्या 1976-77 में 77 मिलियन से बढ़कर 115 मिलियन हो गया है। इन 115 मिलियन में से 78 प्रतिशत उपखण्ड लघु एवं सीमांत श्रेणी के हैं जिसका आकर 2 हेक्टेयर से कम है। जनसंख्या बढ़ने से भूमि और व्यक्ति का अनुपात 1951 में 0.5 हेक्टेयर से 0.14 हेक्टेयर हो गया है और इसे 2020 तक 0.08 हेक्टेयर हो जाना है। इसका परिणाम उत्पादन लागत में वृद्धि और अवैज्ञानिक खेती को प्रोत्साहन देना है।

- कुल-साधन उत्पादकता (Total-Factor Productivity) उत्पादन और वृद्धि पैमाना को मूल्यांकित करने का उत्तम उपाय है। यद्यपि 1970 और 1980 के बीच यह अनुकूल स्थिति में था परन्तु अभी उत्पादन लागत में उतरोत्तर वृद्धि को दर्शाता है। वास्तव में 2000-01 से 2002-03 तक गेहूँ को छोड़कर बाकी सभी फसलों का टीएफपी नकारात्मक परिदृश्य को दर्शाता है।
- सहगल और अवरोल, 1994 में अपने अध्ययन में बताये हैं कि देश में 328.73 मिलियन हेक्टेयर क्षेत्र में लगभग 188 मिलियन हेक्टेयर भूमि के गुणवत्ता में गिरावट आयी है, जिसमें 148.9 मिलियन मिट्टी कटाव, 13.5 मिलियन हेक्टेयर वायु और 13.8 मिलियन हेक्टेर रासायनिक खादों के प्रयोग से गिरावट आयी है।
- फसलों को हानिकारक कीड़ों से रक्षा के लिये कीटनाशकों का प्रयोग किया जाता है जिससे मित्रकीड़ों, जो प्राकृतिक उर्बरता को बढ़ाने तथा पुनः उत्पादकता संचयन करने में मदद करते हैं, का नाश हो जाता है जिससे जमीन उसर होती जा रही है।

इसका एक उदाहरण है, महाराष्ट्र से दूसरे देशों को निर्यात किया गया अंगूर वापस लौट आया था, क्योंकि अंगूरों में कीटनाशकों का अवशेष पाया गया था। इसी प्रकार भारत की चायों को विदेशों में अधिक कीटनाशकों के प्रयोग वाला उत्पाद बताया जा चुका है। 'इण्डियन कॉन्सिल ऑफ मेडिकल रिसर्च' द्वारा 2,205 गायों एवं भैसों के दुध के नमूने की जांच की गयी। 84 प्रतिशत नमूने में कीटनाशकों का स्तर खतरनाक पाया गया। इसका कारण बताया गया कि मवेशियों की भोज्य सामग्री कीटनाशकवाली फसलों के अवशेष थे। अहमदाबाद स्थित 'कन्जयूमर एजुकेशन एंड रिसर्च सोसाइटी' ने कुछ लोकप्रिय ब्रांड के गेहूँ के आटे की जांच की उसमें लिंडाले नामक खतरनाक कीटनाशक के अंश पाये गये।

दूसरी तरफ विभिन्न प्रकार के रासायनों एवं कीटनाशकों के प्रयोग से आन्त्रशोथ, एलर्जी, हेपेटाइटिस, हृदयरोग एवं कैंसर होने की संभावना बढ़ी है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के सर्वे के अनुसार 20-25 हजार व्यक्ति प्रतिवर्ष इन रासायनों के प्रयोग से अकाल मृत्यु को प्राप्त होते हैं। कीटनाशकों के प्रयोग करनेवाले किसान के परिवार को भी बिमारियों के इलाज पर हजारों-हजार खर्च करना पड़ता है। इसका छिड़काव करनेवाले श्रमिकों में चर्मरोग, अंधापन और शरीर में दर्द की शिकायतें आम पायी गयीं।

गोरखपुर एनवायरमेंटल एक्शन ग्रुप के अध्ययन एवं राज्य कृषि सलाहकार परिषद के सदस्य डॉ. शिवराज वजीह का कहना है रासायनिक उर्वरकों के अत्यधिक प्रयोग से भूमि की उपजाऊ शक्ति में कमी तो आयी ही है, साथ ही उसके अन्य दुष्प्रभाव जैसे मिट्टी, जल, तथा पर्यावरण प्रदूषण आदि भी सामने आने शुरू हो गये हैं। मिट्टी को स्वस्थ बनाये रखने, अपेक्षित उत्पादन प्राप्त करने, उत्पादन लागत घटाने, पर्यावरण और स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से यह आवश्यक है कि रासायनिक उर्वरकों जैसे कीमती निवेश के प्रयोग को हतोत्साहित करके जैविक खादों के प्रयोग को बढ़ावा दिया जाना चाहिए।

जिस प्रकार प्रथम हरित क्रान्ति रासायनिक खादों तथा प्रमाणित बीजों आदि के प्रयोग से सफलीभूत हुआ उसी प्रकार द्वितीय हरित क्रान्ति जैविक खादों, अनुसंधानित बीजों तथा बायो-तकनीक के प्रयोग से सफलता का इतिहास रचेंगी तथा मानव जाति, एवं पृथ्वी के अन्य जीव जीवित बच सकेंगे।

- जैविक खादों के प्रयोग से मिट्टी का जैविक स्तर बढ़ता है जिससे लाभकारी जिवाणुओं की संख्या बढ़ जाती है परिणामतः प्राकृतिक उपजाऊपन की क्रिया होती रहती है और भूमि की उपजाऊपन बनी रहती है।
- जैविक खाद द्वारा पौधों की वृद्धि के लिये आवश्यक पोषक तत्वों जैसे नाइट्रोजन, फास्फोरस, पोटैश तथा अन्य पोषण तत्वों की पूर्ति की जाती है।
- जैविक खाद रासायनिक खादों के मुकाबले सस्ते तथा तैयार करने में आसान होते हैं।
- ये खादें सड़ने पर कार्बनिक अम्ल देती है जो मिट्टी के अघुलनशील तत्वों को घुलनशील अवस्था में परिवर्तित कर देती है जिससे मिट्टी का पीएच मान 7 से कम हो जाता है।

जैविक कृषि को बढ़ावा देने तथा रासायनिक खादों पर बढ़ते दबावों को कम करने के लिए 10 वीं पंचवर्षीय योजना में 'जैविक कृषि पर राष्ट्रीय प्रोजेक्ट' प्रारंभ किया गया जिसके लिए 115.00 करोड़ रु. व्यय करने का प्रावधान किया गया था। पूर्ववर्ती योजना नेशनल प्रोजेक्ट ऑन डेभलपमेंट एण्ड यूस ऑफ ऑर्गेनिक फार्मिंग' में विलय कर दिया गया है।

इस योजना का मुख्य उद्देश्य निम्न है:-

- सेवा प्रदाता द्वारा क्षमता निर्माण करना।
- जैविक खाद उत्पादन करनेवाले उत्पादक इकाइयों को वित्तीय सहायता प्रदान करना।
- प्रशिक्षण और प्रदर्शन के द्वारा मानवीय संसाधनों का विकास करना।
- बाजार का विकास तथा जानकारी का निर्माण और प्रचार-प्रसार करना।
- जैविक इनपुट का गुणात्मक नियंत्रण करना।

यद्यपि जैविक कृषि को बढ़ावा देने के लिए उपयुक्त मिशन के द्वारा उनके कार्य किए जा रहे हैं परन्तु व्यावहारिक रूप में यह फूल तथा साग-सब्जी तक ही आंशिक रूप में पहुंच पाया है। कम्पोस्ट खाद, वर्मी खाद तैयार करने के लिए मवेशियों की संख्या में वृद्धि होना आवश्यक है। जबकि सच्चाई यह है कि अपने देश में मवेशियों की संख्या दिनोदिन घटती जा रही है। मवेशियों को बदले खेती में मशीनों के प्रयोग को बढ़ावा दिया जा रहा है।

दूसरी समस्या 'इथनोल तथा वायोंगैस' के उत्पादन करने के लिए कच्चा मक्का तथा उसके हरे और सूखे डण्डल, गन्ने के सूखे और हरे पत्तों, धान के पुआल, गेहूँ के भूसों आदि का प्रयोग हो रहे हैं और यही पदार्थ मवेशियों के खाने के प्रयोग में आते हैं। इसका परिणाम यह होगा कि इस मिशन (जैविक खेती) को लघु स्तर पर संभव तो बनाया जा सकता है परन्तु वृहद स्तर पर सफलीभूत करने के लिए बहुत से समन्वयकारी प्रयास तथा सार्थक कदम उठाने की जरूरत है। 'सोसियो इकोनॉमिक एण्ड कल्चर अपलिफटिंग इन रुरल इनवारनमेंट' और कई स्वयंसेवी संस्थाओं ने मिलकर किसानों को कीड़े-मकोड़ों का खेतों में पारिस्थितिक प्रबंधन बनाने के तरीके बताने शुरू किये हैं।

आन्ध्रप्रदेश का पुनुकुला गांव एक आदर्श गांव की तरह उभर रहा है जहां के किसान कीटनाशकों के बदले नीम के बीजों के पाउडर और हरी मिर्च व लहसून के अर्क का छिड़काव करना शुरू किया है। इसके साथ सहायक फसलों को उपजाने लगे हैं। कीटनाशकों का इस्तेमाल नहीं होने से मकड़ी, वीटल और ततैये वापस खेतों की ओर लौटने लगे हैं जो छोटे-छोटे कीटों को खा जाते हैं। इस तरह कीटनाशकों का प्रयोग खत्म करके 10000 रु. प्रति एकड़ बचत कर रहे हैं।

इस तरह कृषि नीति निर्माण में उपरोक्त बातों पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है। जबतक अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों के लिए एक एकीकृत योजना का निर्माण नहीं होगा तबतक कृषि का विकास सम्भव नहीं है, न हम कृषि के विकास दर 4 प्रतिशत को प्राप्त कर सकते हैं और न पृथ्वी के जीवन को बचा सकते हैं।

सन्दर्भ

1. हिन्दुस्तान-दैनिक जागरण
2. योजना
3. कुरुक्षेत्र
4. पर्यावरणीय अध्ययन-डॉ. एन. एम. अवस्थी
5. प्रतियोगिता दर्पण (अतिरिक्तांक)-20-11-12।

भारतीय शिक्षा व्यवस्था में शिक्षक का महत्व

डॉ० अनीता शर्मा

एसोसिएट प्रोफेसर, दाऊ दयाल महिला कॉलेज, फिरोजाबाद, उ०प्र०

सारांश

वर्तमान समाज में तीव्र गति से परिवर्तन हो रहा है। आधुनिकीकरण, पश्चिमीकरण और वैश्वीकरण की प्रक्रिया का प्रभाव जीवन के प्रत्येक पक्षपर पड़ रहा है; ऐसे में आज छात्र को उचित-अनुचित का ज्ञान करना सर्वाधिक महत्वपूर्ण है— क्योंकि आज हमारे देश में अच्छे डॉक्टर्स बहुत हैं, अच्छे इंजीनियर, प्रोफेसर, जज और उद्योगपति बहुत हैं। किन्तु अच्छे इंसानों का अभाव हो गया है। यह बताना गुरु का ही दायित्व है कि मंदिर में घी का दीया जलाना ज्यादा उपयोगी है अथवा अंधेरी गली में तेल का दीया भी जला दिया जाय तो ज्यादा उपयोगी है। चूंकि दीप से ही दीप जलाया जा सकता है। अतः विद्यार्थी के जीवन से पहले अपने जीवन का निर्माण करना शिक्षक का पहला कर्तव्य है।

प्राचीन काल से ही गुरु को समाज में प्रतिष्ठा, समान व आदर प्राप्त होता रहा है, परंतु समय के साथ गुरु के आदर्शों में परिवर्तन होता रहा है। उनके अनुसार शिक्षक का दायित्व जीवन के प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोण होना चाहिए। शिक्षक यानी एक प्रमाणित व्यक्तित्व, ज्ञान की गरिमा, और श्रद्धा के प्रति संवेदना होनी चाहिए। शिक्षक उनके श्रेष्ठ आचरण द्वारा विद्यार्थियों में आदर्श बने और उसके जीवन का निर्माण करे और अच्छे नागरिक समाज को उपलब्ध करे। शिक्षक की शिक्षा कला में नैपुण्यता होनी चाहिए। और शिक्षक विद्यार्थी का हितचिंतक, पथदर्शक एवं मित्र के साथ शिक्षक छात्रों में नहीं बल्कि श्रेष्ठ संस्कारों से मिलता है।

पूर्व भूमिका

शिक्षा मनुष्य के लिए है और मनुष्य मानवता के लिए है। शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य का निर्माण करना है जो मानवता के काम आये। मनुष्य इकाई है और उसे मानवता अर्थात् समाज समष्टि के लिये काम करना है प्रत्येक मनुष्य को अपनी सीमा के बाहर आकर असीम को और बढ़ाना है। मनुष्य के अंतःकरण एवं मन में असीमित संभावनाएं छिपी रहती हैं, जिनका विकास किया जाना अत्यावश्यक है। जो अंदर है उसी की अभिव्यक्ति बाहर होती है।

ज्ञान अपनी संपूर्णता में सबके भीतर स्थित है, जो अज्ञान के पर्दे से आवृत है जिसे अनावृत किया जाता है। इस अनावरण का प्रयास ही शिक्षा है। यह हमारा दुर्भाग्य है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात सर्वप्रथम देशभक्ति तथा प्राप्य शिक्षा का नाश हुआ। आज आवश्यकता इस बात की है कि राष्ट्रीय जागरूकता की वृद्धि तथा राष्ट्रीय एकीकरण एवं एकता के सुदृढीकरण का उत्तरदायित्व शिक्षण संस्थाएं एवं शिक्षकगण संभालें। शिक्षा, शिक्षक तथा शिष्य अर्थात् छात्र की त्रिवेणी वास्तव में एक चित्र के तीन पहलू हैं। एक की भी चर्चा की जाय तो शेष दो गतार्थ रहते हैं। अतएव ये तीनों परस्पर

अविभाज्य हैं। शिक्षा मूलतः समाज का सरोकर व दायित्व है। अतएव इसे समाज द्वारा ही संचालित कराया जाना चाहिए, क्योंकि शिक्षा न केवल व्यक्ति की आत्मिक मुक्ति के लिये है बल्कि विश्व मात्र के कल्याण के लिए हैं “आत्मनो मोक्षार्थं जगत् हिताय च।” आज शिक्षक को चाहिए कि वह उन्हीं गुणों का स्वयं पालन और विकास करें जिन्हें वह छात्रों को देना चाहता है। उसे अपने मन, वचन, कर्म में एकरूपता लानी होगी। इस प्रक्रिया में जब यह “आत्मदीपो भव” का व्रत लेगा, तभी उसका शक्तिकरण संस्कार सार्थक होगा।

शिक्षक होने का दायित्व

जीवन के प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोण

समूची सृष्टि में ही व्यक्ति एक ईश्वरीय व्यवस्था के अंतर्गत क्रियाशील है। शिक्षक भी इसी व्यवस्था में है। उसका कार्य जीवन निर्माण है न कि भवन निर्माण, शिक्षक इस तथ्य को गहराई से करे और इस आत्मबोध के सहारे अपने कर्तव्यों का निर्धारण करें। चूँकि दीप से द्विदीप जलाया जा सकता है अतः विद्यार्थी के जीवन से पहले अपने जीवन का निर्माण करना, शिक्षक का पहला कर्तव्य है।

शिक्षक के आचरण द्वारा शिक्षा

शिक्षक का कर्तव्य विषय शिक्षक तक सीमित नहीं है; परंतु वह अपने आचार द्वारा छात्रों में मानवता का निर्माण करते हैं। इसीलिए वह आचार्य कहलाता है। आचार्य शब्द शिक्षक या अध्यापक से ज्यादा व्यापक है। शिक्षक का तात्पर्य फक्त वाचन, लेखन या अलग-अलग विषयों की माहिती प्राप्त करना नहीं है उसमें शिक्षा के अलावा चारित्र्य का विकास, व्यक्तित्व का घडतर और जीवन के निर्माण का अधिक महत्व है, उसके लिए विषय प्राध्यापक की नहीं लंबी आचार्य की आवश्यकता है।

शिक्षक छात्रों का हितचिंतक, पथदर्शक और मित्र है

शिक्षक उसकी विद्या, कौशल्य, प्रेम और सहानुभूति द्वारा विद्यार्थियों के जीवन का निर्माण करते हैं। कौन से मार्ग पर चलने से जीवन का कल्याण और विकास हो सकता, जीवन की कौन सी दिशा हानिकारक है। वह बात शिक्षक बताते हैं। उसकी शिक्षा सच्चे मित्र की तरह जैसे आपत्ति में से बचाते हैं इसी तरह शिक्षक के द्वारा दी गई विद्या छात्रों को संकट समय में उपयोगी होता है, इस कारण से ही आचार्य उसके विद्यार्थियों के शिक्षक नहीं; परंतु हितचिंतक, पथदर्शक और मित्र होता है। शिक्षक का दायित्व छात्रों के चारित्र्य निर्माण के सबसे बड़ा कार्य करने में सफलता प्राप्त की है।

शिक्षक की शिक्षा कला में नैपुण्यता

शिक्षक अपने विषय में मात्र विद्वान होने से नहीं चलता, बल्की उसमें छात्रों को समझाने की कुशलता और नैपुण्यता हो वह अति आवश्यक है। शिक्षक जो भी विषय प्रस्तुत करता है उसकी रीत थोड़ी अलग होनी चाहिए। जिससे समग्र वर्गखंड एकाग्र और उत्कृष्ट होकर सुनने के लिए तैयार हो। वर्गखंड में जीवंतता लाने के लिए शिक्षक अनेक प्रकार के वाक्य विधान दृश्यविद्यान, बार्ताओं, चित्रों आदि योग्य मात्रा में उसके पास होना चाहिए। छोटे-छोटे, स्पष्ट और सुसंगत प्रश्नों के माध्यम से छात्रों को नवीन ज्ञान प्राप्त करवाने के लिए छात्रों की सुषुप्त शक्ति का विकास करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

शिक्षक यानी एक प्रमाणित व्यक्तित्व, ज्ञान की गरिमा, व्यक्तित्व की महिमा और श्रद्धा के प्रति संवेदना

इस त्रिवेणी संगम में स्नान कर सके शिक्षक एक ऐसे चौराहे पर खड़ा होता है जहां छात्र अभिभावक समाज और शासन सभी मिलते हैं। उसके जीवन की ऊर्ध्वगामिनी इनके अन्नयन के लिए समर्पित हों। उसे चारों के साथ अपने कर्तव्यों का निर्वाह करना है।

अच्छे नागरिक समाज को उपलब्ध कराना

केवल इन्फोरमेशन ही नहीं बल्कि नॉलेज यानी ज्ञान की गहराई में उतारना। सागर के किनारे खड़े-खड़े सहरे गिनते रहेंगे तो मोती कैसे मिलेंगे? मोतियों के लिए सागर में घुसना ही पड़ेगा। चूँकि शिक्षा जीवन के लिए है इसलिए शिक्षक होने का तात्पर्य है छात्रों में जीवन की समझ पैदा करना। जीवन का अर्थ केवल शरीर नहीं है, बल्कि शरीर में प्रतिष्ठित जीव चेतना प्राण मन बुद्धि और अंतःकरण का सम्यक् ज्ञान कराना और उनका द्रष्टा बनाना है, पवित्रताओं के सहारे आनन्दानुभूति तक ले जाना है। शिक्षक होने का तात्पर्य है, छात्रों की मनोभूमि में संप्रांत, जटिल और जड़ मनोविकारों का उत्खनन कर मनोभूति को इस योग्य बनाना कि उसमें सुसंस्कारों का बीजारोपण करना सरल हो।

जीवन की समाज के पश्चात् जीवन मूल्यों के प्रति ललक पैदा करना

शिक्षक छात्रों में यह संचारित करे कि सुख, संपत्ति से नहीं बल्कि श्रेष्ठ संस्कारों से मिलता है। वृत्तियों के परिमार्जन में सुख है ऊर्ध्वगामिता में सुख है। अधोमुखी वृत्तियों में दुख-ही-दुख भरा पड़ा है। जीवन मूल्यों के संधारण से ही वृत्तियां ऊर्ध्वमुखी होती हैं। शिक्षक होने की तात्पर्य जीवन मूल्यों की चर्चा करना भी ही नहीं है बल्कि पाठ्यक्रम के साथ-साथ प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से छात्रों को कुछ करने के लिए पर्याप्त अवसर प्रदान करना है। शिक्षक होने का तात्पर्य है छात्रों को क्रियाशील बनाकर उनके अनुभवों में प्रगाढता लाना विद्यालयों में कुछ क्रियाकलाप तो परंपरा से ही प्रचलित है। उनकी केवल लकीर पीटी जाती है। शिक्षक कुछ नवीनता का नवोन्मेष कर सके तो शिक्षक होने का तात्पर्य पूरा है। इसी से उदाना जीवन की संरचना संभव हो सकेगी।

क्रियाकलाप

मूल्यविकास के लिए

उत्प्रेरण महामानकों, तपस्वियों, ऋषियों के संस्करणों का संकलन-छात्रों द्वारा चुने हुए बिन्दुओं पर मूल्यपरक घटनाओं का नाटकीकरण, अवांछनीय क्रिया-कलापों की भर्त्सना, श्रेष्ठताओं की परीक्षा, विषम से विषम परिस्थितियों मूल्यों पर आरुढ़ रहना। इस प्रकार नाटकों और नुकड़ नाटकों में हो।

विचार मंत्र

केवल मूल्य आधारित पत्रिकाओं फोल्डरों का प्रकाशन, इस्तलिखित, कविताओं का प्रदर्शन, संचयन, सामूहिकता के क्रियाकलाप मूल्य परक तथ्यों का चयन और अन्य प्रयोग, मूल्यपरक जीवन ही क्यों? एक वाद-विवाद या भाषण प्रतियोगिता। जीवन मूल्यों पर साहित्य का सृजन, जीवन मूल्यों पर चित्र कथाएं, जीवन मूल्यों से संबंधित शिक्षाओं का संकलन, शिक्षक होने का तात्पर्य है छात्रों

में जीवन मूल्यों के आत्म सातीकरण के चेष्टा। शिक्षक होने का तात्पर्य है छात्रों के जीवन का सर्वतोन्मुखी विकास छात्र की अन्तर्निहित शक्तियों को विकसित करना।

सृजनशीलता

छात्रों में तर्क, तुलना, समीक्षा, व्याख्या, विश्लेषण, संश्लेषण चयन, संकलन विवेचन, नियोजन संयोजन निष्कर्ष, संक्षेपण पल्लवन, विधी परिवर्तन। यदि ऐसा होता तो समस्याओं की पूतियां मूल लेखन, दूर दृष्टि, काव्य सृजन आदि अनेक अवसर देकर सृजन कौशल का विकास होगा।

स्वावलम्बी बनाना

सांहीण विकास में आर्थिक विकास के अवसर उपलब्ध कराना भी आवश्यक है। विद्यालय में एक सूचना केन्द्र खोलकर रोजगार संबंधी अनेक प्रकार की सूचनाएं दी जा सकती है।

सभ्य, श्रेष्ठ और संस्कारित नागरिक बनाना, छात्रों को दृढ़प्रतिज्ञा और जुझारू बनाना, संतुलित और संयमित व्यक्तित्व का विकास करना, आत्मप्रतिष्ठा और राष्ट्रगौरव के प्रति जागरूक बनाना।

संदर्भ

1. मूल्य मीमांसा—श्री गोविन्द चंद पाण्डेय
2. निराला के काव्य में सांस्कृत चेतना—श्री जगदीश चन्द्र
3. भारतीय संस्कृति के आधार—श्री अरविन्द
4. भारतीय संस्कृति की रूपरेखा—श्री राम शर्मा आचार्य
5. भानव जीवन की गरिमा—डॉ. प्रणव पण्डवा
6. भारतीय शिक्षा के मूल तत्त्व—लज्जराम तोमर।

मध्यप्रदेश की आदिवासी महिलाओं का स्वास्थ्य स्तर

संजीव सौरभ

शोध छात्र, भूगोल विभाग, जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा

स्वास्थ्य जीवन का मूल आधार है। स्वास्थ्य को बनाए रखना बहुत आवश्यक है, क्योंकि स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क निवास करता है तथा स्वस्थ मस्तिष्क ही स्वस्थ समाज का निर्माता होता है। स्वास्थ्य को बनाए रखने के लिए पोषक तत्व, स्वच्छता, आवासीय स्थितियाँ, आर्थिक स्तर, शिक्षा एवं चिकित्सीय सुविधाएँ महत्वपूर्ण होती हैं। (कम्यूनिटी हेल्थ, केतकर सातवाँ संस्करण, 2000)

भारत में विभिन्न प्रकार की आदिम जनजातियाँ निवास करती हैं, जिन्हें कई नामों से जाना जाता है। आदिम जनजातियाँ मुख्यतः पर्वतीय या जंगली क्षेत्रों में निवास करती हैं। इनकी संस्कृति, अपने रीति-रिवाज होते हैं। आदिवासी देवी-देवताओं पर अटूट विश्वास करते हैं, इनका जीवन स्तर निम्न श्रेणी का होता है, क्योंकि ये लोग आर्थिक रूप से पिछड़े हुए होते हैं। आर्थिक स्थिति निम्न होने के कारण ये अपने परिवार की उचित देखभाल नहीं कर पाते। इनका भोजन पोषक तत्वों से रहित होता है फलरूप गर्भवति एवं स्तपान कराने वाली माताएँ तथा शिशु कुपोषण एवं रक्ताल्पता संबन्धी बीमारियों से ग्रसित हो जाते हैं। आदिवासियों में इसी कारण मातृ एवं शिशु मृत्यु दर अधिक पाई जाती है। निर्धनता, अशिक्षा, अन्धविश्वास, चिकित्सीय सुविधाओं के आभाव के कारण ये लोग मलेरिया, क्षय रोग, संक्रमण ज्वर, त्वचा संबन्धी रोग, पेट संबन्धी रोग तथा कुपोषण जैसी बीमारियों से ग्रस्त पाए जाते हैं। (भारतीय आदिवासी, डॉ. ललित प्रसाद, 1975)।

आदिवासियों में स्वास्थ्य स्तर निम्न श्रेणी का होता है, जिसका एक प्रमुख कारण है चिकित्सीय सुविधाओं को न अपनाना। आदिवासी बीमार होने पर चिकित्सालय या डॉक्टर के पास नहीं जाते और 'बैगा' को बुलाते हैं, जो इनका डॉक्टर होता है। ये बैगा झाड़-फूंक द्वारा एवं औषधियों द्वारा बीमार को ठीक करने का प्रयास करता है। रोगी की हालत गंभीर हो जाने पर उसकी मृत्यु हो जाती है। वास्तव में आदिवासी लोग अस्वस्थता की चरम सीमा आने पर ही विवश होकर चिकित्सालय जाते हैं। वे बीमार होने पर मानते हैं कि उनके देवता उनसे रूठ गए हैं और इस लिए झाड़-फूंक में लगे रहते हैं। अर्थात् परम्परागत तरीके से रोगों को ठीक करने का प्रयास करते हैं।

1. स्वास्थ्य का पोषण, शिक्षा, पर्यावरण और वन से संबंध

स्वास्थ्य का संबंध केवल शारीरिक स्वास्थ्य से नहीं है, बल्कि मानसिक एवं भावनात्मक स्वास्थ्य से है। सम्पूर्ण स्वास्थ्य पर समाज का, सांस्कृतिक आर्थिक, शैक्षणिक एवं राजनैतिक स्तर का बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है, जिसके कारण न केवल स्वास्थ्य में बल्कि पूरे समाज में परिवर्तन होता है। स्वास्थ्य एवं पोषण एक दूसरे से घनिष्ठ संबन्धित हैं। शिक्षा स्वास्थ्य को बनाए रखने में तथा आदर्श स्वास्थ्य के लिए अतिआवश्यक है। शिक्षा के कारण ही व्यक्ति में वांछनीय परिवर्तन होते हैं, जिससे उसमें सुझाव की, सूचना, विचार-विमर्श, ज्ञान प्राप्ति एवं ज्ञान प्रदान करने की भावनाएँ जागृत होती हैं। सामान्यतः यह देखा जाता है कि अशिक्षित व्यक्ति की अपेक्षा शिक्षित व्यक्ति कम बीमार होते हैं।

स्वास्थ्य एवं उपचार का पर्यावरण के साथ बहुत गहरा संबंध होता है। विशेषकर जहाँ वन पर आधारित पारिस्थितिकी होती है। आदिवासियों को पेड़-पौधों के विभिन्न भागों का जड़ से लेकर पत्तों तक का ज्ञान होता है, (डॉ. ललित प्रसाद, 1975) ये लोग इन्हें उपचार पद्धति के रूप में उपयोग करते हैं। पोषण एवं वन का आपस में घनिष्ठ संबंध होता है। अध्ययन में पाया गया है कि वे आदिवासी जो दूरस्थ वन वाले क्षेत्रों में निवास करते हैं, बहतर जीवन व्यतीत करते हैं एवं उचित संतुलित आहार ग्रहण कर रहे हैं, उनकी उपेक्षा जो वनों से दूर निवास करते हैं। आदिवासी समाज में परम्पराएं, मान्यताएं, लोक कथाएं तथा लोकगीतों के विशाल भंडार हैं, जो स्वास्थ्य से संबन्धित हैं। इनके माध्यम से आदिवासियों में इनकी पारिस्थितिकी के अनुरूप पर्याप्त स्वास्थ्य संबन्धी सुधार संभव है।

2. स्वास्थ्य स्तर एवं आदिवासी महिलाएँ

अनेकों साहित्यों एवं आँकड़ों के आधार पर आदिवासी महिलाओं के जीवन-स्तर को जानने के लिए अनेक मापदण्डों को ध्यान में रखा गया है- लिंगानुपात, महिला साक्षरता, विवाह, विवाह की आयु, प्रजनन एवं मृत्यु, जीवन आयु, पोषक स्तर एवं मातृ-स्वास्थ्य, वन पारिस्थितिकी एवं महिला स्वास्थ्य, गर्भधारण एवं मातृ मृत्यु दर, मातृत्व एवं बाल स्वास्थ्य संरक्षण, परिवार कल्याण कार्यक्रम, यौन संक्रामक बीमारियाँ एवं अनुवांशिक अव्यवस्था। इस अध्ययन में मध्यप्रदेश की प्रमुख जनजातियों को लिया गया है, ये जनजातियाँ गोंड, बैगा, भील, कोरकू, भारिया, हल्बा आदि हैं।

3. तार्किक परीक्षण एवं परिणाम

उपलब्ध शोध साहित्य एवं विभिन्न आँकड़ों के संग्रहण के पश्चात् निम्नलिखित मानकों पर अध्ययन की विस्तृत चर्चा की जा रही है-

3.1 लिंगानुपात

लिंगानुपात मानव जनसंख्या के प्रतिहजार पुरुषों के अनुपात में महिलाओं की संख्या है। लिंगानुपात एक आवश्यक तथ्य है। भारत में लिंगानुपात को प्रतिहजार पुरुषों पर स्त्रियों के रूप में व्यक्त किया जाता है (प्रो. हीरालाल, चतुर्थ संस्करण, 2000)। भारत में लिंग संरचना पुरुषों की दृष्टि से अधिक है। स्त्रियों में मृत्यु दर अधिक होना इसका प्रमुख कारण है। विगत वर्षों की जनगणना में वर्ष 1961 में लिंगानुपात 641, वर्ष 1971 में 930, वर्ष 1981 में 935, वर्ष 1991 में 927 तथा वर्ष 2001 में 978 महिलाएँ थी। आदिवासियों में ये लिंगानुपात वर्ष 1961 में 987 था जो 2001 की जनगणना के अनुसार प्रतिहजार पुरुषों पर 975 महिलाएँ थी। मध्यप्रदेश के आदिवासियों में सर्वाधिक लिंगानुपात गोंड एवं बैगा जनजातियों में पाया जाता है, जबकि सबसे कम सहरिया जनजाति का है। मध्यप्रदेश के आदिवासियों में लिंगानुपात को सारणी क्रमांक 1 में दर्शाया गया है-

सारणी-1: मध्यप्रदेश के प्रमुख आदिवासियों में लिंगानुपात (2009-2010)

आदिवासी	लिंगानुपात सभी (आयु वर्ग)	बच्चों में (0-6 वर्ष)
गोंड	991	988
बैगा	986	985
भील	977	979
कोरकू	961	969
कोल	950	991
सहरिया	940	991

उपरोक्त सारणी से स्पष्ट है कि में गोंड जनजाति में सर्वाधिक लिंगानुपात पाया जाता है, जो 991 है, जबकि गोंड बच्चों में ये अनुपात 988 है। सहरिया जनजाति का लिंगानुपात सबसे कम है, जो 940 है तथा सहरिया बच्चों में यह अनुपात 969 है।

3.2 महिला साक्षरता

साक्षरता सामाजिक परिवर्तन का एक महत्वपूर्ण आधार है। साक्षरता के कारण ही मनुष्य अपने कर्तव्यों के प्रति सजग होता है तथा उसमें आत्मविश्वास जन्म लेता है। महिला साक्षरता अति आवश्यक है क्योंकि महिला से समस्त विश्व जुड़ा है। यदि महिला साक्षर है तो वे अपने परिवार को सही ढंग से समझ सकती है। नवयुवतियों का साक्षर होना अत्यन्त आवश्यक है। इनकी साक्षरता से नवजात शिशु का जीवन जुड़ा होता है। एक साक्षर माँ अपने बच्चे की सही व उचित देखभाल कर सकती है, (गर्भावस्था प्रसव ज्ञान और शिशुपालन, डॉ. राजीव शर्मा एवं श्रीमती दीपिका शर्मा) और बच्चे को काल के मुँह से बचा सकती है। प्रदेश के सभी जिलों में साक्षरता का प्रतिशत अलग-अलग पाया जाता है। आदिवासी महिलाओं में साक्षरता का स्तर काफी निम्न है। अध्ययनों के दौरान पाया गया है कि आदिवासियों में प्राईमरी साक्षरता 71.3 प्रतिशत है, जबकि स्नातक एवं स्नातकोत्तर साक्षरता मात्र 1.4 प्रतिशत पाई जाती है। आदिवासी महिलाओं में कुल साक्षरता मात्र 28.4 प्रतिशत है, जबकि कुल आदिवासियों में यह प्रतिशत 41.2 है। विभिन्न आदिवासी महिलाओं में साक्षरता दर को निम्न सारणी में दर्शाया गया है-

सारणी-2. विभिन्न आदिवासी महिलाओं में साक्षरता दर

महिलाएँ	साक्षरता (प्रतिशत में)
गोंड	37.1
कोरकू	26.2
कोल	25.1
भील	25.0
बेंगा	21.2
सहरिया	17.3

उपरोक्त सारणी को देखने से ज्ञात होता है कि मध्यप्रदेश की आदिवासी महिलाओं में गोंड महिलाओं में साक्षरता का प्रतिशत सर्वाधिक है, जबकि सहरिया महिलाओं में साक्षरता मात्र 17.3 प्रतिशत पाई जाती है जो अन्य आदिवासी महिलाओं की तुलना में कम है।

3.3 विवाह की रीतियाँ तथा विवाह आयु

विवाह एक सर्वमान्य संस्कार है। आदिवासियों में विवाह की परम्परा तथा विवाह के रूप में अन्तर पाया जाता है। आदिवासियों में विवाह की प्रमुख तीन रीतियाँ पाई जाती हैं। प्रथम समूह या अपने ही कबीले वालों में विवाह द्वितीय, कबीले से बाहर विवाह तथा तृतीय, एक ही परिवार के सदस्यों के बीच विवाह जिसे सगोत्रीय विवाह कहा जाता है, रीतियाँ प्रचलित हैं। जनजातियों में चचेरे भाई-बहनों में भी विवाह को प्राथमिकता दी जाती है। इस विवाह प्रथा से दहेज एवं वधू मूल्य का प्रचलन सप्रतिबंधित होता है। आदिवासी महिलाओं में सांस्कृतिक पक्ष विशेषकर विवाह, विवाह से संबंधित रीतियाँ प्रजनन से जुड़े मूल्य एवं बच्चे का लिंग, परिवार के संयोजन का स्वरूप, महिला का समाज में स्तर, निर्णय लेने की क्षमता आदि तथ्यों का महिला के स्वास्थ्य पर अपना प्रभाव डालते

हैं। उपरोक्त सभी तथ्यों से महिला के परिवार में स्थान का निर्माण होता है तथा महिला स्वास्थ्य संरक्षण की उपलब्धता, शिक्षा पोषण एवं अन्य स्वास्थ्य संसाधनों का निर्धारण होता है। आदिवासियों में बालविवाह प्रचलित नहीं है (डॉ. ललित प्रसाद, 1975)। सरकार द्वारा निर्धारित विवाह आयु के अनुसार जनजातियों में 18 वर्ष से नीचे विवाहित बालिकाओं का प्रतिशत 2.5 है, जबकि 21 वर्ष से नीचे विवाहित बालकों का प्रतिशत 4.6 है। राष्ट्रीय स्तर पर यह प्रतिशत 2.1 तथा 2.8 है। कोल, सहरिया एवं बैगा जनजातियों में बाल विवाह का प्रतिशत अधिक पाया जाता है।

3.4 प्रजनन एवं मृत्यु

प्रजनन समस्त जीवधारियों का प्रमुख लक्षण है। प्रजनन में एक जीव अपने ही समान जीवों को जन्म देता है अर्थात् सन्तान उत्पन्न करता है, जिससे जीवों की संख्या में वृद्धि होती जाती है। प्रजनन एक नैसर्गिक क्रिया है, जिसमें सावधानियाँ बरतना आवश्यक है। गर्भधारण से लेकर प्रसव के समय व पश्चात् तक माता एवं शिशु की सही व उचित देखभाल अति आवश्यक होती है। (डॉ. राजीव शर्मा, 2008) अज्ञानतावश हमारे देश में प्रजनन की असावधानियों से अधिकांश स्त्रियाँ तो प्रसव काल में ही मर जाती हैं या किसी भयंकर प्रसूति रोग से जीवन पर्यन्त ग्रस्त रहती हैं। प्रजनन पर सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक वातावरण का बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। यदि वनों में या कठिन परिस्थितियों में निवास करने वाले आदिवासियों की बात की जाए तो कहा जा सकता है कि ये लोग किसी तरह जीवन व्यतीत कर रहे हैं। सामाजिक एवं आर्थिक स्तर निम्न होने के कारण अपनी व परिवार की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सक्षम नहीं होते, परिणामस्वरूप आदिवासी महिलाओं एवं बच्चों में कुपोषण की समस्या अधिक पाई जाती है। प्रजनन के समय कोई विशिष्ट देखभाल नहीं की जाती, न ही स्त्री को आराम करने दिया जाता है। देखा गया है कि आदिवासी महिलाओं में अन्य महिलाओं की अपेक्षा रक्ताल्पता संबंधी बीमारियाँ अधिक पाई जाती हैं।

अध्ययनों से ज्ञात हुआ है कि आदिवासियों में प्रजनन दर अधिक पाई जाती है, जिसका प्रमुख कारण शिक्षा की कमी एवं सामाजिक धारणाएँ हैं। नेशनल फ़ैमली हेल्थ सर्वे (एन.एफ.एच.एस.) की रिपोर्ट के अनुसार प्रदेश में 15 से 49 वर्ष की विवाहित महिलाओं की संख्या 6941 है, जिसमें लगभग 25 प्रतिशत आदिवासी महिलाएँ हैं। 23-30 वर्ष की आयु में प्रथम बच्चे को जन्म देने वाली आदिवासी महिलाओं का प्रतिशत 17.73 है। प्रथम बच्चे के बाद अगले बच्चे में कम से कम 2 वर्ष का अन्तर रखने वाली महिलाओं का प्रतिशत ग्रामीण क्षेत्रों में कम है एवं नगरीय क्षेत्रों में अपेक्षाकृत अधिक है। प्रदेश में ग्रामीण आदिवासी महिलाओं में प्रजनन दर नगरीय आदिवासी महिलाओं की अपेक्षा अधिक पाई जाती है। प्रजनन दर में कमी लाने एवं प्रजनन से जुड़ी समस्याओं को दूर करने के लक्ष्य से भारत एवं मध्यप्रदेश सरकार द्वारा कई कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं जिसमें प्रजनन एवं बाल स्वास्थ्य कार्यक्रम मुख्य है। इसमें माता एवं बच्चे के स्वास्थ्य के प्रति ध्यान दिया जाता है। भारत एवं मध्यप्रदेश में एन.एफ.एच.एस I, II, III की रिपोर्ट के अनुसार जनजातीय महिलाओं में कुल प्रजनन दर निम्न तालिका में दर्शाई गई है-

सारणी-3: आदिवासी महिलाओं में कुल प्रजनन दर

रिपोर्ट	भारत में	मध्य प्रदेश में
एन.एफ.एच.एस. 1	3.6	4.71
एन.एफ.एच.एस. 2	3.06	3.69
एन.एफ.एच.एस. 3	3.02	3.65

उपरोक्त सारणी को देखने से ज्ञात होता है कि प्रजनन दर में निरन्तर कमी आ रही है। एन.एफ. एच.एस. I की रिपोर्ट के अनुसार प्रदेश में आदिवासियों में प्रजनन दर 4.71 रही जो एन.एफ.एच. एस III तक घटकर 3.65 हो गई, जबकि देश की आदिवासी महिलाओं में यह दर क्रमशः 3.6 एवं 3.02 रही। अतः स्पष्ट है कि प्रजनन दर में कमी लाने के लक्ष्य से जो कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं वे सफल हो रहे हैं तथा प्रजनन दर में निरन्तर कमी आ रही है।

सुझाव

सरकार द्वारा तो योजनाएँ चलाई जा रही हैं, लेकिन इनका लाभ पूर्णतः आदिवासियों को नहीं मिल पा रहा है। आज भी आदिवासी महिलाओं एवं बच्चों की मृत्यु संख्या सामान्य की अपेक्षा अधिक है। महिलाओं का सामाजिक स्तर निम्न है तथा बच्चे कुपोषण से ग्रसित हैं। इनमें शिक्षा का आभाव है। इन सभी समस्याओं को देखते हुए आदिवासियों की ओर विशेष रूपसे ध्यान देने की आवश्यकता है। इनकी स्थिति में सुधार के लिए इनमें शिक्षा की भावना जागृत करना आवश्यक है तथा स्वास्थ्य संबंधी सेवाएँ उपलब्ध कराई जानी चाहिए। इनके आर्थिक स्तर में सुधार आवश्यक है क्योंकि सारी बीमारियों की जड़ गरीबी है। अतः आदिवासियों में आर्थिक एवं स्वास्थ्य विकास के लिए तथा आर्थिक एवं स्वास्थ्य स्तर में सुधार के लिए ठोस कदम उठाए जाने चाहिए।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आदिवासी महिलाओं के स्वास्थ्य का स्तर निम्न पाया जाता है। आदिवासी महिलाओं में ग्रामीण आदिवासी महिलाओं की अपेक्षा नगरीय आदिवासी महिलाओं के स्वास्थ्य की स्थिति बेहतर होती है। नगरीय आदिवासी महिलाओं में प्रजनन दर, मृत्यु दर यौन संक्रमण ग्रामीण आदिवासी महिलाओं की अपेक्षा कम पाया जाता है। अध्ययन में पाया गया कि सामान्य महिलाओं की अपेक्षा आदिवासी महिलाओं के स्वास्थ्य की स्थिति निम्न है। सामान्य महिलाओं की अपेक्षा आदिवासी महिलाओं में साक्षरता कम पाई जाती है। ग्रामीण आदिवासी महिलाओं की अपेक्षा नगरीय आदिवासी महिलाओं में साक्षरता अधिक पाई जाती है।

संदर्भ ग्रंथ

- * अग्रवाल, पी. सी. (1987), दण्डकारण्य “मध्यप्रदेश का प्रादेशिक भूगोल”, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल।
- * दुबे सुशील कुमार (1999) “परिवार कल्याण कार्यक्रम का जनजातीय स्वास्थ्य दशाओं पर प्रभाव” समाजशास्त्र विषय में पी. एच. डी. शोधग्रंथ रानीदुर्गावती विश्व विद्यालय, जबलपुर।
- * हीरालाल, (2000), “जनसंख्या भूगोल” राधा पब्लिकेशन्स नई दिल्ली।
- * कंतकर, मुकुन्द, (2000), “कम्यूनिटी हेल्थ” एन. आर. ब्रदर्स, इन्दौर।
- * लोक स्वास्थ्य परिवार कल्याण मध्यप्रदेश (2006) “प्रसव परिचारिका मार्गदर्शिका” यूनिसेफ भोपाल म.प्र.।
- * मिश्रा विजया (1998) “गर्भधारण एवं पालन पोषण की मान्यतायें” (समाज शास्त्रीय अध्ययन) पी. एच. डी. शोधग्रंथ रानी दुर्गावती विश्व विद्यालय जबलपुर।
- * नेशनल फ़ैमिली हेल्थ सर्वे, (I, II, III)
- * प्रसाद, ललित, (1975), “भारतीय आदिवासी” उत्तर प्रदेश शासन, राजऋषि पुरुषोत्तमदास टण्डन, हिन्दी भवन, महात्मागांधी मार्ग, लखनऊ।
- * श्रीवास्तव, डॉ. लोकेश (2005), “ट्राइब्स ऑफ नर्मदा वैली”, श्री पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
- * श्रीवास्तव, डॉ. लोकेश (2007), “ट्राइबल सिनेरियो”, यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
- * श्रीवास्तव, डॉ. लोकेश (2010), “मध्यप्रदेश का भूगोल” शारदा पुस्तक सदन, इलाहाबाद।

Myth and Reality of Aryan Invasion Theory

Dr. Rekha Choudhary

Chakkar Maidan, Muzaffarpur

In the 1990s, a new wave of scientific evidence, coming partly from satellite photos, geological study, archeological digs, and other anthropological finds began to seriously discredit the old myth. Once the rubble of false assumptions was cleared away, a far more simple scientific picture of the origins of ancient north Indian civilization began to emerge.

Professor Colin Renfrew, professor of archeology at Cambridge University, in his *Archeology and Language: The Puzzle of Indo-European Origins*, (1988) gives evidence for Indo-Europeans in India as early as 6,000 BC. He comments:

As far as I can see there is nothing in the Hymns of the Rigveda which demonstrates that the Vedic-speaking population were intrusive to the area: this comes rather from a historical assumption about the 'coming' of the Indo-Europeans.

Professor Schaffer at Case Western University writes in "Migration, Philology and South Asian Archaeology" that there was an indigenous development of civilization in India going back to at least 6000 BC. He proposes that the Harappan or Indus Valley urban culture (2600-1900 BC) centred around the Saraswati river described in the Rig Veda and states that the Indus Valley culture came to an end, not because of outside invaders, but due to environmental changes, most important of which was the drying up of the Saraswati river.

Schaffer holds that the movement of populations away from the Saraswati to the Ganges after the Saraswati dried up in about 1900 BC, is reflected in the change from the Saraswati-based literature of the Rig Veda to the Ganges-based literature of the Itihasa and Puranic texts. He also states that the Aryan invasion theory reflects a colonial and Euro-centric perspective that is quite out of date. He concludes:

We reject most strongly the simplistic historical interpretations... that continue to be imposed on south Asian culture history... Surely, as south Asian studies approach the twenty-first century, it is time to describe emerging data objectively rather than perpetuate interpretations without regard to the data archaeologists have worked so hard to reveal.

Anthropologist Brian Hemphill of Vanderbilt University has been studying the human remains of the northern Indian subcontinent for years. He states categorically that his analysis shows no indication of population replacement or large-scale migration. Archaeologist Mark Kenoyer, associate professor of anthropology at the University of Wisconsin at Madison, and co-director of the Harappa Archeological Research project, holds that the invasion theory is

completely unsupported by archeological, linguistic, or literary evidence. He writes in an article on the Indus valley civilization:

If previous scholars were wrong about the origin of the Indus people, they also missed the boat when it came to explaining their downfall, which they attributed to an invasion by Indo-Aryan speaking Vedic tribes from the northwest.

Archeological evidence simply does not support the thesis of an outside invasion. Kenoyer argues, "it's likely that the rivers dried up and shifted their courses, altering trade routes and undermining the economy." Kenoyer holds that the Indus valley script can be traced to at least 3,300 BC—making it as old or older than the oldest Sumerian written records. Archaeologist Kenneth Kennedy writes that no Aryan skeletons have been found in the Indus valley that differ from the skeletons of indigenous ethnic groups.

All prehistoric human remains recovered from the Indian subcontinent are phenotypically identifiable as south Asians. Furthermore their biological continuity with living peoples of India, Pakistan, Sri Lanka and the border regions is well established across time and space.

Scientific archeology, it is now safe to say, no longer gives the invasion theory a grain of credibility. It has lost its supporters among serious scientists. Also, as professor Renfrew argues, there is no internal evidence from the ancient Vedic literature that Vedic civilization originated outside India. The verses of the Rig Veda, the most ancient songs of Vedic tradition, detail many aspects of daily life of the people. There is no hint in this vast literature of a migration or of a history that lies in a homeland beyond the mountains of northern India. All evidence from archeology, anthropology, and Vedic literature indicate that Vedic civilization was indigenous to northern India. Geological data now explains the demise of the Indus and Saraswati valley civilizations in terms of climactic change, bringing an end to the outsideinvasion theory.

Causes of the Decline of the Indus-Saraswati Civilization

Geological and archeological evidence, it turns out, give strong evidence that a long and devastating drought followed by devastating floods led to the abandonment of the settlements along the banks of the Indus and Saraswati rivers in western India, ending an urban civilization that had flourished, archeologists now surmise, sometime between 2,600 BC and 1,900 BC. The Indus and Saraswati valley civilization was vast and widespread, and covered over 250,000 square miles, from north central India in the east all the way to the eastern edge of Iran in the west. There is no evidence to suggest that this vast civilization was destroyed by Indo-European Aryan invaders, but rather, it is now virtually certain that its demise came as a result of widespread climatic changes that occurred in 1,900 BC.

Recent studies by Louis Flam of H. H. Lehman College of the City University of New York have shown that the course of the Indus river changed dramatically around 1,900 BC, probably flooding many settlements along the river and

disrupting the Indus valley civilization. Jim Schaffer of Case Western University has found impressive evidence that settlers of the Indus valley migrated at this time east to the plane of the Ganges.

Mortimer Wheeler, the anthropologists who excavated Mohenjodaro in the in the 1920s, one of the most well-preserved cities of the Indus Valley civilization, brought to the project an “outside invasion theory.” He found unburied skeletons in the most recent layers of the city which led him to think that he had evidence that the civilization was overrun by invaders from outside.

More reliable recent evidence has shown that the people of the Indus valley were not victims of invasion and massacre, but that their civilization withered as a result of various climactic changes, including prolonged droughts and extensive flooding, and possibly also earthquakes that changed the course of the rivers.

It was not outside invaders of India who brought an end to the Indus-Saraswati civilization, but a series of climactic changes and natural disasters. The biases of European scholarship caused them to see invaders where there were none. They existed only in the imagination of European scholars.

References

- Abbe, D.: *Hindu Manners, Customs and Ceremonies*, Fifth Indian Impression, CUP, 1985.
- Adolf Kaegi: *The Rigveda: The Oldest Literature of the Indians*, Boston,, Ginn and Co., 2004.
- Bankimchandra, C.: *Essentials of Dharma*, Sanskrit Book Depot, Calcutta 1979.
- Basham, A.L.: *The Origin and Development of Classical Hinduism*, Oxford University Press, New York, 1989.
- Bhatt, Anil: *Caste, Class and Politics: An Emperical Profile of Social Stratification in Modern India*, Delhi, Manohar Book Service, 1975.
- Bhattacharji, Sukumari: *Literature in the Vedic Age*, Kali Ram Press, Calcutta, 1988.
- Bhattacharya, K. C.: *Studies in Philosophy*, Progressive Publishers, Calcutta, 1956.
- Bhattacharyya, Narendra Nath: *Indian Religious Historiography*, Munshiram Manoharlal Publishers, New Delhi, 1996.
- Blunt, E. A. H. *Caste System of Northern India*, London, Oxford University Press, 1931.
- Bridget, A.: *Origins of a Civilization: The Prehistory and Early Archaeology of South Asia*, New York, Viking, 1997.
- Bromley, David and Larry Shinn: *Krishna Consciousness in the West*, Bucknell University Press, Lewisburg, 1989.
- Bryant, Edwin: *The Quest for the Origins of Vedic Culture: The Indo-Aryan Migration Debate*, Oxford, Oxford University Press, 2001.
- Buitenan, J.A.B.: *A Source Book of Adavita Vedanta*, The University of Hawaii Press, Honolulu, 1971.
- Chakravarti, C.: *The Tantras: Studies on their Religion and Literature*, Punthi Pustak, Calcutta, 1963.
- Chakravarti, Sures Chandra: *The Philosophy of the Upanishads*, University of Calcutta Press, Calcutta, 1953.
- Chatterjee, A.K.: *A Comprehensive History of Vedanta*, Kali Ram Press, Calcutta, 1999.

The Gender Prejudice and Atrocities Against Women: The Role of Bihar Government for Girl Child Betterment

Dr. Ashok Kumar

Head, Department of Psychology, K.S.T. College, Salempur (Nalanda)

Introduction

Prejudice and discrimination are negative manifestations of integrative power. Instead of bringing or holding people together, prejudice and discrimination push them apart. Ironically, even prejudice and discrimination imply some sort of relationship, however, if there is no relationship people would be completely unaware of another person's or group's existence. When there is any relationship at all—even a negative one—there is some integration. Gender prejudice had long been woven into the fabric of most societies. It was driven by a universal belief that women were the weaker of the sexes emotionally as well as physically and must be protected from the world outside the home.

Normally, males were expected to be the provider and dominated in family matters, particularly those relating to the outside world in commerce and politics. Females were expected to assume domestic chores, cook and bake, spin yarn, sew, and make soap and candles and other needed household goods. At the same time, it was their responsibility to bear children and raise them according to the values and morals of the society in which they lived. In a farming economy, males cleared land, plowed, planted and harvested fields, hunted, chopped wood, built structures, and constructed fences. Wives were sheltered from most relations outside the family and not allowed to take part in business or politics. Similarly, sons in families enjoyed more freedoms than daughters in just about every known society. Emerging industrialization brought major changes to gender roles and prejudices. Industrialization was a major economic change in the eighteenth and nineteenth centuries in which large quantities of goods became produced by wage-earning workers operating machines located in factories.

Gender Prejudice

- A negative prejudgment about females.
- An attitudinal bias.
- A hostile or negative attitude toward females based on generalizations derived from faulty or incomplete information.
- Prejudice and discrimination seem to manifest when motives can be "hidden."

- Gender prejudice starts to develop and feminine from very early 4-5 years (studies by masculine dress; livelihood sources in India).
- Gender prejudice has been found to be the most strong prejudice as compared to other dimensions. The discriminatory behaviours against female is reflected in discriminatory behaviours of male all over world.

Gender Discrimination

- Negative behaviours aimed toward females.
- Blaming females for something that is not her fault, like bearing girls child.

Causes of Gender Prejudice

- personality factors-Authoritarian personality, like, adherence to conventional values, superstition, resistance to change, intolerance to weakness, highly punitive.
- Just world phenomena- The belief that people get what they deserve and deserve what they get. For example, the tendency to blame rape victims is stronger in those with a Just World perspective.

Gender based Violence

- Any act of gender-based violence that results in or is likely to result in physical, sexual, or psychological harm or suffering to women, including threats of such acts, coercion or arbitrary deprivation of liberty, whether occurring in public or private life.

Atrocities Against Women

Atrocities against women are prevalent in India in all stages of female's/women's/women's life (Table1).

Life Stages	Atrocities.
In the womb	Foeticide (increased by 49.2% between 1999- 2000. Crime in India, 1999-2000) Sex selective abortion
Infancy and Childhood	Infanticide, neglect, household works.
Adolescence	Household works, neglect in health and nutrition care, sex trafficking.
Adulthood and youth	Early marriage, neglect in pregnancy and childbirth, maternal mortality, dowry, violence by intimate partner.
Old age	Witchcraft, family abuse by relatives.

The Other Gender

Certainly, the other gender (male counter parts) has following privileges and burdens.

Male Privileges

- Social value attach to men's work.
- Control over resources.
- Decision making authority.
- Women in supporting role.
- Mobility.
- Non-harassments.

Male Burdens

- Social pressure to conform to a stereotyped role.
- Economic responsibility.
- Additional burden of disempowered women.
- Responsibility of being guardian and protector of women's/family honour.
- Absence emotional outlet or support system.

Female Foeticide

Female foeticide in India increased by 49.2% between 1999 to 2000 (Source: NCRB Crime in India, 1999-2000). This results in low child sex ratio (0-6 years) which dropped from-945 females per 1000 males in 1991 to 927 females per 1000 males in 2001.

The United Nations Children's Fund, estimated that upto 50 million girls and women are 'missing' from India's population because of termination of the female foetus or high mortality of the girl child due to lack of proper care.

Child Sexual Abuse

Out of 350 School Girls

- 63% had experienced sexual abuse at the hands of family members.
- 25% had been raped, forced to masturbate the perpetrator or forced to perform oral sex.
- Nearly 33% said the perpetrator had been father, grandfather or male friend of the family.

Sexual Abuse

- Out of 600 women respondents 76% had been sexually abused in childhood or adolescence.
- Of the abusers:
- 42% were 'uncle' or 'cousin' and 4% were 'father' or 'brother'

Rape

- 16.373 women were raped during the year.
- 45 women were raped every day.
- 1 woman was raped every 32 minutes.
- An increase of 6.7% in the incidents of rape was seen between 1997-2002.

Incest

- 2.25% of the total rape case, were case of incest.

Sexual Harassment

- 44,098 incidents of sexual harassment were reported.
- 121 women were sexually harassed every day.
- 1 woman was sexually harassed every 12 minutes.
- An increase of 20.6% was seen in incidents of sexual harassment between 1997-2002.

Importation of girls/Trafficking

- 11,332 women and girls were trafficked.
- 31 women and girls were trafficked every day.
- 1 woman or girl was trafficked every 46 minutes.

Kidnapping and abduction

- 14,630 women and minor girls were kidnapped or abducted.
- 40 women and minor girls were kidnapped every day.
- 1 woman or minor girl was abducted every 36 minutes.

Dowry related Murders

- 7,895 women were murdered due to dowry.
- 21 women were murdered every day.
- 1 woman was murdered due to dowry every 66 minutes

Domestic Violence

- Over 40% of married Indian women face physical abuse by their husband.
- 1 in every 2 women faces domestic violence in any of its forms physical, sexual, psychological and/or economic.
- 49,237 women faced domestic violence in their marital homes.
- 135 women were tortured by their husbands and in-laws every day.
- 1 woman faced torture in her marital relationship every minutes.
- Domestic violence constitutes 33.3% of the total crimes against women.
- As steep rise of 34.5% in domestic violence cases was witnessed between 1997-2002.
- NFHS 3:1 in 5 women (20%) face domestic violence from their intimate partner.
- The National Crimes Record Bureau (2007): total crime against women has increased by 12.5% from 2006.
- From 2006-2007, there was a 6.2% increase in rates of cases filed under dowry "deaths" (NFHS).

(Source: INCLLEN Survey, 2000).

Suicide

- 12,134 women were driven to commit suicide due to dowry.

- 1,10,424 housewives committed suicide between 1997-2001 and accounted for 52% of the total female suicide victims.

Source: NCRB, 'Accidental Deaths and Suicides in India: between 1997-2001.

Women as Workers

- Female share of non-agricultural wage employment is only 17%.
- Participation of women in the workforce is only 13.9% in the urban sector and 29.9% in the rural sector.
- Women's wage rates are, on an average only 75% of men's wage rates and constitute only 25% of the family income.
- In no Indian State do women and men earn equal wages in agriculture.
- Women occupy only 9% of parliamentary seats.
- Less than 4% seats in High Courts and Supreme Court.
- Less than 3% administrators and managers are women.

Women and Poverty

- 70% of the 1.2 billion people living in poverty are female.

Women and Education

- Close to 245 million Indian women lack the basic capability to read and write.
- Adult literacy rates for ages 15 and above for the year 2000 were- female 46.4%, male rate of 69%.
- 60% of the 130 million children in the age group of 6-11 years who do not go to school are girls.
- Approximately 67% of the world's 875 million illiterate adults are women.

Women and Health

- The average nutritional intake of women is 1400 calories daily. The necessary requirement is approximately 2200 calories.
- 38% of all HIV positive people in India are women yet only 25% of beds in AIDS care centres in India are occupied by them.
- 92% of women in India suffer from gynaecological problems.
- 300 women die every day due to childbirth and pregnancy related causes.
- The maternal mortality ratio per 100,000 live births in the year 1995 was 440.
- Women account for 50% of all people living with HIV/AIDS globally.

Although efforts have been taken to improve the status of women, the constitutional dream of gender equality is miles away from becoming a reality. Even today, 'the mainstream remains very much a male stream'. The dominant tendency has always been to confine women and women's issues in the private domain. The traditional systems of control with its notion of 'what is right and proper for women' still reigns supreme and reinforces the use of violence as a means to punish its defiant female 'offenders' and their supporters. Hence it is

of no surprise when the National Crime Records Bureau (NCRB) predicted that the growth rate of crimes against women would be higher than the population growth rate by 2010. To elucidate the subject, let us take a look at some government data, from the NCRB, 2002 and research done by some non-governmental organizations.

However it is important to mention here, the data presented here is governmental organizations. However it is important to mention here, the data presented here is only a partial reflection of the extent of crimes against women as most incidents of violence go unreported.

References

1. Ahmad, K. and Khan, G.R. (1988). The other gender: A Seminar on men's issue, 24, March 1998, Islamabad.
2. Levack, A. and Rahim, T (1998-99). The concept of men as partner in Pakistan, Populi, 25(4), 6-9.
3. A research carried out 1997-98 by Sakshi and NGO.
4. Research carried out 1997-98 RAHI and NGO.
5. Beijing Platform for Action, 1995 in Paragraph 259.
6. Girls-and –Gender-Discrimination .
7. Times of India (Patna edition), July 7,1995.
8. Ibid.
9. Sujata Manohar- Human Rights for Women Empowerment, article in Promila Kapoor's Empowering the Indian Women,' Publication Division, Government of India, New Delhi, 2001.
10. Neelam Gorhe-Combating violence against women for their empowerment.
11. Amarjeet Kaur-Poverty, Women and their empowerment.
12. Jyotsna Chatterjee-Empowerment of women victims of Traffix king and prostitution. A Case Study.
13. Hindustan (Muzaffarpur edition) Sunday, 8th Feb, 2009.
14. <http://allafrica.com /stories/ 200902030225.html>
15. <http://www.unicef.org/earlychildhood/4408.html>.
16. <http://www.unfpa.org/intercenter/Beijing/girl.htm>.
17. <http://www.wcd.nic.in/empwomen.htm> para 8.1
18. Kiran Devendra-Whose Empowerment are we Talking of : Women But where will we Find Our Girlsll, p.31 in Promilla Kapoor's book Empowering the Indian Woman.
19. <http://www.unfpa. Org/intercentner/Beijing/girl. Htm>.
20. <http://www.thaindian.com/newsportal/business/bihar presents. gender-sensitive budget-10032021.html>.

Economic Dimension and Development

Dr. Arun Kumar Suman

Librarian, Govt. High School, Muzaffarpur

Ecological Economics

Three circles enclosed within one another showing how both economy and society are subsets of our planetary ecological system. This view is useful for correcting the misconception, sometimes drawn from the previous “three pillars” diagram, that portions of social and economic systems can exist independently from the environment. Ecological economics is a transdisciplinary field of academic research that aims to address the interdependence and coevolution of human economies and natural ecosystems over time and space. It is distinguished from environmental economics, which is the mainstream economic analysis of the environment, by its treatment of the economy as a subsystem of the ecosystem and its emphasis upon preserving natural capital. One survey of German economists found that ecological and environmental economics are different schools of economic thought, with ecological economists emphasizing “strong” sustainability and rejecting the proposition that natural capital can be substituted for human-made capital.

Ecological economics was founded in the works of Kenneth E. Boulding, Nicholas Georgescu-Roegen, Herman Daly, Robert Costanza, and others. The related field of green economics is, in general, a more politically applied form of the subject. The identity of ecological economics as a field has been described as fragile, with no generally accepted theoretical framework and a knowledge structure which is not clearly defined. According to ecological economist Malte Faber, ecological economics is defined by its focus on nature, justice, and time. Issues of intergenerational equity, irreversibility of environmental change, uncertainty of long-term outcomes, and sustainable development guide ecological economic analysis and valuation. Ecological economists have questioned fundamental mainstream economic approaches such as cost-benefit analysis, and the separability of economic values from scientific research, contending that economics is unavoidably normative rather than positive (empirical). Positional analysis, which attempts to incorporate time and justice issues, is proposed as an alternative.

Ecological economics includes the study of the metabolism of society, that is, the study of the flows of energy and materials that enter and exit the economic system. This subfield is also called biophysical economics, sometimes referred to also as bioeconomics. It is based on a conceptual model of the economy connected to, and sustained by, a flow of energy, materials, and ecosystem services. Analysts from a variety of disciplines have conducted research on the economy-environment relationship, with concern for energy and material flows and sustainability, environmental quality, and economic development. A simple

circular flow of income diagram is replaced in ecological economics by a more complex flow diagram reflecting the input of solar energy, which sustains natural inputs and environmental services which are then used as units of production. Once consumed, natural inputs pass out of the economy as pollution and waste. The potential of an environment to provide services and materials is referred to as an “environment’s source function”, and this function is depleted as resources are consumed or pollution contaminates the resources. The “sink function” describes an environment’s ability to absorb and render harmless waste and pollution: when waste output exceeds the limit of the sink function, long-term damage occurs.: Some persistent pollutants, such as some organic pollutants and nuclear waste are absorbed very slowly or not at all; ecological economists emphasize minimizing “cumulative pollutants”.: Pollutants affect human health and the health of the climate.

The economic value of natural capital and ecosystem services is accepted by mainstream environmental economics, but is emphasized as especially important in ecological economics. Ecological economists may begin by estimating how to maintain a stable environment before assessing the cost in dollar terms.: Ecological economist Robert Costanza led an attempted valuation of the global ecosystem in 1997. Initially published in *Nature*, the article concluded on \$33 trillion with a range from \$16 trillion to \$54 trillion (in 1997, total global GDP was \$27 trillion). Half of the value went to nutrient cycling. The open oceans, continental shelves, and estuaries had the highest total value, and the highest per-hectare values went to estuaries, swamps/floodplains, and seagrass/algae beds. The work was criticized by articles in *Ecological Economics* Volume 25, Issue 1, but the critics acknowledged the positive potential for economic valuation of the global ecosystem.: The Earth’s carrying capacity is another central question. This was first examined by Thomas Malthus, and more recently in an MIT study entitled *Limits to Growth*. Although the predictions of Malthus have not come to pass, some limit to the Earth’s ability to support life are acknowledged. In addition, for real GDP per capita to increase real GDP must increase faster than population growth. Diminishing returns suggest that productivity increases will slow if major technological progress is not made. Food production may become a problem, as erosion, an impending water crisis, and soil salinity (from irrigation) reduce the productivity of agriculture. Ecological economists argue that industrial agriculture, which exacerbates these problems, is not sustainable agriculture, and are generally inclined favorably to organic farming, which also reduces the output of carbon. Global wild fisheries are believed to have peaked and begun a decline, with valuable habitat such as estuaries in critical condition. The aquaculture or farming of piscivorous fish, like salmon, does not help solve the problem because they need to be fed products from other fish. Studies have shown that salmon farming has major negative impacts on wild salmon, as well as the forage fish that need to be caught to feed them. Since animals are higher on the trophic level, they are less efficient sources of food energy. Reduced consumption of meat would reduce the demand for food, but as nations develop, they adopt high-meat diets similar to the United States. Genetically modified food (GMF) a conventional solution to the problem, have problems – Bt corn produces its own *Bacillus thuringiensis*,

but the pest resistance is believed to be only a matter of time. The overall effect of GMF on yields is contentious, with the USDA and FAO acknowledging that GMFs do not necessarily have higher yields and may even have reduced yields.

Global warming is now widely acknowledged as a major issue, with all national scientific academies expressing agreement on the importance of the issue. As the population growth intensifies and energy demand increases, the world faces an energy crisis. Some economists and scientists forecast a global ecological crisis if energy use is not contained – the Stern report is an example. The disagreement has sparked a vigorous debate on issue of discounting and intergenerational equity.

Ethics

Mainstream economics has attempted to become a value-free ‘hard science’, but ecological economists argue that value-free economics is generally not realistic. Ecological economics is more willing to entertain alternative conceptions of utility, efficiency, and cost-benefits such as positional analysis or multi-criteria analysis. Ecological economics is typically viewed as economics for sustainable development, and may have goals similar to green politics.

Schools of Thought

Various competing schools of thought exist in the field. Some are close to resource and environmental economics while others are far more heterodox in outlook. An example of the latter is the *European Society for Ecological Economics*. An example of the former is the Swedish *Beijer International Institute of Ecological Economics*.

Differentiation from Mainstream Schools

In ecological economics, natural capital is added to the typical capital asset analysis of land, labour, and financial capital. Ecological economics uses tools from mathematical economics, but may apply them more closely to the natural world. Whereas mainstream economists tend to be technological optimists, ecological economists are inclined to be technological pessimists. They reason that the natural world has a limited carrying capacity and that its resources may run out. Since destruction of important environmental resources could be practically irreversible and catastrophic, ecological economists are inclined to justify cautionary measures based on the precautionary principle.

The most cogent example of how the different theories treat similar assets is tropical rainforest ecosystems, most obviously the Yasuni region of Ecuador. While this area has substantial deposits of bitumen it is also one of the most diverse ecosystems on Earth and some estimates establish it has over 200 undiscovered medical substances in its genomes-most of which would be destroyed by logging the forest or mining the bitumen. Effectively, the instructional capital of the genomes is undervalued by both classical and neoclassical means which would view the rainforest primarily as a source of wood, oil/tar and perhaps food.

Increasingly the carbon credit for leaving the extremely carbon-intensive (“dirty”) bitumen in the ground is also valued-the government of Ecuador set a

price of US\$350M for an oil lease with the intent of selling it to someone committed to never exercising it at all and instead preserving the rainforest. Bill Clinton, Paul Martin and other former world leaders have become closely involved in this project which includes lobbying for the issue of International Monetary Fund Special Drawing Rights to recognize the rainforest's value directly within the framework of the Bretton Woods institutions. If successful this would be a major victory for advocates of ecological economics as the new mainstream form of economics.

References

- Carley, M., P. Jenkins : *Urban Development and Civil Society, the Role of Communities in Sustainable Cities*, Sterling, VA, Earthscan Publications, 2001.
- Fowler, E. P. and D. Siegel : *Urban Policy Issues, Canadian Perspectives*, Toronto, Oxford University Press, 2002.
- Kaza, Stephanie, and Kenneth Kraft : *Dharma Rain, Sources of Buddhist Environmentalism*, Shambhala, Boston, 2000.
- Marris, P. : *Community Planning and Conceptions of Change*, London, Boston, Routledge & Kegan Paul, 1982.
- Perrings, C. : *Sustainable Development and Poverty Alleviation in Sub-Saharan Africa*, New York, St. Martin's Press, 1996.
- Sassen, S. : *Cities in a World Economy*, Thousand Oaks, Calif., Pine Forge Press, 2000.
- Simonds, J. O. : *Garden Cities 21, Creating a Livable Urban Environment*, New York, McGraw-Hill, 1994.
- Taylor, Bron, and Jeffrey Kaplan : *The Encyclopedia of Religion and Nature*, Thoemmes Continuum, London & New York, 2005.
- Tucker, Mary Evelyn : *Worldly Wonder, Religions Enter Their Ecological Phase*, Open Court Publishing Company, La Salle, Illinois, 2003.
- Uhler, P. F. : *Scientific Data for Decision Making Toward Sustainable Development*, Washington, D.C., National Academies Press, 2003.
- Veitch, James : *Can Humanity Survive, The World's Religions and the Environment*, Awareness Book Company Ltd, Auckland, New Zealand. 1996.

Strategies for Achieving Sustainable High Growth in Agriculture

Sanjeev Kumar Singh

Asst. Professor, P.G. Department of Economics, SKMU, Dumka

Agriculture sector is the mainstay of the Indian economy, contributing about 18 per cent of the national income and providing employment to more than half of the workforce in the country. Despite its importance, agriculture sector has witnessed inconsistent growth in the last six decades since independence. Even within the sector, some areas have shown appreciable growth while some others have remained laggards. Four years back, the Government decided to take a holistic view of the strengths, weaknesses and possibilities of growth in the farming sector and to take both short-term and long-term measures to rejuvenate the sector.

Since a proper understanding of the issues involved was necessary, the Government set up a National Commission on Farmers in 2005 under the Chairmanship of Prof. M.S. Swaminathan. Many of the recommendations made by the Commission have already been implemented and others are in various stages of implementation. After detailed deliberations and consultations with States, it was felt taking the annual growth of the farming sector from about 2.5 percent in the Tenth Plan to 4 per cent in the Eleventh Plan was possible if focused interventions were made. With over 4 percent growth achieved in the first two years, we are confident that this growth will be maintained during the next three years and beyond. While aiming at fast growth of farm sector as a whole, a conscious decision has been taken to keep the farmer at the focus of all policy initiatives. Starting with adoption of Farmer Policy in 2007, all government efforts in the farm sector focus on the farmer as the prime beneficiary.

One key strategy to raise farm production was to identify districts in which there was scope of significantly improving productivity of major foodgrain crops by focused intervention from the government. The Rs. 5000 crore National Food Security Mission (NFSM) was started with this assumption. This Mission focuses on making available quality seeds and fertilizers, credit and extension support in about 300 identified districts. The resultant increase in productivity of rice, wheat and pulses would result in additional production of additional 10 million tonnes of rice, 8 million tonnes of wheat and 2 million tonnes of pulses per year by 2012. NFSM has yielded satisfactory results in the first year of its implementation.

Another major scheme, the Rashtriya Krishi Vikas Yojana (RKVY), was launched to encourage States to invest more on agriculture and allied activities.

The Centre is providing funds to the tune of Rs 25,000 crores to States during the 11th Plan to invest in agriculture. With additional funds coming from States, this will lead to substantial investment in agriculture. This will result not only in higher production of foodgrains, other crops and animal products, but will also lead to generation of assets and contribute to long-term growth of the sector. Investment in agriculture and allied sectors has increased over the last three years also by way of expansion of various existing schemes. The outlays for schemes such as the Integrated Scheme for Oilseeds, Pulses and Maize and the Macro Management of Agriculture Scheme have gone up significantly. The investments being made now will lead to better technology adaptation, higher use of inputs and establishment of marketing facilities. Along with rural development and employment schemes, these will result in sustainable growth in agriculture in the Eleventh Plan and beyond.

Another intervention of great proportions is the debt waiver and debt relief taken up in 2008-09. In one stroke, over Rs. 71,000 crore has gone into loan accounts of about four crore indebted farmers. Not only has it taken away the burden of debt from farmers who could not pay back their loans, it has made them eligible for fresh loans from the banking sector. While debt relief was a one-time intervention, the government has been encouraging banks to lend more and more to the farming sector. Kisan credit cards have also been introduced to make borrowing easy and more transparent. Loans up to Rs 3,00,000 lakh are given at a discounted interest rate of 7 percent a year. These and other efforts have led to more than three-fold growth in farm credit in the last five years. Raising of the minimum support prices (MSP) for major crops successively in the last four years has had a very favourable impact on farming; it has ensured remunerative prices to farmers. It has also led to record procurement of foodgrains which has in turn made ample availability and stable prices of food commodities. Recently, the government has modified the formula for fixing MSP so as to include the cost of crop insurance also in the MSP and thus compensate farmers better for their produce. It is not surprising that the production of foodgrains and some other major crops has reached record levels in the last few years. This has marked the beginning of rejuvenation of the farm sector after a long period of stagnation. Besides meeting the demand for foodgrains, which itself has been rising, we have been able to create a strategic foodgrain reserve. At a time when food security has become a global concern, India is fully self-sufficient in foodgrains.

Diversification of agriculture to horticulture and other areas is also high on the government's agenda. Besides raising farmers' income, this results in better utilization of resources, creation of employment and growth of activities other than growing foodgrains. Horticulture is a major such activity with immense potential. The National Horticulture Mission and the Mission for horticulture in the North East and other hilly states have been set up to promote horticulture in a mission mode. While the full impact of the initiatives being taken by these Missions will come to the fore after a few years, horticultural production and growth of food processing industry is already seeing high growth.

Allied sectors such as fisheries, dairying, food processing are also being given an impetus to achieve nutrient security, employment and rise in rural incomes. Seeing the emerging economic opportunities in the farm sector, private companies and individual entrepreneurs have also been entering with investments and services. Some areas in which they have shown interest include marketing, storage and logistic facilities, weather information, insurance, credit, food processing, fish farming, dairying, poultry, floriculture, herbal medicines and exports. The government is keen to encourage them further and remove bottlenecks in their entering the farm sector. It cannot be denied that there are problems that need to be addressed quickly and firmly to harness the full potential of agriculture and allied sectors. Some, such as dependence of a large number of farmers on rains and small farm holdings, make it difficult to bring about fast transformation of agriculture. The only way to tackle them is to adopt focused strategies, and the government is doing just that. These strategies have been rigorously tested in the last three-four years and they have succeeded in achieving a fast growth, better prices to farmers, adequate availability of foodgrains, and reasonable stable food prices. We are committed to maintain this level of support to agriculture and do everything we can to ensure the food security of the country.

References:

- B.S. Hansra, G. Perumal and K. Chandrakandan: *Modernizing Indian Agriculture in 21 Century : Challenges, Opportunities and Strategies*, New Delhi, Concept, 2001.
- C.S. Prasad: *Sixty Years of Indian Agriculture: 1947 to 2007*, New Delhi, New Century, 2006.
- S.S. Acharya and D.P. Chaudhri: *Indian Agricultural Policy at the Crossroads : Priorities and Agenda*, New Delhi, Rawat, 2001.
- Y.K. Alagh: *Globalisation and Agricultural Crisis in India*, New Delhi, Deep & Deep, 2003.

Tribal and their Economic Situation (A study on North India Tribals)

Jyotsna Tiwary

R.S., T.M.B.U., Bhagalpur

The Tribal population is still living the situation of extreme poverty, illiteracy, deprivation and exploitation. The Govt. and non Govt. plans and scheme have not done anything substantial for the upliftment of tribal people. About 85 percent of tribal families are still living below poverty line and 48% are still illiterate.

They are still victims of various exploitation by money lenders, outsiders and contractors of forest department and other Govt. department engaged collection of forest product and execution of construction and other similar works in the tribal areas. The gap between their bare physical and economic needs and the fulfilment are still much wide. The achievement concerning Govt. schemes are assessed in general terms of financial investment rather than the goods delivered and ultimate outcome. Major share of investment has been of national nature qualified in major and medium irrigation which could do hardly any good to the tribal population.

The minor irrigation schemes such as of water conservation through ditches, check dams, residential storages etc., were practically totally avoided. These method rather could have more effectively provided the irrigational and drinking water facilities to them. This method, if they are properly trained and encouraged to opt, can solve their major problem of water scarcity, which is one of the most vital problems of tribal. The women of tribes of many villages still travel one to four kilometre to fetch drinking water in the summer days. The non government and government organization should work for assistance of local people for construction of water harvesting tank at every tribal residential houses so that they may do the harvesting of surplus water which they get during rainy season. Almost every tribal village has the potentiality of check dams and this opportunity must be avoided at earliest. Such situation will help them reducing their total dependence on rain water for irrigation.

The reasons of tribal deprivation and economic backwardness however may broadly be divided in to the following heads :-

1. Improper implementation of govt. and non govt. welfare schemes – The Governor of State, having scheduled areas has been given regulation making power for development of scheduled tribes and good administration of scheduled area in consolation with Tribal Advisory Council. Governor is required to inform the President of India about the tribal situation in the state by submitting annual report. The Governor

has got adequate power to exclude the application of any law or part thereof made by the Parliament or the state legislature. Such powers vested in the Governor by the fifth schedule are limited by article 163 which provides that the Governor will be aided and advised by the council of ministers in the exercise of his powers. The financial assistance from Central Govt. are released in casual and former manner without any specification of area or people i.e. oriented specific schemes. In fact, every govt. and non govt. agencies engaged in tribal welfare schemes should prepare micro-level developments plans giving specification of area, target group and final output of the project. The release of funds from Central Govt. Agencies should be released to such agencies directly with provisions of supervision through collector or his nominees through the District Administration.

2. Land alienation and displacement without adequate rehabilitation- The tribals and forests are co-existing together on hills and other plateau since time immemorial. Despite several protective land laws, the tribal continues to be alienated from the hands non-tribal, to non-tribal persons and govt. agencies. The illiteracy and lack of awareness is the main cause of their alienation. Despite living above a century on a particular land from generation, they miserably fail to get their name and rights entered into the block's revenue records. In the wake construction of dams, industrial units and such development processes a large chunk of fertile tribal land has been acquired by Govt. for irrigation, power, mining and others projects in lieu of meager compensation which the tribal spent away in short time.

The tribal in this way are deprived of their valuable agricultural land which was the main source of their livelihood. Tribal at many places in the India are now violently protesting against such alienation and displacements. Despite sacrifice of their land and they did not get the benefit of the development projects. The Govt. should have rehabilitated them properly at an alternative place before displacing them from the place of construction. The Govt. contractors works relating to the forests, such as collection of Kendu leaves, forest produces, construction work of road, culverts etc., in forest area should be given to the tribal people only.

3. Lack of accountability – There is complete absence of any specific provision of legislation regarding the administration of the affairs of the scheduled tribes in the Constitution and this is one of the major reason of lack of accountability. There is no provision so far to fix the responsibility for the failure to achieve the target set by the Union and the State Government. It is now high time that statutory provisions should be introduced for assigning responsibility for such failures and for taking punitive actions against those who are responsible for failure or paper works of various tribal welfare schemes. There are many agencies to look into the implementation of tribal welfare programme and schemes at higher level. But due to lack of specification of responsibilities, among multiple agencies in fact no body is responsible for the failure of tribal schemes. In practice

only one department 'Ministry of Social Justice and Empowerment or Ministry of Tribal Affairs should be made responsible for the Tribal welfare and Development Programmes. And this ministry should be in direct contact of concerned Collectors of the districts where the tribal welfare programmes are being executed. Participation the tribals and reputed people of locality should be top priority than govt. officials and political persons.

4. Lack of tribal participation in development processes- There has been lack of effective participation of the tribals in policy and decision making as well as development process affecting them to have effective implementation of economic scheme meant for them under govt. budget. They do not have an opportunity to make their own plans and administer their own affairs the policies and programmes at Centres, State and District level are formulated without consulting them. This one of the major cause of tribal economic backwardness.

The proper and effective participation of tribal in their own socio economic affairs may be brought about⁽¹⁾ by adopting procedure to ensure regular consultation between the government agencies and the representatives of tribals⁽²⁾ by conduction supervision of development works being executed by a consultative body consisting of elected or nominated representative of tribal's village head man⁽³⁾ appointing tribal officials at various levels⁽⁴⁾ guaranteed representation in Panchayati Raj institutions in proportion of tribal population

5. Lack of tribal leadership – The lack of effective tribal leadership have adversely affected their socio economic status. The active political participation of scheduled casts at Block level compel to authorities to share employment in the form of govt. contracts and facilities under different schemes such as Jawahar Rozgar Yojna, Indira Awas Yojna, Subsidized agricultural schemes etc. The dominant leadership of scheduled casts grab the share of scheduled tribes. The govt. schemes are diverted to other area because tribal voices are not available in the govt. meeting finalizing various schemes. This factor is also and important cause of socio economic backwardness among the tribal.
6. Method of Farming – The tribal are almost completely unaware of recent techniques of cultivation. They still adopt "Zhoom" system (shifting cultivation) of agriculture which is much less productive and even lead to affect the fertility of their land. They should be given proper information about new productive agricultural system. They should also be train to adopt the method of rain harvesting method at domestic and village level so that they may conserve water for their farming as well as domestic needs. Financial assistance be provided for construction of water tanks for rain harvesting. The should also been given adequate information about horticulture also.

The majority of tribals are still living in destitute poverty condition despite huge government investments on them under various welfare scheme. The lack of educating is the main reason of their backwardness. Due to illiteracy, they

are not able to understand and adopt way of life of civilized world. Due to lack of leadership and political consciousness, they are not able to fight for their rights earmarked for them in the field of job reservation and welfare schemes. Unlike schedule caste, they are not active in politics to get adequate representation in Panchayat Raj system and Legislative Assemblies and Parliament. For want of legal awareness, they are not able to take shelter of courts for protection of their rights relating lands and tenancy. The objective of social, economic and justice for tribals can be achieved only after the participation of tribal in the political and developmental process.

References:-

1. India Tribal Through the Age
2. India Tribes Through the ages
3. First Impression – Majumdar and Madan 1991
4. Tribes of North India, P.K. Singh.

Trends of Cost and Profitability of Banks

Ranjay Kumar Singh

Department of Economics, S.T.D. College, Ghurapali, Saran

An effort has been made in this paper to analyse the overall trends of cost and profitability of Indian Public Sector banks in calculating share of interest cost, earnings on loan and advances, return on investments, establishment expenses, earnings from financial services, trends of profit and profitability, gross profit margin and net profit margin alongwith improving the yeild on their resources. Not only this, what should take remedial measures to read just the staffing pattern of the currency chest so as to cut down the cost. Switch-gear- operations limit should be enhanced for better yeild on investment.

The key indications of an income statement are the earning and expenses aspects. These aspects will have greater impact on the profitability of an organisation. Profit is the function of income and expenditure flow during a given period, usually an accounting period, of a year. $P = F(I-E)$

Profit is the excess of revenue (I) over expenditure (E) during an accounting year. Bank income is classified into the following (a) Interest income and (b) Non-interest income. Interest income is obtained from interest earnings assets and from advances and loans expended to the public. Non-interest incomes includes revenue from various sources such as commission brokerage, exchange, services charges government fees, rent from lockers and premises etc. Similarly banks costs are also classified into the following :-

(a) Interest cost, and (b) Non-interest cost: Interest cost is the amount paid by way of interest on interest bearing liabilities and non interest costs such establishment cost, and other operating costs like rent, taxes stationary and printing charges, depreciation, auditor's fee, directors fee, telephone charges etc. The difference between the interest income and interest cost is called "SPREAD" or interest contribution. Spread and non-interest income can be combined as gross contribution. So, the difference between the gross contribution and non-interest cost is the net profit or loss. Unlike an industry, banks have less control on their cost and incomes. The reason is simple. The cost of a product is fixed by the top management with the industry and they are sure of getting.

Incomes in a systematic manner, but banks have no such opportunity to fix the rates of interest either on costs or incomes. Banks can only mobilise deposits to improve their business. Thus the major components of costs is outside the banks' control. The rate of interest is fixed by the monetary authorities. Consequently, banks have to act according to the administered rates of interests and cost structure. Similiarly, interest, earned advances constitutes a major portion of earnings and little discretion is left with the banks. The banks are controlling the quantum of advances to some extent as there are statutory

regulations on priority sectors lending etc. Similarly, returns of statutory holdings, like cash reserve ratio and statutory liquidity ratio, against deposit liabilities are also rigid. Thus interest costs and interest incomes are almost outside the banks' control. Hence for effective funds management, banks have to concentrate on interest costs and non-interest incomes. The major item of non-interest expenditure is establishment cost. The bank management has to contain the growth of it by an efficient staff - recruitment policy and optimal utilisation of staff services. Similarly, non-interest income such as commission, brokage and exchange can be related to the cost of services. These can be fixed at a reasonable rate in a systematic manner by all banks. The analysis of various aspects of income statement are as under -

Spread

The trend of spread gives a better idea to judge the profitability of the banks' business of intermediation. "Non-financial business have used spread and margin concepts for centuries. When a business man purchases goods, he adds some amount to the cost of goods to cover expenses and to earn a reasonable profit the difference between the cost of goods sold and the selling price called spread or Margin.' 1 Banks are also doing business in a similar, manner, but they deal in rupees. Banks mobilise funds through deposits and borrowing; in turn, they promise to pay interest. Banks acquire assets, such as loans and investments, for which they receive interest. The difference between the interest paid for funds, and received for their funds is spread. As per verghese, spread can be expressed as the percentage difference between the two variables, viz difference average interest income and average interest cost or as a ratio to any of the relevant business magnitude such as average assets or working funds. Thus, Spread ratio = Average Interest Earned - Average interest cost.

Share of Interest Cost

Interest cost is the most important component of expenses of a bank. Interest is paid on deposits and borrowings. Interest cost in banking is compared to raw material cost industries. The share of interest cost on deposits and borrowings in operating expenses is reported. The rising trends in the share of interest cost on deposits and borrowings to total operating earning indicate declining trends of profitability. The reason for these trends the lowering of rate of earnings from advances and priority sector lendings and unfavourable change in the deposite - Mix of banks, where as the declining trend in the share of interest cost to total operating earnings of banks indicate a rising trends in the profitability as higher earning of the bank.

Average Cost of Funds

The cost is calculated as interest paid on deposits, borrowings and other accounts divided by average interest bearing liabilities i.e. deposits and borrowing. Average interest cost is defined as interest paid of deposits.

$$\frac{\text{Borrowings and other accounts}}{\text{Average interest bearing liabilities}} \times 100$$

Average interest bearing liabilities are computed by adding half of annual increase to the preceding years outstanding figures of deposits and borrowings.

Earning on Interest

Interest earned on loan and advances, bills and investments accounted for a larger proportion of the total earnings of a bank.

Average Interest Earned

Average interest income is calculated as the interest earned on loans and advances and investments divided by average interest - earnings sets. Net interest is taken as total interest received minus interest tax, and earning assets. Though, all assets of a bank do not yeild income at uniform rate, yet the ratio gives a better picture of the earning capability of productivity employed assets. Net interest is taken as total interest received minus interest tax, and earning assets are total loans, advances, investments, cash with RBI and balance with other banks.

The factors that affect interest income are, the structure of interest on loans and advances and investments, the impact of sectoral credit deployment, the monetary policy considerations of priority and non-priority sector advances, which are decided by RBI. Banks have little control over all these factors. Banks can lend their funds productively and efficiently to various segments within the preview of administered rates of interest structure . Interest rates are fixed and once they reach the ceiling rates, there is no scope for banks for further improving their yield on advances and investments.

It is strongly believed that an individual bank can do nothing with the enhancement of interest earnings, as banks operate in the oligopolistic market and are subjected to rigid monetary policy prescriptions. Therefore, average interest cost is defined as –

$$\frac{\text{Total interest received}}{\text{Average interest bearing liabilities}} \times 100$$

Thus, The interest earnings are never deliberately managed but always got managed accidentally in a bank. Some individual banks can improve and manage their interest earnings through efficient credit ratio management. This is one of the major reasons for variations in the profitability among banks.

Yield on Advances

The yield on advances is calculated as the earnings on loans and advances minus interest tax divided by average loans and advances. The shift in the lower yield on advances, is due to a variety of reasons such as higher level of priority sector advances, increase in non- performing advances, lack of uniform norms for ceasing to charge interest on sticky advances among banks and even from year to year. Thus yield on advances is calculated as-

$$\frac{\text{Earnings on loans and advances}}{\text{Average of loans and advances}} \times 100$$

Average of loans-advances are computed by adding half of the loans and advances in any given year, with the outstanding at the end of the preceding year.

Return on Investments

The return on investment is calculated as the interest earned on securities or securities or investments divided by the average volume of securities; As per Banking Regulation Act, 1949 the banks have to maintain a certain portion of their net demand and time liabilities as liquid assets in the form of cash, gold, approved securities, and Government securities and so on. This is termed as the statutory liquidity ratio. The yield on investments of banks varies from bank to bank depending upon the efficiency of their investment portfolio management.

The yield on investments depends upon the investments portfolio of the banks and their ability to re-adjust their portfolio to take advantage of changes in the interest rate structure. Certain banks may not have the ability to bear the loss on sale of old securities and lack adequate surplus to provide for depreciation in their accounts. Profit of banks are affected by the valuation securities under banking regulation act, banks adopt various methods of valuation of securities for different purposes in India. Under the Banking Regulation Act, the valuation of securities for fulfilment of the statutory liquidity ratio should be at a price not exceeding the current market price of the securities. Thus, whenever, the Government raises the yield on new issues of securities, there is a consequential depreciation in the market price of outstanding government securities which ultimately affect the profitability of banks.

Owing to the hike in interest rates on Government securities from time to time the market value of securities are at a discount. Therefore, for tax purpose, the securities are valued by all banks at market price. Most banks value the securities at book value or at a price reflecting lower discount for the purpose of published profit and statement, which will enable to show a higher profit in the published balance sheet of the banks. Banks normally buy securities for holding them until maturity, because the statutory liquidity ratio is often revised upward rather than downward, while their net demand and time liabilities keep an upward trend. Thus the valuation impact of securities on the profit of banks over the years is not much important.

References

1. Woods, Oliver G, and Porter, Robert J, Analysis of bank Financial Statements, Van Nostrand, New York, 1979, P.94.
2. Verghese, S. K. Profit and profitability in Indian commercial banks in seventies, Bombay, 1983, P.19.
3. Dr. Bangarajan, Inaugural address on seminar on bank profitability, bankers training college, Bombay (ed) K. Kanagasabhapathy, August 22-24, 1987, P.5.
4. K. Kanagasabhapathy and P.G. Krishana Moorthy, seminar on bank profitability, Bankers Training college, Bombay-P127.
5. Reed Edward E, The commercial Bank Management, Harper and Row, New York, 1964, P.507.
6. Banking companies act, 1949, Ministry of law, Govt. of India, P.15
7. Verghere, S. K. Profit and profitability of Indian commercial Bank in the seventies, NIBM Bombay, 1983, P.11
8. Wood, Oliver, G. and Proter, Robert, J, Analysis of bank financial statements, van Nostrand. New York, 1979, 1989, P.75

Coalition Politics in India: Prospects and Challenges

Dr. Renu Mishra

Lecturer, Department of Political Science, M.M. Mahila College, Ara

India is today undergoing a complex and tortuous political transition. The demise of the one party dominance system has given birth to an era of coalitions. With the decline of the Congress and in the absence of a national alternative having a countrywide spread, it was logical for the people to repose faith in different parties and groups, some confined to region. The transformative process has however been fraught with unprecedented instability and weak governance. The tentative experiment in coalition government, specifically at the centre, has evoked mixed responses ranging from extreme scepticism to post facto admiration and acceptance. There have been a plethora of scholarly articles from senior politicians, journalists and even constitutional experts about the inevitability of the arrival of coalition politics in the working of our democracy.

A clear and in depth analysis of coalition politics is crucial for us to understand the myriad of changes that are occurring in our polity in order to better manage the transition and anticipate and influence the future course. As demands by religious, cultural or ethnic groups for greater autonomy have increased in India, there is an urgent need to think afresh about approaches to structures of governance in multicultural and multiethnic societies like India. India's experience as arguably the most diverse society in the world and her attempt to wrestle with tensions between centralising and decentralising tendencies is reflected in our experiment in coalition government. This paper seeks to achieve the following objectives.

- (i) To study the key developments in the recent politics of India.
- (ii) To outline a theoretical framework within which coalition politics is examined. . .
- (iii) To identify the issue areas specially the challenges that the experiment with coalition government throws up.
- (iv) To assess and critically examine the efficacy and desirability of coalition politics for.

Definition of Coalition

The term 'coalition' is derived from the Latin word 'coalitio' which is the verbal substantive of coalescere which means to grow together. However, as actually used, it somewhat belies its nominal meaning, 'for the units or the elements brought into combination by a coalition very seldom grow together in any literal sense'. According to the dictionary meaning coalition means an act of coalescing, or uniting into one body: a union of persons, states: alliance. In the strict political sense the word coalition is used for 'alliance or temporary union into a single government of distinct parties or members of distinct parties'

In other words, it - 'commonly denotes a cooperative arrangement under which distinct political parties, or at all events members of such parties u ~ ttoe f orm a government or mini~try'~.

It is generally regarded as the product of parliamentary democratic process and is commyly used in connection with political parties, particularly in multiparty system: It may, however, refer to,an alliance of forces within a party of of groups cutting across party lines. It is applied to the union of two or more parties, or, as generally happens, portions of parties, who agree to sink there differences and act in conunon. Coalition thus refers to a combination of political groups or forces, temporary in nature and for specific objectives. It is also generally accepted that a coalition can take play only within the contexts of mixed motive in which both conflict and common interest are simultaneously present and must govern the Course of action chosen.

Coalition Politics: A Theoretical Framework

Inspite of the fact that the subject of coalitions is not of recent origin, it has not entrenched itself as a part of the literature on political science expecially with regard to a theoretical understanding of the concept. In India, the study of coalitions is of recent origin though the developments of the last two to three decades have witnessed apupsurge in the writings on coalition politics.

Two seminal contributions to the theoretical literature on coalition + politics are found in the works of William H. Riker and William A. Gammon Riker has primarily employed game theory to study coalition politics thus imparting a more disciplinedtone to the whole field. He uses the n-person game to develop his theory and simplify a highly complex phenomenon.

He puts forth the notion that in order to discover the trends or design of a coalition, it is advisable to maek an assessment of the human behaviour of the members constituting a coalition expecially of those who are at the helm of a coalition. Riker holds that general decision making policy of a coalition depends upon its leader. The analysis of his leadetship is as essential as the analysis of a mathematical theorem or a chemical reaction. Riker's theory finds its echoes in Bryce who subscribes to much of the former's views. A coalition can take place in two phases: pre election alliance or adjustments between the parties and post election union to share political power and run the government. The former type of coalition has two additional advantages than the later. A pre poll understanding provides a common platform to the parties in order to attract the electorate on the basis of the joint manifesto.

Moreover, the radicalism of such parties is softened to a great extent in the process of mutual concessions without causing the slightest damage to the image of either of them.

There are generally three types of situations, which inevitably give rise to a coalition government in a state.

- a) Inability of any single party, in a multi-party system, to form ministry by commanding a working majority, in the Lower House of Parliament in a bicameral legislature. Owing to the fractured mandate at the polls, India has in recent years increasingly been confronted with such a situation.

- b) Existence of a dead lock between the two parties in bi-party system that is an even balance between (he two parties, leading on of the two to ally itself with any minor go& such as a neutral of defectors.
- c) A national crisis necessitating the suspension of party strife and the concentration of all forces in a 'common direction for the common safety.

The latter two types of situations are most commonly found in the history of England. England is classic land of bi-party system and it is there that the above types of coalitions have occasionally taken place. A coalition can be tacit or implied and formal or express. A tacit , coalition is a mere understanding with some group without actually coalescing with it. An express or formal coalition is a formal and legitimate alliance with some group with a clear understanding of give and take. In a formal coalition the sharing of power is real and substantial. A perfect ~llustrationo Fthis is the BJP led formation that currently runs the country Indian Experience with Coalition Polities Unlike general perckption, coalition in polltics is not a new concept . for Indian politics. Coalitionism as a form of government is common and widely pracuced in Eusope, India, too, has accunlulated not ~ncons~derabalme ount of eq e - rience in the form of governing arrangement.

Undivided India got its first experience of coalition government in 1937, when the Government of India Act, 193 5 became operatwe. At that time J~nnahas ked for a coalition consisting of Congress and Muslin1 League in U.P. but Congress, the party holding majority did not entertain' this demand. Mohm Ali Jinnah at that time argued that in India, coalition was the only respectable device to give to the Muslims a fair share in governance, In other states like NWFP and Punjab Congress formed coalitions with other regional parties.

In 1037 tlf e Interim Government under the Prinle Minister ship oCNehru Was the first formal coalition consisting the congress, the Muslim league, the Hindu Mahasabha etc. The electoral history of India and the record of Union Government since independence can be divided into two phases - first, upto 1989, a period of elght electons resulting in electroal majority for one party and relatively stable Union Governments except for a period of 1967-72 and the second, the decade since 1989 marked by fractured verdicts in 1989, 199 1, 1996, 1998 and 1999, resulting in the formation of minority or coalition governments.

Coalition Politics: A Critical Evaluation :-

Acceptance of coalition politics as an important political phenomenon today, makes it imperative to study their advantages and disadvantages. . Bryce once remarked "administration fomled by coalition of parlies is usually weak, not merely because the combination is unstable but because men whose professed principles differ are likely to be entangled in inconsistencies or driveh to unsatisfactory compromises."

Coalition pditics in a democratic polity is a reflex of a living and continuous interaction between a pasty's natural & hence ultimate quest to come to power by itself and the expedient perhaps transitory inter-party collaboration to capture the reins of government.

Thus by its very nature coalition politics is Subject to contradictory nlotivational pulls and pressures. It is therefore not surprising if parties tend to

use the coalition expedient to fulfill the ultimate objectives, it is equally understandable if parties avoid and even prefer to opt out of a coalition if the former goal tends to cost the latter. Thus stability is a major casualty in a coalition government - that which is an essential requirement for carrying out any long-range programme of economic and social development and providing administration.

The leadership of the real executive (PM/CM) is one of the accepted principles of parliamentary government. This principle hardly appears to be empirically tenable in the context of coalition politics in India. The following reasons may be discussed;

Firstly, a person does not owe his position as PM/CM to his election as leader of a particular party or to his pre-eminence within a party but to interparty acceptance which is usually the result of hard bargaining. There are claims and counter claims which result in the creation of the post of a PM/CM. Leadership which tends to be more contractual than a cultivated one and as such he is PM or CM more by courtesy than by right, though there are always exceptions.

Secondly, the PM/CM doesn't always enjoy even elbowroom freedom in the distribution of portfolios. This distribution is in fact part and parcel of "the agreement governing the coalition.

Thirdly, the PM/CM is always fighting the battle of political survival - sometimes placating the prospective defectors with more ministerialship, at others being at the beck and call of co-ordination committees, and at still other times maneuvering for an alternative set of political alignments. Although he is following Carlyle literally 'I am their leader, therefore I must follow them'. The principles of collective responsibility so critical to parliamentary democracy, are also seriously threatened by coalition politics. There are numerous examples of responsibility being more individual than collective especially in state governments - an extreme case being that of Ajoy Mukherjee, the CM of West Bengal who would resort to hunger strikes and mass satyagrahas against Jyoti Basu, Home Minister in his own Cabinet.

The cabinet, which consists of representatives from different parties, speaks in many voices. The sense of direction and unity of purpose gets lost. Political homogeneity is another characteristic of a parliamentary government. This in turn is rooted in programmatic unity. Though coalition governments do make efforts to provide for programmatic unity through minimum programmes, they are very poor substitutes - ill-conceived compromises of contradictory programmatic pulls and pressures. The parties in the coalition also have different support structures, which further militate against minimum programmes being treated as an integrated programmatic unit, and more importantly against its implementation. Thus minimum programmes are many a time and evil however necessary - dysfunctional to political homogeneity, they are more a source of weakness than strength.

Another dysfunctionality is that it affects the morale of the rank and file of the parties. With frequent elections at all levels, the problem that arises is

that of alignment Continued partnership at one level may come in conflict with possibility of competition an another levels. The rank and file doesn't alivays appreciate the competition of national level politics. They are further alienated if they don't get adequate share of ofices and patrongage. There are no assurances for them that the policy of their party will get properly implemented. Neutrality of the civil servants under a coalition government sometimes. suffers.

References:

- Mahendra Prasad Singh and Anil Mishra: *Coalition Politics in India : Problems and Prospects*, New Delhi, Manohar, 2004.
- D. Sundar Ram: *Federal System and Coalition Government in India : Conflicts and Consensus in Centre-State Relations*, New Delhi, Kanishka Pub., 2007.
- Meenu Roy: *Electoral Politics in India : Election Process and Outcomes, Voting Behaviour and Current Trends*, Delhi, Deep & Deep, 2000.
- Sunil Kumar: *Parties and Coalition Politics : A Comparative Study*, New Delhi, Uppal, 2004.

India's Electoral Politics

Shaifali Singh

R.S., B.B.A. Central University, Lucknow

Introduction

Elections in India, the world's second-most populous country, evoke descriptions like 'spectacle' or 'carnival,' in part due to the overwhelming numbers that participate in the process. In this country of over a billion people, 714 million voters will decide who rules the world's largest democracy for the next five years. In the 2004 elections, over 5,400 candidates from 230 political parties participated. Nearly the same number of candidates will compete for seats in parliament in 2009. Electoral candidates vie for votes by promising reforms, such as better governance, greater socioeconomic equity, and bolstered efforts at poverty alleviation. However, corrupt politicians with criminal records, caste- and religion-based politics, and allegations of vote-buying continue to mar the democratic process. Meanwhile, the coalition politics of the last two decades, while more inclusive, have resulted in giving outsized power to small parties that have used it to further their short-term agendas. Indian historian Ramachandra Guha, in the book *India after Gandhi*, argues the country is only "50 percent a democracy," holding viable elections, but falling short when it comes to "the functioning of politicians and political institutions."

The Parliament

India's parliamentary system is based on the Westminster model of constitutional democracy, a legacy of British colonial rule. The Parliament is comprised of a bicameral legislature: the Rajya Sabha, the 250-member upper house, where members are elected by state legislative assemblies (12 members are nominated by the president), and the Lok Sabha, the 543-member lower house directly elected by the people (with two additional seats reserved for Anglo Indians nominated by the president). In the Lok Sabha, voters elect candidates based on the electoral system where the person securing the largest number of votes in each district wins.

"There were few other competing ideologies that allowed people to make sense of their social circumstances in the way caste did."

– Pratap Bhanu Mehta

To ensure political representation for historically marginalized groups in the lower house of the parliament, the Indian Constitution stipulates that each state reserve seats for Scheduled Castes and Scheduled Tribes (formerly known as the untouchables, lowest in the country's stratified social order) in proportion to their population in the state. This means only candidates belonging to these groups can contest elections in reserved constituencies. In the 2009 elections, eighty-four seats for candidates from scheduled castes and forty-seven for scheduled tribe members are reserved, 24 percent of the total seats in the parliament's lower house. A pending bill seeking a 33 percent reservation for women in the parliament and state legislatures has been the subject of intense

debate for over a decade. The prime minister is the leader of the party or alliance that enjoys majority support in the lower house. If no single party or alliance has a majority, the leader of the largest single party or alliance is appointed prime minister and must subsequently secure a vote of confidence from the entire lower house.

The Parties

Currently, India has hundreds of political parties registered (PDF) with the election commission, and of these seven are registered as national parties. The Indian National Congress and its rival the Bharatiya Janata Party are the largest among them.

Indian National Congress (INC): Formed in 1885, the INC or Congress Party, as it is popularly called, dominated the national movement for ending British rule. Since India gained independence in 1947, the Congress Party has formed most of India's governments. The party has been dominated by the Nehru-Gandhi family and currently is led by Sonia Gandhi, the wife of former Prime Minister Rajiv Gandhi and the daughter-in-law of former Prime Minister Indira Gandhi. Some analysts expect party leadership to eventually go to Sonia's son Rahul. The party led the ruling United Progressive Alliance (UPA) after the 2004 elections with Manmohan Singh as prime minister. Singh has been fielded as its 2009 prime ministerial candidate.

"Religion is part and parcel of Indian political life." – Sumit Ganguly, professor of political science, Indiana University.

Bharatiya Janata Party (BJP): Formed in 1980 from the remnants of previous Hindu political organizations, BJP has emerged as the main rival to the Congress party. This Hindu nationalist party first formed the national government in 1996 but failure to glean majority support in the lower house led to its ouster in just a fortnight. It returned to power in 1998 and led the ruling National Democratic Alliance (NDA) coalition with Prime Minister Atal Behari Vajpayee at the helm until 2004. The party's prime ministerial candidate for 2009 elections, Lal Krishna Advani, has been one of its most prominent hardliners. Advani led the 1990s campaign to destroy a sixteenth-century mosque in northern India, resulting in nationwide communal riots between Hindus and Muslims that took hundreds of lives.

Bahujan Samaj Party (BSP): Formed in 1984 to represent the lower castes such as Scheduled Castes (also known as Dalits), Scheduled Tribes, Other Backward Classes (OBCs), and the religious minorities, the party has been broadening its support base and fielding upper-caste and Muslim candidates in recent elections. Its leader Mayawati is the chief minister of the country's most populous state of Uttar Pradesh and has expressed ambitions to become a pan-Indian leader. Experts say Mayawati could play a crucial role in coalition negotiations and could even emerge as the country's first Dalit prime minister at the head of a "Third Front" alliance of communist and left-wing parties.

Communist Party of India (CPI): A socialist party formed in 1925, it enjoys varying degrees of support in the states of West Bengal, Kerala, Tripura, Manipur, and Tamil Nadu, and is currently led by General Secretary A. B. Bardhan. The party was dealt a severe blow by a split in 1964 that resulted in the formation of the Communist Party of India (Marxist). CPI, along with CPI (M), supported

the UPA ruling coalition until July 2008 when the two parties withdrew their support over the government's pursuit of a nuclear deal with the United States.

Communist Party of India (Marxist): CPI (M) emerged out of a division in the CPI in 1964 over ideological disagreements. Based on the principles of Marxism-Leninism, it has a strong presence in the states of West Bengal, Tripura, and Kerala. Its current general secretary is Prakash Karat.

Nationalist Congress Party (NCP): Primarily based in the state of Maharashtra, the party was formed in 1999 after some of the top Congress Party members broke away in protest at Sonia Gandhi's leadership. The party is led by Sharad Pawar, who has served as Maharashtra's chief minister and as agriculture minister under the Congress-led UPA that came to power in 2004.

Rashtriya Janata Dal (RJD): Formed in 1997 by Laloo Prasad Yadav, who split from another regional party, the Janata Dal, RJD is primarily based in the north Indian state of Bihar. Yadav became chief minister of Bihar in 1990 but was forced to step down in 1997 on corruption charges. He returned to power as the federal minister of railways in 2004 as part of the UPA. RJD is another caste-based party that says it represents lower-caste Hindus and also enjoys the support of large numbers of Muslims in Bihar. Besides the national parties, numerous regional movements play an important role in each state. While many of them have yet to make a name for themselves among the voters, experts say the influence of smaller regional parties has been growing steadily at a time when big national parties are declining. "Given that Indian states can be large and populous, the term 'regional' is something of a misnomer," writes (BBC) Indian historian Mahesh Rangarajan. For instance, he notes Uttar Pradesh, the most populous state, has 190 million people, rivalling the population of Brazil.

CFR's Senior Fellow Evan A. Feigenbaum, in a CFR.org interview, said the trend "has vast implications for the ability of a party to push through a national program once it enters the government." Guha adds that fractious multiparty-coalition politics offers "no meaningful reform." Rangarajan writes that in general, these regional parties lean more toward rural than urban voters. "Though not anti-reform, they would see welfare as contingent on more public action, not market forces," he argues. While result predictions for the Indian elections can be way off, most experts express little doubt that 2009 elections will bring in another coalition – Congress-led UPA, BJP-led NDA, or a Third Front alliance.

The Role of Caste

When universal adult suffrage offered all social groups, including previously disenfranchised ones, the right to vote, caste emerged as one of the most significant issues for political mobilization. This, political theorist Pratap Bhanu Mehta writes in the 2003 book *The Burden of Democracy*, was in part because caste was "an axis of domination and subordination in Indian society" and the state, by sanctioning categories of caste, provided the incentives to mobilize. But he argues it was also because "there were few other competing ideologies that allowed people to make sense of their social circumstances in the way caste did." However, caste politics in the last three decades have been marked by desire for power rather than a substantial agenda for social reform. Parties like BSP and RJD, which came to power by mobilizing lower castes, have failed to offer much in the way of good governance or long-term social transformation. Instead,

once some lower-caste groups have gained access to power, they have then sought to confine those privileges to their sub-caste. The problem, though, is not the salience of caste in Indian politics, but the failure to address its underlying causes and create new opportunities for marginalized groups, say some experts. "Unless the newly mobilized Dalit castes can be given access to the gains of the market economy, their prospects for social advancement remain dim," Mehta writes. Analysts note caste plays a lesser role in urban India, and with higher urbanization, its role in electoral politics might decline.

Playing the Religion Card

Many Indian historians date religion's role in Indian politics back to the colonial period and the 1909 British policy of establishing separate electorates based on religion. However, in the 1980s, several events worked to bring religion to the forefront of electoral politics, say experts: rising Sikh fundamentalism followed by anti-Sikh riots after the 1984 assassination of Prime Minister Indira Gandhi; Prime Minister Rajiv Gandhi's decision to support legislation that overturned a 1985 Supreme Court judgment to grant alimony to a Muslim woman, seen by many as capitulation to Muslim orthodoxy in an election year; and the rise of the BJP and its call to destroy the Babri mosque in Ayodhya. The dispute in Kashmir and several bloody Hindu-Muslim flare-ups in the last two decades have further divided people along religious lines.

Today, both the Hindus and the country's 170 million Muslims, the largest minority group, are courted energetically by political parties. "Religion is part and parcel of Indian political life," says Sumit Ganguly, a professor of political science at Indiana University. He says the BJP is the principal offender with its Hindutva agenda. But Congress is not free of culpability either, he argues. Regional actors such as Maharashtra's Shiv Sena further exploit religion to court voters. Ganguly says lack of leadership in upper echelons of the Muslim community exacerbates the problem. The Indian electorate has turned the standard law of political participation on its head. While it is clear that religion plays a significant role, it is less clear how it translates into voting behaviour. "Politically speaking, there is no single unified Muslim community in India," writes Yogendra Yadav (BBC), a political scientist who designed and coordinated the National Election Studies, the largest series of academic surveys of the Indian electorate, from 1996 to 2004. He argues that "Muslims are fragmented along the lines of religion, sect, caste, and community." Ganguly says economic issues are also intertwined with issues of religion and caste. Indian Muslims, who experience high poverty rates, voted for Congress for decades because of its secular platform and promised reforms. Unlike most minorities in most democracies around the world, Indian Muslims, Yadav says, have not voted for Muslim parties. Nor do they vote en bloc, "like, say, the black vote in the United States for the Democratic Party or the UK's ethnic minorities who largely vote for the Labour Party," he says.

References

- M.L. Ahuja: *Electoral Politics and General Elections in India (1952-1998)*, 1998.
- S.R. Sharma: *Major Issues in Indian Elections 1999*, 2000.
- Pankaj Saini: *Parliamentary Democracy and Political Change in India*, New Delhi, Alfa, 2009.
- Ram Nath Sharma, Yogendra K. Sharma and Rajendra K. Sharma: *India Votes Again: Manoeuvring Millennium Mandate*, 2000.

Good Governance–Concept and Practice

Raghwendra Kishore

Department of Political Science, College of Commerce, Patna

The term *governance* is increasingly used for a variety of concepts that generally have to do with government administration and decision making, but the concept of governance has a broader, more complex meaning. Governance can be applied to citizens who have legitimized an authority to govern or rule them in specific aspects of their social and economic lives. Governance can also be applied internally to an organization in the way it administers its policies and procedures and how it allocates resources. Governance is also used to describe the administration in other types of organizations such as private companies as in “corporate governance” or nonprofit organizations that use governing boards. In this article, I will use the term in the context of public governance or how the people are governed and how public services are delivered and administered.

Defining Governance

A dictionary definition of the word *governance* yields the following: The act, manner, function, or power of government. A little more clarity comes from the definition of the verb *to govern*: 1) to exercise authority over; rule; administer; direct, control, manage, etc., 2) to influence the action or conduct of; guide; sway.^[1] The dictionary identifies government as the venue for governance and focuses on the functions and power of government in administering its designated functions. But the role of government is changing from a direct provider of public services to a facilitator and coordinator of those services. Governance in this environment means the coordination and accountability of public services. Governance is a complex term that means more than the executive administration of government; it includes the idea that governance means direction and control and the efficient use of resources. Governance involves many different activities and a variety of actors rather than a single office or function. It includes stewardship and accountability and the involvement of multiple stakeholders. A review of the uses of the term reveals that governance refers to the legal, administrative, organizational, and political systems that are used in making decisions in the public interest.

Other Definitions of Governance

The planning, influencing and conducting of the policy and affairs of an organization.^[2] “rules, processes and behaviour that affect the way in which powers are exercised.... particularly as regards openness, participation, accountability, effectiveness and coherence”^[3] The set of authorities, processes, and procedures guiding strategic and key operational decisions made for the enterprise that is state government. It clarifies relationships and responsibilities among the entities making up the enterprise.^[4]

The method or system by which a legal entity is managed and governed. Governance refers to the process whereby elements in society wield power and authority, and influence and enact policies and decisions concerning public life, and economic and social development. Governance is a broader notion than government, whose principal elements include the constitution, legislature, executive and judiciary. Governance involves interaction between these formal institutions and those of civil society. Governance has no automatic normative connotation. However, typical criteria for assessing governance in a particular context might include the degree of legitimacy, representativeness, popular accountability and efficiency with which public affairs are conducted.^[5]

In nonprofit organizations and government agencies that are designed to provide public services and otherwise operate in the public interest, good governance involves the public good as a value in the provision of public services. Good governance at all levels is influenced by the values embedded in the organization which will change the nature of governance for each organization, but there are some recognized standards of good governance:

Participation

All men and women should have a voice in decision-making, either directly or through legitimate intermediate institutions that represent their interests. Such broad participation is built on freedom of association and speech, as well as capacities to participate constructively.

Rule of Law

Legal frameworks should be fair and enforced impartially, particularly the laws on human rights.

Transparency

Transparency is built on the free flow of information. Processes, institutions and information are directly accessible to those concerned with them, and enough information is provided to understand and monitor them.

Responsiveness

Institutions and processes try to serve all stakeholders.

Consensus Orientation

Good governance mediates differing interests to reach a broad consensus on what is in the best interests of the group and, where possible, on policies and procedures.

Equity

All men and women have opportunities to improve or maintain their well-being.

Effectiveness and Efficiency

Processes and institutions produce results that meet needs while making the best use of resources.

Accountability

Decision-makers in government, the private sector and civil society organizations are accountable to the public, as well as to institutional

stakeholders. This accountability differs depending on the organization and whether the decision is internal or external to an organization.

Strategic Vision

Leaders and the public have a broad and long-term perspective on good governance and human development, along with a sense of what is needed for such development. There is also an understanding of the historical, cultural and social complexities in which that perspective is grounded.^[6] Good governance has several characteristics in a variety of applications, but a review of the literature reveals three common themes. 1) Good governance involves the use of legitimate power and authority. 2) Good governance must be conducted with the administrative values of participation, transparency, responsiveness, equity, effectiveness, efficiency, and strategic vision. 3) Good governance must be responsive to the governed through substantive and procedural accountability measures.

The Authority to Govern

The earliest need for governance probably came about when a small group of individuals banded together to provide safety in numbers and later to provide other common goods and services in a more efficient way. Some method had to be created to make decisions about how these common goods would be coordinated and organized. Eventually, leaders who could be trusted and depended upon by the larger group would be designated to facilitate the provision of public services. The authority to govern would have been conferred by the people to leaders who would then make decisions on their behalf for the provision of public needs. As the people grew in number, institutions would be established to provide for the needs of the people; rules and laws would be created to codify the services provided and control how the people would be governed. Governance is the use of legitimate authority to provide for the common good including the application of rules and laws intended to regulate the socio-economic behavior of the public. Public institutions like the legislature, courts and executive offices have been established as legitimate authorities to govern the populations under their jurisdiction. Governance includes the functions of these institutions as well as the interaction of these entities with the public to create and implement public policy.

Governance as Administration

Governance is not limited to the formal political institutions authorized to make the rules and regulations for society; it also includes how the laws and rules are implemented. As administration, governance would include how those who govern manage the supporting functions of government including the traditional management functions of planning, organizing, directing, staffing, coordinating, reporting and budgeting (PODSCORB). As the role of government evolves toward facilitating the provision of public services through agents such as nonprofit and private sector organizations, the functions of government would also evolve.

Governance would include new functions such as contract management and program evaluation as well as new skills like negotiation, mediation and facilitation.

Accountability and Governance

With the realm of governance expanding to include all those who are involved in the provision and oversight of public services, the administrative obligation to ensure accountability and transparency are of increasing importance. Accountability in governance is accomplished through several means: compliance with laws; regulations and public policy; clear designation of the chain of responsibility leading ultimately to an elected official; and a clearly defined code of ethics for the executive and legislative branch including a neutral body to review ethical violations. Transparency in governance involves the open operation and administration of the governing body. Transparency should be the rule for decision making at all levels and in all participating organizations, the methods and resources used in governing, and an open evaluation of the outcomes of public policy in agencies and programs. The governing network should use valid performance measures to demonstrate to the governed their level of efficiency and effectiveness as they evaluate policies and programs.

References

1. Webster's New World Dictionary, Simon and Schuster.
2. Ohio State University, Project Management Framework.
3. Better Regulation Unit, Department of the Taoiseach, Dublin, Ireland.
4. State of Minnesota, Office of Enterprise Technology.
5. The Governance Working Group of the International Institute of Administrative Sciences 1996.
6. United Nations Development Programme, Governance for Sustainable Human Development, July 1997.

International Politics on Climate Change

Nitu Kumari

R.S., VKSU, Ara

Climate change is hitting the headlines with increasing frequency as temperatures edge higher and politicians around the globe scramble to respond with effective policies. The burden lies heavily on researchers to come up with new solutions that will help the world move to a low-carbon economy and reduce our reliance on fossil fuels. But how realistic is the task scientists have been set? With the interface between science and policy not always an easy one, do researchers have the support they need to find new solutions and help stave off dangerous climate change? 2009 has been widely touted as a make or break year for global efforts to tackle climate change. Global warming was high on the agenda at the recent meeting of the major economies in Italy, and December will see the hotly anticipated United Nations climate change conference in Copenhagen, at which international bodies will try to agree on an 'ambitious and effective' strategy to combat climate change. The United States is one of the world's greatest emitters of greenhouse gases; in 2007 the country generated over 7 billion tonnes of carbon dioxide equivalents. Following the nation's failure to ratify the Kyoto Protocol in 1997, and former president George W Bush's reluctance to commit to binding climate change measures, the recent change in US administration has been seen as hugely important in international negotiations on actions to tackle climate change. Robert Marlay, deputy director of climate change policy and technology at the US Department of Energy, believes the new administration has reinvigorated the country's attitude to climate change: 'With the change of administration the United States has embraced very ambitious goals and are willing to do everything within our means to move in that direction as rapidly as possible,' he told *Chemistry World*. 'There's a sense of urgency about bringing on new solutions that are affordable much more quickly and I think this is represented in discussions at the G8 and the Major Economies Forum.'

This renewed urgency has been welcomed by other major nations, including the UK-another major greenhouse gas emitter, generating over 600 million tonnes of carbon dioxide equivalents in 2008 with a population a fifth that of the US. 'We've now got a US administration which has got science and technology at the very highest level,' the UK's chief scientific adviser John Beddington told *Chemistry World*. And all the indications are that the Obama White House is taking climate change seriously and recognising the scientific evidence, he adds.

Back to Basics

Basic research plays a significant role in the US' proposals to tackle global warming. If passed as requested, the 2010 budget will devote around \$5.5 billion (£3.3 billion) to work on technologies and basic research to reduce greenhouse

gas emissions. 'Basic research is critical,' says Marlay. 'If we could simply engineer modest improvements to existing technologies we would have already done it.' Marlay's department sees the chemical sciences as a field that has a lot to offer in terms of developing new ways to reduce carbon dioxide emissions, specifically highlighting catalysis, photochemical energy conversion, electrical energy storage and electrochemical interfaces as potentially fruitful areas of research.

Energy storage is an area where Marlay believes basic research could help in the transition from petroleum-based transport to alternatives with a smaller carbon footprint. 'In basic research we have carbon nanotubes and graphene plates-both of these are atomic layer thicknesses which can attract electrons to their surfaces, and this would create an enormous surface in a small place,' he says. 'If that could be tapped in some way to become a super-ultra capacitor, that would possibly be a breakthrough in energy storage.' This emphasis on the importance of basic research is echoed by scientists. Daniel Zajfman, president of the Weizmann Institute of Science in Israel, warns that just because answers to the climate change problem are needed, doesn't mean they will be found-and argues that directing research is not the solution. 'Not a single politician ever stood on a podium and said "we need a revolution in electronics-let's discover the transistor,"' said Zajfman at a recent meeting on energy and environment in London, UK. 'These technologies were not born because we needed them or made a statement about their use-they were born out of curiosity, because scientists were looking at the basic behaviour of nature, trying to discover how it works.' 'We need to invest in scientific research at the most basic level, with the top people, and have more people going into science so more people can tackle these issues.'

Here and Now : Carbon capture and storage (CCS) is seen as a front-runner in terms of a relatively 'quick win' to start reducing greenhouse gas emissions, with pilot plants beginning to spring up around the world to bury carbon dioxide underground and prevent it escaping to the atmosphere. 'Development of photovoltaics, thin films and so on are real opportunities, but the be all and end all of technology is carbon capture and storage,' says Beddington. 'Coal is going to be used. We've got to work out ways of dealing with coal in a clean way, in a non-carbon emitting way, whether that's carbon capture and storage or other technologies.' Others, however, see CCS merely as a transition technology-one that should only be used in the short-term while researchers work to find entirely new sources of energy. Renowned chemist James Barber, who has spent many years uncovering the secrets of photosystem II (the mechanism by which plants use light to split water into oxygen, protons and electrons), believes new directions need to be considered as science grapples with the challenges of energy supply and climate change.

'Whatever we do in terms of efficiency saving, as the population of the world grows, the amount of energy required will double by the year 2050 or so,' Barber explains. Pumping carbon dioxide underground is 'a silly, primitive thing to do' in his eyes; new science is the way to truly tackle climate change. 'There is chemistry in the biological world that captures carbon dioxide

and turns it back into high energy carbon-based compounds,' says Barber. 'We must invest in basic research to develop the catalytic systems to be able to get into a cyclic process of converting the CO₂ that we generate back into carbon rich compounds.'

Two Degrees of Freedom

In 2007 the Intergovernmental Panel on Climate Change (IPCC) recommended that global warming be kept to no more than 2°C above pre-industrial temperatures (that's around 1.2°C higher than today) to avoid dangerous consequences from climate change. This figure, however, is already being questioned, as the latest evidence suggests that it simply won't be enough to curb the effects of global warming.. 'You're seeing it in terms of CO₂ emissions, the decline of the Greenland ice caps, the decline of Arctic sea ice,' says Beddington. The IPCC report included data through to 2004; the picture painted by more recent data is, if anything, worse, he says. Marlay, however, thinks the 2°C target will be hard enough to achieve, let alone any stricter limits. 'If you look at all that we know today it would seem to be a very challenging target that perhaps is beyond our means from an affordability point of view,' he says. 'On the other hand, the consequences appear to be very large, which would justify a major investment.' But Marlay does remain optimistic about the potential of science to turn the game around. 'Research and development can have breakthroughs that change paradigms,' he says. 'If we had some really good work in the next five or ten years, there would be enough time to deploy that technology in such a way that we could accelerate the reduction of emissions very rapidly.'

Upping the Pressure

While climate change is undoubtedly high on the agenda, it will be at the United Nations meeting in Copenhagen later this year that all the talk will have to be converted to action. It is here that a deal of historic significance will (hopefully) be thrashed out over two weeks as representatives from 192 countries around the globe put together a successor to the Kyoto Protocol. The global nature of the climate change offers both opportunities and challenges. The US, for example, is keen to establish international cooperation and collaboration in climate change research, says Marlay. But developing countries are in a very different position to the developed nations, and have different outlooks and priorities that could prove a significant sticking point in Copenhagen. 'The developed world has had the benefit of using fossil fuels over a long period of time, and the developing world has not,' explains Beddington. 'There are therefore equity problems which have the potential for presenting real problems [in Copenhagen]. India and China particularly are so large and are producing so much greenhouse gas that there needs to be some mechanism which is satisfactory to all parties.' The pressure on those sitting around the table in December is sizeable-their actions will dictate the extent of the damage the world avoids-and suffers-as a result of climate change. But it is those further down the chain, in the labs and research institutes around the world, who will be working on the practical solutions that the world needs to adapt and survive

in the face of climate change. 'This is probably one of the most exciting times to work in research-you have enormous support from national governments, from international regimes, from the population in general,' says Marlay. 'It may be awkward for people to think about making sacrifices [in the face of climate change], but it's inspiring to think about what technology can do to help.'

Reference

- World Encyclopaedia of Global Warming and Climate Change: Priya Ranjan Trivedi and Madan Lal Dewan, Jnanada Prakashan, 2008.
- International Encyclopaedia of Global Warming and Climate Change: V S Sunil, Anmol, 2008
- Climate Change and International Politics : Narottam Gaan, Kalpaz, 2008.

Challenges to the Impartiality of State Supreme Courts: Legitimacy Theory and “New-Style” Judicial Campaigns in America

Ibrat Adnan

LLB, LLM, Patna University

In 2002, the United States Supreme Court ruled that candidates for judicial offices, including incumbent judges, have free-speech rights that allow them to make policy statements during their campaigns (*Republican Party of Minnesota v. White*, 2002; see also the subsequent Court of Appeals decision: *Republican Party of Minnesota v. White*, 2005). This decision has caused considerable consternation within the legal community, including among many legal scholars, based on the fear that this newly announced judicial right will undermine perceptions within the public at large of the fairness and impartiality of courts. The assumption seems to be that what candidates for judicial offices say during their campaigns can cause fundamental disruptions in how citizens view and evaluate judicial institutions. If so, then this is a very high price to pay for extending these speech rights to judicial candidates. As the dissenters in the Supreme Court argued:

Prohibiting a judicial candidate from pledging or promising certain results if elected directly promotes the State's interest in preserving public faith in the bench. When a candidate makes such a promise during a campaign, the public will no doubt perceive that she is doing so in the hope of garnering votes. And the public will in turn likely conclude that when the candidate decides an issue in accord with that promise, she does so at least in part to discharge her undertaking to the voters in the previous election and to prevent voter abandonment in the next. Although judicial candidates are not now permitted *every* type of speech (promises about how one would rule in specific cases are legitimately proscribed, at least at the moment), this Supreme Court decision has opened the door to freewheeling discussions of policy issues by both incumbents and challengers for judicial offices. Consequently, many believe that judicial elections now focus on judges' ideologies and judicial policy making to a far greater degree than in the past.

At the same time, interest groups and legal activists have become increasingly desirous of influencing the outcomes of state judicial elections. Their interest in state courts stems partly from the relative inactivity of the U.S. Supreme Court (which now issues fewer than 100 full opinions per year) and

partly from the realization that policies made by state courts can have enormous economic, political, and social consequences (e.g., so-called tort reform). As a result, we have witnessed in the last few years an unprecedented injection of money into state judicial elections. The confluence of broadened freedom for judges to speak out on issues, the increasing importance of state judicial policies, and the infusion of money into judicial campaigns have produced what may be described as the “Perfect Storm” of judicial elections. This storm is radically reshaping the atmosphere of state judicial elections, as it gathers strength and spreads throughout the nation.

No better illustration of this phenomenon can be found than in the judicial elections of 2004. According to the Brennan Center at New York University Law School, candidates spent an all-time high of \$24 million on advertising in state supreme court elections in 2004, a dramatic increase of almost 20% compared with 2000 (Goldberg et al. 2005). A total of 180 ads was produced, with 42,249 airings in 15 states. This sort of campaign effort seems to be becoming increasingly common in the American states.

With this new style of free-for-all judicial elections has come a blizzard of commentaries on the likelihood of dire consequences flowing from the politicization of state courts. Many commentators fear the worst, arguing that the very legitimacy of the legal system may be eroded as people come to see law and courts as little more than ordinary political institutions and therefore worthy of their contempt and disrespect. Indeed, the original justification for Minnesota’s prohibition on campaign speech was precisely the state’s desire to protect the legitimacy of its judiciary. Minnesota contended that legitimacy requires the appearance of impartiality, that the appearance of partiality can undermine the confidence citizens have in their courts (legitimacy), and that legitimacy is crucial to the effective functioning of courts. Alarm bells are being sounded throughout the United States, announcing the imminent demise of legitimacy in the country’s elected state courts.

To date, however, no rigorous evidence has been produced (one way or the other) on whether policy statements made during campaigns actually have any consequences at all for perceptions of judicial impartiality. Voters who want to vote on the basis of issues, for instance, are unlikely to be off-put by hearing about the policy views of judicial candidates. Others may distinguish between general statements of policy preferences and specific prejudgments of individual cases. Indeed, permitting policy debates may have useful consequences, such as allowing citizens to base their voting decisions on more rational criteria. And whatever diminished impartiality courts and judges may suffer from today may be due to factors other than policy commitments, such as the use of attack ads and conflicts of interests generated by campaign contributions from litigants, or both. We simply do not know what effect the Supreme Court’s ruling will have on elected judiciaries.

We do, however, know something about how citizens perceive judicial impartiality and, more generally, procedural fairness. This well-developed body of theory has demonstrated that impartiality is a crucial component of perceived fairness. According to Tyler (2001, 422; see also Tyler 2006), when people assess

the procedural fairness of institutions, they are “especially influenced by evidence of even-handedness, factuality, and the lack of bias or favoritism (neutrality)” —in short, by impartiality. Moreover, Hibbing and Theiss-Morse (2002) claim that it is precisely the perception that members of Congress make their political decisions on the basis of partial (e.g., self-interested) criteria that threatens the legitimacy of that institution. In the judicial case, it seems highly likely that campaign contributions from those who litigate cases before a judge generate at least the appearance of self-interested partiality and procedural unfairness. Declaring a policy view in a campaign statement may also impugn procedural fairness by implying ideological bias and the unwillingness to judge each case on its own merits. Even the use of so-called attack ads can threaten perceived impartiality by portraying candidates for judicial offices as nothing more than ordinary politicians —in bed with special interest groups, supremely self-interested, and motivated by politics and partisanship, not law and legality. Thus, the current debate over the campaign tactics of judges maps neatly onto theories addressing institutional legitimacy, impartiality, and procedural justice, and the effects of campaigns on the attitudes, beliefs, and expectations of ordinary people.

References

- American Association for Public Opinion Research. 2000. Standard Definitions: Final Dispositions of Case Codes and Outcome Rates for Surveys. Ann Arbor, MI: AAPOR.
- Ansolabehere, Stephen, and Iyengar, Shanto. 1995. *Going Negative: How Political Advertisements Shrink and Polarize the Electorate*. New York: The Free Press.
- Aronson, Elliot, Ellsworth, Phoebe C., Carlsmith, J. Merrill, and Gonzales, Marti Hope. 1990. *Methods of Research in Social Psychology*. 2nd ed. New York: McGraw-Hill.
- Banner, Stephen. 1988. “Disqualifying Elected Judges from Cases Involving Campaign Contributors.” *Stanford Law Review* 40 (January): 449–90.

Systemic Politics and the Origins of Great Power Conflict

Dr. Rajesh Kumar Pandey

Department of Political Science, Jai Prakash College, Ara

Systems, State Activity, and Conflict

Systemic Politics

In systemic international relations theory, that which distinguishes the characteristics of individual states from the characteristics of the structure of the system is the distributional nature of the latter. Waltz (1979, 98) makes this argument explicitly when arguing that the balance of power is an attribute of system structure. Buzan, Jones, and Little follow the same logic while questioning power's pride of place; and Wendt bases his systemic theory on a different distribution entirely—the distribution of ideas.

Explaining the relationship between these distributions and the major actors in the system, however, is far from trivial. In Wendt's depiction, agents and "micro-structures" constitute one another, but neither determines macro-structural outcomes like distributions of power.

Waltz's structures "limit and mold agents and agencies and point them in ways that tend toward a common quality of outcomes even though the efforts and aims of agents and agencies vary" —but agents play virtually no role, either in determining their own fates or in altering any aspect of the system within which they act.

The basic model that I use to bridge this gap is straightforward and, I hope, relatively uncontroversial. First, I argue that each state's constituency—those citizens capable, by virtue of the state's form of government, of exerting selection pressure on the leadership—has a *worldview* that determines its goals in the security arena. Those goals will determine how the state's constituency will react to the condition of the international system at a given time. Imperialists without empire will demand action; by contrast, ideologues whose belief system has taken over the world will demand none. Worldviews determine interests, the combination of interests and the state of the structure of the system determine preferences, and preferences determine the magnitude of the demands for action that are placed on the leadership by its constituency.

Next, the demands of the constituency are aggregated by the state's political system, that is, the government. Again, this should be a relatively uncontroversial statement: the aggregation of preferences is a large part of what governments are designed to do. The process of aggregation sometimes results in a process of distortion as well, so that the preferences of the few (or the one) can come to outweigh the preferences of the many, but this need not be the case. The details

of this process of aggregation vary from one government to the next; nevertheless, it can be shown that under a relatively unrestrictive set of assumptions policy will be driven toward the ideal point of the average constituent.

Political leaders receive their constituencies' demands and act on them, and their actions have repercussions in the structure of the international system. Because leaders usually hope to retain office for themselves or for their parties, they typically stray little from the path laid out by their constituencies (although they do try to influence the direction of that path).

Because policies are substitutable, attempts to associate activity with the pursuit of a particular policy or policies runs a serious risk of mismeasurement. Unilateral states, even very active ones, do not ally. Multilateral states may or may not; the actual piece of paper is often a mere formality. Neutral states are on the whole less likely to involve themselves in ways which imply taking sides, though they are not necessarily more or less likely to become involved in other ways, and alliances and interventions do not necessarily imply taking sides. A state's security-related activity cannot be recognized by the particular form that activity takes.

Therefore, the concept of a state's security-related activity will be used here in a way that is both precise and intentionally nonspecific: it denotes any form of state activity designed to increase national security. Very inactive states correspond to what is conventionally understood as isolationist states; very active states can be thought of as either hyperactive or aggressive.

This understanding avoids some of the difficulties mentioned previously—by avoiding specific references to alliances, for example, it avoids miscategorizing unilateralist states as inactive because of their avoidance of alliances. At the same time, it does a better job of capturing the more general sorts of behaviour that are discussed by theorists than do individual measures like arms expenditures or alliance formation.

Finally, the actions of the various states change the distributions (such as the balances of latent power and of ideology) that constitute the structure of the international system. Because the result of the states' actions may make the citizens of some states more satisfied and the citizens of other states less satisfied than they had been previously, a change in the structure of the international system has an impact on the desires of each state's citizenry—and the cycle begins anew.

This is an example of a partial adjustment model—that is, one in which policy makers make partial, retrospective adjustments toward an optimal state rather than look down the line, anticipating everyone else's present and future information and adjustments, and trying to move the system immediately to an optimal state, as they are hypothesized to do in the rational expectations literature. There are two theoretical reasons, in this case, to believe that a retrospective, partial adjustment framework is an appropriate theoretical foundation for a systemic model of international politics.

First, the players are uncertain about the exact nature of the model and the values of the parameters, so they prefer not to gamble on one of a wide range of outcomes that might occur.

Second, adjustment is far from costless: in contrast to domestic economic policy models in which, for example, the American Federal Reserve can simply change interest rates by fiat and is insulated from the political costs of doing so, adjustment of the balance of power or the distribution of political ideologies is typically a very costly business. Under these conditions, partial adjustment *is* rational. These arguments lead directly to a general-equilibrium formal model, which in turn leads to an estimable system of error-correction equations, both of which are described in the Appendix.

The model is applied to the politics of the Vienna system, so I turn now to a brief discussion of the main features of that system.

The Structure of the Vienna System

European international relations in the period between the Napoleonic Wars and World War I consisted, broadly speaking, of activity on two levels. The first had to do with everyday interactive politics—commercial interactions, territorial disputes, imperial rivalries, and so on.

The second level was regulatory: it was a form of international society (Bull 1977) that differed from that of the previous century in that it sought to ensure security for all, rather than for each, by instituting a system of consultation and collaboration with the explicit goal of the prevention of major war. Schroeder (1994) argues that this change, realized in the Treaty of Vienna, constituted a fundamental “transformation” in European politics.

Regulatory politics took two forms in this period. The first was based on the notion that war could be prevented if countries could be rendered unable to profit from it. Accordingly, regulation was to be accomplished by maintaining the balance of power. The balance of power had two main incarnations: the *static* version of balance-of-power theory emphasized equality of capabilities among units, whereas the *dynamic* version of balance-of-power theory emphasized equality of capabilities among coalitions.

To the believers in the static version, “balance of power” was a noun: if the capabilities of states could be made equal, the balance would deter aggression. To those desiring a dynamic balance, “balance of power” was a verb: the proper way of dealing with a threat was to balance against it. Regardless of the form of balance sought, the emphasis was on the distribution of material capabilities of the Great Powers; believers in a dynamic balance could afford a considerably greater variance in that distribution than could advocates of a static balance, for obvious reasons.

A second regulatory mechanism focused on shared conservative (or “legitimist”) values as a guarantor of peace. The logic was fairly straightforward: the French revolution, based on liberty and constitutionalism, had snowballed into a general war of immense proportions.

Future revolutions of the same sort could therefore not be trusted, so the best guarantor of peace was continued conservative rule. Whereas the balance of power focused mainly on opportunity, this mechanism focused primarily on willingness. Kissinger neatly captures the essence of the distinction when he writes that “[t]he balance of power inhibits the *capacity* to overthrow the

international order; agreement on shared values inhibits the *desire* to overthrow the international order." Here, the emphasis was not on capabilities; rather it was on the form of government: liberalism and liberalization were seen as the most serious threats to the peace.

The Great Powers quite explicitly attempted to manage the international system by manipulating these two dimensions—the balance of power and the “balance of ideology,” or the extent to which liberal government had spread throughout the continent. Doing so inevitably generated disagreements and friction with other Great Powers. The following section explains two perspectives on how, and when, those frictions produced conflict.

The Origins of Conflict

Conflict, here, is conceptualized as the breakdown of general deterrence. General deterrence obtains when a state that might otherwise consider attacking another state refrains from going beyond a preliminary consideration of doing so because of the threat posed by the potential defender. The existence of a crisis, or of a militarized interstate dispute, indicates that general deterrence has failed and a conflict, which may or may not escalate to war, has begun. (By contrast, escalation of a crisis or dispute to war indicates that *immediate* deterrence—which is not the subject of the present article—has failed as well.)

Because the systemic theory described previously makes point predictions about levels of state activity, it can be used as the first stage in a model that predicts conflict based on levels of activity.

The methodological advantage to this approach is the avoidance of endogeneity bias; the theoretical advantage is that it allows for a unified theory of conflict that flows naturally from a systemic theory of international politics.

References

- Achen, Christopher H. 2002. "Toward a New Political Methodology: Microfoundations and ART." *Annual Review of Political Science* 5, 423–50.
- Achen, Christopher H. and Snidal, Duncan. 1989. "Rational Deterrence Theory and Comparative Case Studies." *World Politics* 41 (2): 144–69.
- Alvarez, R. Michael and Glasgow, Garrett. 1999. "Two-Stage Estimation of Nonrecursive Choice Models." *Political Analysis* 8 (Spring): 147–65.
- Attfield, C. L. R, Demery, D., and Duck, N. W.. 1991. *Rational Expectations in Economics*. Cambridge, MA: Blackwell.
- Axelrod, Robert. 1984. *The Evolution of Cooperation*. New York: Basic Books.
- Beck, Nathaniel, King, Gary, and Zeng, Langche. 2004. "Theory and Evidence in International Conflict: A Response to de Marchi, Gelpi, and Grynaviski." *American Political Science Review* 98 (June), 379–89.
- Benoit, Kenneth and Laver, Michael. 2007. "Estimating party policy positions: Comparing expert surveys and hand-coded content analysis." *Electoral Studies* 26 (March): 90–107.
- Brainard, William C. 1967. "Uncertainty and the Effectiveness of Policy." *The American Economic Review* 57 (June), 411–25.

Globalization and its Impact

Dr. Vidyapati Gautam

Director (P.R.), Dau Dayal Mahila College, Firozabad, U.P.

Globalization (or globalisation) in its literal sense is the process of transformation of local or regional phenomena into global ones. It can be described as a process of blending or homogenization by which the people of the world are unified into a single society and function together. This process is a combination of economic, technological, sociocultural and political forces. Globalization is often used to refer to economic globalization, that is, integration of national economies into the international economy through trade, foreign direct investment, capital flows, migration, and the spread of technology.

Tom G. Palmer of the Cato Institute defines “globalization” as “the diminution or elimination of state-enforced restrictions on exchanges across borders and the increasingly integrated and complex global system of production and exchange that has emerged as a result.”

Thomas L. Friedman “examines the impact of the ‘fattening’ of the globe”, and argues that globalized trade, outsourcing, supply-chaining, and political forces have changed the world permanently, for both better and worse. He also argues that the pace of globalization is quickening and will continue to have a growing impact on business organization and practice.

Noam Chomsky argues that the word globalization is also used, in a doctrinal sense, to describe the neoliberal form of economic globalization.

Herman E. Daly argues that sometimes the terms internationalization and globalization are used interchangeably but there is a slight formal difference. The term “internationalization” refers to the importance of international trade, relations, treaties etc. International means between or among nations.

The term “globalization” has been used by economists since the 1980s although it was used in social sciences in the 1960s; however, its concepts did not become popular until the latter half of the 1980s and 1990s. The earliest written theoretical concepts of globalization were penned by an American entrepreneur-turned-minister Charles Taze Russell who coined the term ‘corporate giants’ in 1897.

Globalization is viewed as a centuries long process, tracking the expansion of human population and the growth of civilization, that has accelerated dramatically in the past 50 years. Early forms of globalization existed during the Roman Empire, the Parthian empire, and the Han Dynasty, when the Silk Road started in China, reached the boundaries of the Parthian empire, and continued onwards towards Rome. The Islamic Golden Age is also an example, when Muslim traders and explorers established an early global economy across the Old World resulting in a globalization of crops, trade, knowledge and technology; and later during the Mongol Empire, when there was greater integration along the Silk Road. Globalization in a wider context began shortly before the turn of the 16th century, with two Kingdoms of the Iberian Peninsula

- the Kingdom of Portugal and the Kingdom of Castile. Portugal's global explorations in the 16th century, especially, linked continents, economies and cultures to a massive extent. Portugal's exploration and trade with most of the coast of Africa, Eastern South America, and Southern and Eastern Asia, was the first major trade based form of globalization. A wave of global trade, colonization, and enculturation reached all corners of the world. Global integration continued through the expansion of European trade in the 16th and 17th centuries, when the Portuguese and Spanish Empires colonized the Americas, followed eventually by France and Britain. Globalization has had a tremendous impact on cultures, particularly indigenous cultures, around the world. In the 17th century, globalization became a business phenomenon when the British East India Company (founded in 1600), which is often described as the first multinational corporation, was established, as well as the Dutch East India Company (founded in 1602) and the Portuguese East India Company (founded in 1628). In the 15th century, Portugal's Company of Guinea was one of the first chartered commercial companies established by Europeans in other continent during the Age of Discovery, whose task was to deal with the spices and to fix the prices of the goods. Because of the high risks involved with international trade, the British East India Company became the first company in the world to share risk and enable joint ownership of companies through the issuance of shares of stock: an important driver for globalization. Globalization was achieved by the British Empire (the largest empire in history) due to its sheer size and power. British ideals and culture were imposed on other nations during this period.

The 19th century is sometimes called "The First Era of Globalization." It was a period characterized by rapid growth in international trade and investment between the European imperial powers, their colonies, and, later, the United States. It was in this period that areas of sub-saharan Africa and the Island Pacific were incorporated into the world system. The "First Era of Globalization" began to break down at the beginning of the 20th century with the first World War. Said John Maynard Keynes, The "First Era of Globalization" later collapsed during the gold standard crisis in the late 1920s and early 1930s.

Modern Globalization

Globalization, since World War II, is largely the result of planning by economists, business interests, and politicians who recognized the costs associated with protectionism and declining international economic integration. Their work led to the Bretton Woods conference and the founding of several international institutions intended to oversee the renewed processes of globalization, promoting growth and managing adverse consequences.

These institutions include the International Bank for Reconstruction and Development (the World Bank), and the International Monetary Fund. Globalization has been facilitated by advances in technology which have reduced the costs of trade, and trade negotiation rounds, originally under the auspices of the General Agreement on Tariffs and Trade (GATT), which led to a series of agreements to remove restrictions on free trade. Since World War II, barriers to international trade have been considerably lowered through international

agreements - GATT. Particular initiatives carried out as a result of GATT and the World Trade Organization (WTO).

Effects of Globalization

Globalization has various aspects which affect the world in several different ways such as:

Industrial - emergence of worldwide production markets and broader access to a range of foreign products for consumers and companies. Particularly movement of material and goods between and within national boundaries.

Financial - emergence of worldwide financial markets and better access to external financing for borrowers. Simultaneous though not necessarily purely globalist is the emergence of under or un-regulated foreign exchange and speculative markets.

Economic - realization of a global common market, based on the freedom of exchange of goods and capital.

Political - some use "globalization" to mean the creation of a world government, or cartels of governments (e.g. WTO, World Bank, and IMF) which regulate the relationships among governments and guarantees the rights arising from social and economic globalization. Politically, the United States has enjoyed a position of power among the world powers; in part because of its strong and wealthy economy. With the influence of globalization and with the help of The United States' own economy, the People's Republic of China has experienced some tremendous growth within the past decade. If China continues to grow at the rate projected by the trends, then it is very likely that in the next twenty years, there will be a major reallocation of power among the world leaders. China will have enough wealth, industry, and technology to rival the United States for the position of leading world power. .

Informational - increase in information flows between geographically remote locations. Arguably this is a technological change with the advent of fibre optic communications, satellites, and increased availability of telephony and Internet.

Language - the most popular language is English .

- About 75% of the world's mail, telexes, and cables are in English.
- Approximately 60% of the world's radio programs are in English.
- About 90% of all Internet traffic uses English.

Competition - Survival in the new global business market calls for improved productivity and increased competition. Due to the market became worldwide not specific area, there are many industries around the world. Industries have to upgrade their products and use technology skillfully for facing the competition and increasing their competitive.

Cultural - growth of cross-cultural contacts; advent of new categories of consciousness and identities which embodies cultural diffusion, the desire to increase one's standard of living and enjoy foreign products and ideas, adopt new technology and practices, and participate in a "world culture". Some bemoan the resulting consumerism and loss of languages. Also see Transformation of culture.

Ecological- the advent of global environmental challenges that might be solved with international cooperation, such as climate change, cross-boundary

water and air pollution, over-fishing of the ocean, and the spread of invasive species. Since many factories are built in developing countries with less environmental regulation, globalism and free trade may increase pollution. On the other hand, economic development historically required a “dirty” industrial stage, and it is argued that developing countries should not, via regulation, be prohibited from increasing their standard of living.

Social (International cultural exchange) - increased circulation by people of all nations with fewer restrictions.

References

1. Sheila L. Croucher. *Globalization and Belonging: The Politics of Identity a Changing World*. Rowman & Littlefield. (2004). p.10
2. Bhagwati, Jagdish (2004). *In Defense of Globalization*. Oxford, New York: Oxford University Press.
3. Globalization Is Grrreat! by Tom G. Palmer, Senior Fellow, Cato Institute
4. Friedman, Thomas L. “The Dell Theory of Conflict Prevention.” *Emergin: A Reader*. Ed. Barclay Barrios. Boston: Bedford, St. Martins, 2008. 49
5. Axel Dreher, Noel Gaston, Pim Martens, *Measuring Globalisation: Gauging Its Consequences*, Springer, ISBN 978-0-387-74067-6.
6. KOF Index of Globalization
7. Stipo, Francesco. *World Federalist Manifesto. Guide to Political Globalization*, ISBN 978-0-9794679-2-9
8. Hurst E. Charles. *Social Inequality: Forms, it makes people weird, and consequences*, 6th ed. P.91
9. http://www.answerbag.com/q_view/53199
10. <http://workinfontet.bc.ca/lmisi/Making/CHAPTER2/TANDG1.HTM>
11. <http://www1.worldbank.org/economicpolicy/globalization/index.html>
12. The Economist, article on Venezuela
13. <http://www.globalexchange.org/campaigns/sweatshops/nike/faq.html>
14. <http://www.educatingforjustice.org/stopnikesweatshops.htm>
15. Terry Flew. *Ten Key Contemporary New Media Theorist*. 2008. P 78
16. Sachs, Jeffrey (2005). *The End of Poverty*. New York, New York: The Penguin Press. 1-59420-045-9.
17. “World Bank, Poverty Rates, 1981 - 2002”. Retrieved on 2007-06-04.
18. “How Have the World’s Poorest Fared Since the Early 1980s?” by Shaohua Chen and Martin Ravallion.
19. Michel Chossudovsky, “Global Falsehoods”
20. Charles Kenny, Why Are We Worried About Income? Nearly Everything that Matters is Converging, *World Development*, Volume 33, Issue 1, January 2005, Pages 1-19
21. 2005 UNESCO report
22. No Logo: No Space, No Choice, No Jobs, Naomi Klein.
23. Morris, Douglas “Globalization and Media Democracy: The Case of Indymedia”, *Shaping the Network Society*, MIT Press 2003. Courtesy link to(pre-publication version)
24. Podobnik, Bruce, *Resistance to Globalization: Cycles and Evolutions in the Globalization Protest Movement*, p. 2.
25. Stiglitz, Joseph & Charlton *Fair Trade for All: How Trade Can Promote Development*. 2005 p. 54 n. 23

Effect of Familial factors on Achievement Motivation among Adolescents

Dr. S.M. Bakhteyar Fatmi

*Assistant Professor, Department of Psychology,
Oriental College, Patna (Bihar)*

The present study was conducted on a sample of 446 tribal and non-tribal high school adolescents to examine the effect of family type (single or joint) and the ordinal position (first order, middle order and last order) on achievement motivation. Informations regarding the family structure variables were collected through Personal and Family Data Sheet and the achievement motivation was measured by using Mukherjee's Sentence Completion Test. It was hypothesized that the children from single families and the first order would stand high on achievement motivation than their counterparts. By and large, the results failed to support the hypothesis of the study as no significant impact of family type and birth order was found in the study.

Alongside the studies on the origins of achievement motivation research interest grew to study the relationship of several familial factors to motivation development. In many of these studies the socialization process and socialization agents have received ample attention. The family variables and their relevance to motivation development in children is reported among others by Norman (1968), Aurora (1999) and Swell and Shah (1988). Parental values like emphasis upon standards of excellence in achievement of children and actual parental involvement in children's performance are reported as determining forces in achievement training of children (Rosen, 1955). In a recent study conducted in India by Kaur and Devgan (2001), it was found that maternal love was associated with good achievement motivation while maternal rejection was associated with poor achievement motivation. Also related to achievement motivation development in children are the demographic factors – family size, ordinal position, mother's age and social class. Roy (1995) found all these factors relevant to the development of achievement motivation in children, but he thinks that their effects are complicated, interconnected and interdependent upon one another, and difficult to assess individually. According to him, in small middle class families, for example the effect of ordinal position seems to be relatively unimportant: the oldest and youngest child in a two-child middle class family have almost identical motivation scores, but as the size of the family increases the scores for the oldest child in the middle class become higher than those for the youngest child. However, in the lower class the reverse is true: the youngest child has a higher achievement motivation score on the average than the oldest child- a position that is maintained even when the size of the family increases. Similarly the effect of mother's age upon the child's achievement motivation varies with the size of her family and social class.

Impact of the factors related to family structure, such as, broken homes, parent's age, family size, birth order of the children on their achievement motivation have been reported by Falbo (1981), Falbo and Richman (1979), Hunt and Hunt (1977), Sauer and Wildbichler (1997). However, the solitary Indian study reviewed here (Hassan, 2009) has failed to indicate any clear cut relationship between birth order and achievement motivation and this has led to the present investigation.

Purpose and Hypotheses

The present study was aimed at examining the influence of the different familial factors on the achievement of the subjects. In this connection, the various research findings on the role of the familial factors in the development of achievement motivation were reviewed and the following hypotheses were formulated for the two familial factors namely, the family type and ordinal position of the adolescents separately.

- (i) It was hypothesized that the type of the family of the students will have a specific and distinct impact on their achievement motivation. The subjects from the single families would stand high on the achievement motivation than the subjects from the joint families.
- (ii) It was also hypothesized that the students having different ordinal positions (by birth) will have different amount of achievement motivation. It was further expected that the first order children would exhibit greater amount of achievement motivation than the middle order or last order children.

Methods

(a) Sample

The sample for the present study was drawn from tribal (N=220) as well as non-tribal (N=226) communities. The subjects were selected from high schools of Hazaribagh district in Jharkhand which has a mixed population of tribal and non-tribal communities.

(b) Tests used

In the present study, two tests were used for the collection of data. The Personal and Family Data Sheet was used to obtain information regarding the personal and family background factors of the subjects. The Sentence Completion Test developed by Mukherjee (1965) was used to measure the degree of achievement motivation in the subjects.

Results and Discussion

The above description reveal that two different familial factors were taken up for investigation. These two variables are (1) family type and (2) Ordinal position of the child. The tribal and the non-tribal subjects were classified into two family types (single and joint family) on the basis of the informations obtained in respect of their family make up with the help of Personal and Family Data Sheet. The data obtained on the achievement motivation was analysed against the family type background of the subjects and were analysed and the following results have been obtained.]

(1) Family type and Achievement Motivation: In order to test the first hypothesis, the subjects were first divided into the familial factors and then mean and SD were obtained for their achievement motivation scores. The significance of difference between the two family type groups was determined by using the t-test. The obtained results are presented in Table-1.

Table-1: Significance of difference between the subjects of different family types with respect to achievement motivation.

Racial Groups	Family-Type	N	Mean	SD	t-ratio	p-value
Tribal	Single	159	17.20	5.88	0.81	NS
	Joint	61	16.50	5.65		
Non-tribal	Single	178	20.16	4.69	2.26	<.05
	Joint	48	18.12	5.77		

It is evident from Table 1 that there is insignificant difference in case of the tribal subjects coming from single and joint families. Though the subjects from the single families have scored slightly higher on achievement motivation than the subjects from the joint families but the obtained t-ratio is statistically insignificant ($t = 0.81$; NS). When the subjects from non-tribal communities were examined, it was found that the subjects from the single families have scored significantly higher on achievement motivation than the subjects from the joint families ($t = 2.26$; $<.05$). These findings extend partial support to the hypothesis of the study but the trend and direction of the data obtained suggest that the subjects from the single families are usually higher on achievement motivation.

The second family structure variable, the impact of which was to be seen, is the ordinal position of the students. The impact of this factor on achievement motivation was examined by classifying the children into three ordinal positions, namely- first order, middle order and last order. The differences among the three groups of subjects were examined on achievement motivation. The obtained results are presented and discussed ahead.

(2) Ordinal Position and Achievement motivation: In order to test the second hypothesis of the study the mean achievement motivation scores of the subjects of the different ordinal positions calculated and the t-test was applied to test the significance of differences between the subjects. The obtained results are presented in Table-2.

Table-2: Significance of difference between the subjects of different ordinal positions with respect to achievement motivation.

Racial Groups	Ordinal Position	N	Mean	SD	t-between	t-ratio	p-value
Tribal	First order (a)	46	15.95	5.21	a&b	0.75	NS
	Mid Order (b)	106	16.67	6.02	a&c	2.06	<.05
	Last Order (c)	68	17.98	5.11	b&c	1.54	NS
Non-tribal	First order (a)	55	18.60	6.13	a&b	0.64	NS
	Mid Order (b)	98	19.22	4.99	a&c	0.95	NS
	Last Order (c)	73	19.55	4.86	b&c	0.43	NS

Table-2 indicates that there is no significant difference between the children of different ordinal positions with respect to their achievement motivation with an exception in case of first order and last order children from the tribal group in whose significant difference has been obtained ($t=2.06$; $< .05$). All the remaining t-ratios are quite insignificant. Even the trend of data is also not in line with the hypothesis of the study. Contrary to the expectation the last order children from both the tribal and non-tribal groups have a tendency to score slightly-higher than the middle order or first order children but the lack of significant difference between the means makes it difficult to draw any difference. The problem needs further investigation.

Conclusion

On the basis of the findings of the study mentioned above, it can be concluded that the children coming from single type of families have higher level of need achievement than the children coming from the joint families of non-tribal communities. On the contrary the impact of family type on the level of need achievement is significant in case of tribal children. Similarly the impact of ordinal position on the level of the need achievement of the children from both the tribal and non-tribal communities is in significant.

References

- Aurora, S. (1999). Acceptance-relation needs experience of adolescent school deviants as determined by their family setting. *Journal of community Guidance and Research*, 16, 235-46.
- Falbo, T. (1981) Relationship between birth category, achievement and inter-personal orientation. *Journal of Personality and Social Psychology*, 41 (1), 121-131.
- Falbo, T., and Richman, C.L. (1979) Relationships between father's age, birth Order, family size, and need achievement. *Bulletin of the Psychonomic Society*, 13 (3), 179-182.
- Hassan, S. (2009) Impact of Birth order on achievement motivation. *Journal for Social Development*, vol. No.- 2, 4-9.
- Hunt, J.G. and Hun, L.L. (1977) Race, daughters and fathers loss; Does absence make the girl grow stronger? *Social Problems*, 25 (1), 90-102.
- Kaur, R & Devgan, V. (2001) Maternal love associated with achievement motivation. *Personality Study and Group Behaviour*, 19, 11-18.
- Mukherjee, B (1965) A forced-choice test of achievement motivation. *Journal of the Indian Academy of Applied Psychology*, 2 (3) 85-95.
- Norman, A. C. Jr. (1968) Ordinal Position and social mobility. *Sociometry*, 31 (3), 285-293.
- Resen, B.C. (1955) Multiple group membership. A study of parent peer group cross-pressures. *American Sociological Review*, 20, 155-161.
- Roy, P.V (1995) Indian Psychology : Its Scientific and applied aspects. *Journal of Indian Psychology*, 14, 5-10.
- Sauer, J. and Wildbichler, S (1997) Difference in achievement motivation of youth from different family structures. *Zeitschriftfur Entwick Lungs Psychologic and padagogi-sche Psychologic*, 9(4), 290-293.
- Sewell, W.H. and Shah, V.P. (1988) Parent's education and children's educational aspirations and Achievements. *American Sociological Review*, 33 (2), 191-209.

'Functional Approach of Guidance and Counselling in the Quality Education of Schools'

Isha Tonk

Research Scholar

Akhilendera Singh

Lecturer

Rationale of Study

It is well known that Guidance aims to prepare an individual for her or his future life. It helps a student to acquire essential skills, abilities and capacities for the tasks to be accomplished in future. It also helps the individual in selecting a proper future profession and productive role in the society and enables him to play his role successfully. Guidance has undeniable and considerable personal and social significance. It aims to help an individual in the process of his adjustment with himself and his environment. It helps him to develop his latent strengths and abilities, and to achieve the utmost personal and social efficiency. It also aims to stop wastage of human power and physical resources, by helping the individuals to find their respective optimal places in society.

Counseling services are required for individuals having developmental problems, because of the handicap that they suffer in any area of growth, such as physical, mental, moral, social or emotional, either because of hereditary factors or environmental conditions.

In fact, through guidance & counseling, we can impart life skills education, adolescent education program (sex education) to all and we can make our citizens not only psychologically healthy but also physically and morally healthy.

According to the new scenario, the child is influenced by the environment and eager to try all the things that he gets to watch on the TV, Internet, etc. The cognitive process has changed, and children need more love, care and guidance today than ever before. But nowadays both the parents are frequently working and they do not have much time to spend with their wards. So, the children either depend on their grandparents or on the maid. The right rearing pattern is missing, but the expectations of parents pressurize the students a lot. Therefore, we learn of many suicidal cases, children running away from home after failing or getting less marks, sexual harassment of small kids (girls as well boys), concentration problem, learning disability problem (many parents are averse to accepting that their wards have LD problem), wrong treatment with hyperactive children, adjustment problems after acquiring a sibling, adjustment problems in a new city and the biggest problem in our nation is that we always

compare our children with others and impose our thoughts on them, especially in the adolescent age.

The role of the Guidance & Counseling centre is very crucial in all the above problems, because the Counselor can identify the problems and offer solutions in many ways and also guide the teachers to adopt a particular behavior with students. In many schools, there is no G&C centre, due to which the behavior of the teachers is the same towards all, and they are not able to give 100% results in all directions. However, in the schools where a G&C center is functional, there the counselor identifies the problem, and promotes a good quality of education by counseling students, parents, and teachers.

An example of a comprehensive and generic statement of counselor roles still in use today, is that of the American School Counselor Association (1974), which states that a counselor is (in summarized form):

1. A *planner* - who plans programs and curricula in relation to the needs of students.
2. A *counselor* - who does individual counseling of students.
3. A *leader* - who guides the information-sharing of meaningful information about students.
4. A *communicator* of educational information.
5. A *coordinator* of services.
6. A *consultant* to parents, teachers, and administrators.
7. A *researcher* and *evaluator*.
8. A *public relations person*.

John Schmidt (1999) summed up the importance of school counselors, defining their role within the school community:

The future of school counseling as a profession depends on the ability of counselors to become an integral part of the school setting while maintaining their unique role and contribution to student welfare and development. To accomplish this goal, effective counselors identify their role; select appropriate functions; plan programs and services for students, parents/guardians, and teachers; strengthen their professional development; and evaluate their effectiveness in schools. (p. 26)

Since all educators are involved in enhancing and promoting student learning, a school staff needs to be involved in the decision of what services and programs the school can provide to meet the identified needs of the school population. The services and roles may vary from school to school, depending on the size and needs of a school population and the availability of services due to staffing allocations. The following survey may be a helpful tool to evaluate the current counseling services provided at your school. If completed by the school staff, it will provide an opportunity for the entire school staff to have a better understanding of the roles and responsibilities of the school counselor, and provide input on how the school counselor can best meet the identified learning needs and serve the best interests of the students in the school.

Brief Review of Related Literature

Warner, Cheri. *Understanding your Learning Disability* Newark, Ohio, The Ohio State University, 1988.

Durojaiye, M.O.A. (1976). *A New Introduction to Educational Psychology*. Ibadan: Evans Bros.

American School Counselor Association. (1974). *The role of the middle/junior high school counselor*. Falls Church, V A: American Personnel and Guidance Association.

Campbell, C., & Robinson, E. (1990). The accountability and research challenge: Training future counselors. *Elementary School Guidance & Counseling*, 25, 72-77.

Loesch, L.C. (1988). Is "school counseling research" and oxymoron? In G. R. Walz (Ed.), *Research and counseling: Building strong school counseling programs* (pp. 169-180).

Alexandria, VA: American Association for Counseling and Development.

Van Hoose, W. (1970). Conflicts in counselor preparation and professional practice: An analysis. *Counselor Education and Supervision*, 9, 241-247.

Dyslexia My Life by Girard, Occupational Outlook Handbook, 2008-09 Edition, *Journal of Counseling, Psychology*® Editor: Brent Mallinckrodt

Objectives/ Research Questions

The influence of counseling on academic achievement has been the subject matter of several research studies all over the world. A large number of these studies has been on underachievers, especially on the relationship between the noncognitive factor and academic achievement.

Efforts will be made to find out how to offer quality of education in schools, by overcoming the problems of students, like concentration, adjustment, hyperactivity, loneliness, interest in acquiring knowledge about sex, how to have positive attitude, to get a right aim and how to proceed towards that, how to face criticism and why to love life.

Major Hypothesis

There will be a significantly positive effect in counseling the students as measured by the four variables namely, academic achievement, study habits and study skills (SHSK), academic motivation and self-concept. In terms of the four variables under discussion, group counseling is as effective as individual counseling.

The effect of counseling does not necessarily depend on the frequency of counseling. Moreover, the effect of counseling does not depend on the level of intelligence (IQ).

Minor Hypothesis

There exists a positive correlation between the effects of counseling or SHSK, academic motivation, self-concept and academic achievement.

There are serious problems related to the home and family environment, which interfere there academic achievement, study habits, academic motivation and self-concept.

Design of Study

The present study is an experimental one, in which pre-test and post-test would be used for both the categories of students under study viz., students who have benefited from counseling and others who have not done so.

Proposed Methodology

The study will be experimental and will be divided into four groups:

Group A: consisting of those who will be depriving from counselor's help.

Group B: consisting of those who will be benefited by counselor on visiting basis.

Group C: consisting of those who will be benefited by group counseling.

Group D: consisting of those who will receive special treatment. It was control group.

Both the experimental and control group were tested before and after the counseling program, The experimental study will cover a one-year period and the counseling will last for six months

Each of the Groups A, B, C, and D will consist of a number of students. It will be decided to have samples which were neither too large nor too small. Samples will be selected so as to ensure a fair representation of schools and diversities in educational set up.

The major hypothesis will be tested by the use of reliable measuring instruments and the minor hypothesis will be verified by interviews, observations, etc. Different statistical techniques and calculations will be used to analyze the results.

Database and Instruments for Data Collection

SAMPLE: The subjects of the study will be from various schools of U.P. state. Both boys and girls will be selected.

Tools of data collection:

1. School records.
2. Survey of study habits & study skills.
3. Questionnaire on academic motivation.
4. Self-concept inventory.
5. Counseling interview with counselee observation.
6. IQ assessment.
7. Assessment of Learning disability.
8. Assessment of Personality test.
9. Assessment of Aptitude test.

Expected Outcomes

Through guidance & counseling centre we can see the improvement in the quality of education in schools, As teachers will become aware of learning disabled students, ADHD students, Hyperactive students, low IQ level students & gifted students, with the help of counselor, the teachers can change their teaching patterns for them and counseling sessions will help the students to improve in various areas of their behavior and performance.

Implications of the Proposed Research

By establishing Guidance & Counseling centre in each school, Rate of performance of students will increase and there will be a wholistic development of students in all respects. In this way, our education system will become more qualitative and strong.

Psychological Aspect of PET-Loving

Dr. Akhila Nand Pathak

*Head, P.G. Department of Psychology
S.K.M. University, Dumka (Jharkhand)
Email: pathakanp@gmail.com*

Abstract

Behavioral Research on animal bonding, especially on dogs and cats, the most popular national pet types, has shown conclusively that companion animal provide important physical, mental, and emotional benefits to humans.

Pets decrease owners loneliness and depression by providing companionship, an incentive for nurturance, and possibly enrichment of daily activities. They also decrease owners anxiety and stress levels by providing contact comfort. A pet can help its owner improve or maintain physical fitness by providing an incentive for exercise. Caring for a pet can also improve self image and facilitate caring for oneself. Pets can be a sense of calmness and security. Owners may be more willing to do certain activities or go to certain places if their pets accompany them.

In all, pets can be good companions to people. They affect both the mental and physical state of a person. They can help people to feel loved and they in return get love from their owners.

Personal Character of PET-Loving

Behavioral Research on animal bonding, especially on dogs and cats, the most popular national pet types, has shown conclusively that companion animal provide important physical, mental, and emotional benefits to humans. (Kidd, Kelley & Kidd, 1983).

Kidd and Kidd (1980) found that there are significant differences in specific personality traits among lovers of particular types of pets, and that there are also differences in these traits between the sexes. They found that the type of pet owned during has had a significant effect upon adults' choices of pets. They could not yet say whether childhood pet ownership affects adults personality. They indicated that a child-rearing environment which produces an autonomous, aggressive adult male is created by parents who prefer dogs and dislike cats.

Brown, Shaw and Kirkland (1972) found that people who had a low affection for dogs were low in affection for others, while those with a high affection for dogs were high in affection for others.

Edelson and Lester (1983) view pet ownership as related to personality traits. Kidd and Feldmann (1981) found that pet owners had higher needs for nurturance and lower needs for succorance and abasement, based on Thematic Apperception Test results.

Kidd (1983) did research on horse, turtle, snake, and bird owners, as dogs and cats. He found that male dogs owners and male horse owners were aggressive and dominant. Both male and female cat owners were autonomous, and less people-involved than dog owners. Kidd, Kelley & Kidd (1983) did research on Kidd's experiment concerning horses, turtles, snakes and birds and found that horse owners were assertive, introspective and self-concerned, but limited in cooperativeness, nurturance, novelty-seeking, solicitation of sympathy and affect, and in warm interpersonal relationships. Also, the male horse owners were notable aggressive, dominant and less expressive. Female horse owners, in addition to the general traits, avoided aggression and were easy-going.

Snake owners were found to be unconventional, informal, changeable, relaxed, and somewhat unpredictable. They found that they were novelty-seeking and unable to tolerate routines. They believe that animal owners with such personality characteristics might well be attracted to animal types generally regarded as unusual. Further the evil reputation of snakes could well be attractive to people who are somewhat unpredictable and unconventional. This also suggests that some snake owners are risk-takers and stimulated by possible danger.

Kidd et al. (1983) found that bird owners were contented, courteous, expressive, nurturant and unpretentious. They sought to maintain numerous personal relationships, to sustain harmonious relations between others, and were protective of friends. Like male horse owners, female bird owners were high on dominance, but in general bird owners were both social and altruistic, and were attracted to birds that are expressive in both song and speech, and express affection by nuzzling, and that are physically attractive. In the Kidd & Kidd (1980) study, horse, turtle and snake owners had owned horses, turtles, and snakes significantly more often than children that had members of each of the other groups, and these findings certainly strengthen the idea that childhood ownership of pets had an important effect on adult preference for ownership and affection for specific types of companion animals.

Kamberg (1989) stated that people often choose their because of their complimentary natures. One horse owner, for example, says she was a shy child, and riding and taking care of her horse gave her the confidence she lacked. A handicapped person who cannot walk would feel he or she could benefit enormously from a horse because of its four "great legs". A person who is independent may enjoy the company of cats, which often display an independent personality. Even though cats offer less emotional responses than dogs, cats do not need the same amount of attention so that they would be best suited to be people who work away from home all day. Many timid elderly women find the noisy aggressiveness of their guard dogs very comforting. Service animal see and hear and do what their owners cannot do for themselves.

Reactional Characteristics of PET-loving

Joubert (1987) indicated that pet ownership was related to sociability. He found that pet owners reported spending more time socializing with others, Curtis (1982) found that a person walking with a dog is viewed by others as intelligent, confident and more sympathetic and friendly than people without

a dog. All pet owners generally are found to be stable, have emotional harmony, are less alienated, and more extraverted than non-pet owners (Paden-Levy, 1985). Wilbur (1976) found that pets are sometimes used as substitutes by those who otherwise lack warm supportive interactions.

Martinez and Kidd (1980) found that animal-owners have more self-esteem than non-owners. Their wellbeing is also a lot better than non-owners. When older people and children were given pets, their self-esteem increased. Also, adults who owned pets were more emotionally adjusted than those who did not own pets. In another study performed by on pet-owners and their choices in pets, 55 females and 36 male single college students taking an introductory course in psychology were given a Self-disclosure Scale, The Extraversion Scale of the Eysenck Personality Inventory. This survey asked the participants to rank dog, cat, bird, and fish in the order they would prefer to have as pets. The participants were also asked which pets they already owned. The results of the test showed that females were more likely to own a cat, but no more likely to own a dog, bird or fish. In ranking their preferences, females ranked dogs lower. Female ranked cats as being their most probably choice for a pet. Females also ranked fish low. The results for males were almost opposite. Extraversion was related to pet ownership only for males. The more extraverted males ranked cats lower and birds higher as their choice for a pet. Males were also more likely to own a dog and less likely to own a cat (Edelson and Lester, 1983).

Pets as a Companion – Freedmen (1988) Founder His Study

That pets decrease owners loneliness and depression by providing companionship, an incentive for nurturance, and possibly enrichment of daily activities. They also decrease owners anxiety and stress levels by providing contact comfort. A pet can help its owner improve or maintain physical fitness by providing an incentive for exercise. Caring for a pet can also improve self image and facilitate caring for oneself. Pets can be a sense of calmness and security. Owners may be more willing to do certain activities or go to certain places if their pets accompany them.

PET as – A status symbol

More and more people keep pet animals that are neither loving nor attractive and often not even interesting to observe. This seems to be because they are relatively rare, expensive to buy and keep, or just because they lend “something” to their own status.

More commonly, people who are seeking companionship will avoid these strange and unconventional animals and will go for some thoroughly ordinary, domestic species such as a dog or cat, which have long been the favorite since the beginning of domestication (Stanzberg, 1988).

According to the study by Kidd & Feldman (1981), single adults do not invest in pets as often as married adults. Also, depressed adults, regardless of their marital status, often buy pets. Depressed individuals find it difficult to interact with other individuals. Yet they find it easier and more responsive to relate to animal. Love-hungry and withdrawn individuals purchase pets in order to provide less hopelessness and social isolation. Also, those who have self-

confidence which is low and poor personal adjustment are prone to buy pets. They do not fear rejection of a pet as much as rejection from a human.

It has been reported that pet-ownership increases the life span of the elderly by increasing the socialization of elderly people who live alone. A pet can also help restore feelings of hope, being loved and needed which can make a difference between life and death among elderly people. Other individuals own pets for general health benefits. Blind people with guide dogs have a higher self-esteem and better mobility than those visually impaired without guide dogs. Pets primarily benefit people because they give their love freely without fear of rejection of jealousy (Corson 1978).

Harris (1983) investigated the issue of how people select names for their pets. It seems reasonable to assume that "name given to pets serve certain functions for their owners which may be similar to or different to functions which pet ownership serves, (i.e., status or entertainment). "After hypotheses in this study were tested, it was found that names given to pets did not relate to identifiable characteristics of the owner, such as age, sex, species or breed. Across all variables human names or plain and simple names seem to be the most popular, but many unusual names were found – may be to get a kind of projective satisfaction.

Bensel (1958) stated that, "adults who, as children, had a more interactive relationship with their pets, will have more positive interpersonal relationships, more positive attitudes towards animals and more positive self-concepts than those who had a lesser relationship with a pet". Also] adults who as children had their first pet during psychosocially active stages will stronger self concepts than those who had their pets during the less active stages of development.

Positive Values of Pet Loving

According to Katcher (1984) there are seven ways pets are a benefit to humans are as follows : Provide companionship, something to care for, something to keep a person busy, something to touch warmly and fondle, something to watch, something that makes you feel safe and also something that provides a stimulus for socialization and exercise.

Horn (1984) found that pet choices for individuals were as follows:

Table – I

<i>Animal</i>	<i>Choice in Percentage</i>
Dog	54
Cat	53

bird-9%, fish-11%, rodent-5%, rabbit-3%, reptile-3%, horse-4%, other-3%

Table – II

<i>Reasons</i>	<i>Percentage</i>
Companions	71
Love	52
Protection	36

Gunby (1978) found that when comparing pet owners and non-pet owners who had suffered heart attacks, a lower percentage of pet owners had died and the differences in survival could not be explained by differences in the severity of the heart attack. In general, the mortality rate among people with pets seems to be one-third that of patients without pets. Pets have a positive influence on health and can increase their owner's health and resistance to disease.

Lee (1975) introduced fish and parakeets as mascots in the Lima State hospital for the criminally insane. The inmates included murderers, rapists, etc. The ward mascots proved so popular that Lee initiated a reward system whereby the inmates could work toward owning their own pets. Permitting the prisoners to care for small animals resulted in significant reductions in the frequency of fights and almost completely stopped suicide attempts.

In all, pets can be good companions to people. They affect both the mental and physical state of a person. They can help people to feel loved and they in return get love from their owners.

References

1. Brown, L.T., Shaw, T.G., & Kirkland, K.D. (1972). Affection for people as a function of affection for dogs. *Psychological report*, 31, 957-958.
2. Corson, S.A. (1978). Pets as mediators for therapy in custodial institutions for the aged. *Current Psychiatric Therapies*, 18, 234.
3. Curtis, P. (1982). Our pets, ourselves. *Psychology Today*, 16, 66-67.
4. Edelson, J. & Lester, D. (1983) Personality and pet ownership : A preliminary study *Psychology Report*, 53, 990.
5. Friedmann, E. (1988). Therapy in pet-keeping. *Courier*, pp 11-14.
6. Gunby, P. (1978). Pets for cardiac therapeutics. *Journal of the American Medical Association*, 241, 438.
7. Harris, M.B. (1983). Some factors influencing selection and naming of pets. *Psychological Report*. 53, 1163-1170.
8. Horn, J. & Meer, J. (1984). The pleasure of their company. *Psychology Today*, 18, 52-57.
9. Joubert, C.E. (1987). Pet ownership, social interest, and sociability. *Psychological Report*. 61, 401-402.
10. Kamberg, M. (1989). The pet prescription. *Psychology of animal people contact*. *Current Health*. 15, 10-13.
11. Kidd, A.H. & Feldmann, B.M. (1981). Pet ownership and self perceptions of older people. *Psychological Reports*. 48, 867-875.
12. Kidd, A.H., Kelley, H., and Kidd, R.M. (1983). Personality characteristics of horse, turtle, snake and bird owners. *Psychological Report*, 52, 719-729.
13. Kidd, A.H. & Kidd, R.M. (1980). Personality characteristics and preferences in pet ownership. *Psychological Report* 46. 939-949.

Effects of Parenting and Peer Pressure on Adolescent Sexual Activity

Dr. Dhananjay Kumar Singh

Lecturer, Jagdam College, Chapra

What prompts adolescents to engage in sexual activity in regards to peer pressure, parental guide and religious beliefs? Approximately one in every five adolescents have had sexual intercourse by his/her fifteenth birthday. Recent studies have shown that peer pressure has the strongest impact on adolescents decision making towards sexual activity. Parenting and religion have been found to be less influential. For that reason, adolescents as well as parents need to be informed about the effects of peer pressure on sexual decision-making. Adolescence is a time in development when children become mature in age, physical appearances and the beginning stages of sexual maturation. There is no specific age range for adolescent; it can range from elementary to senior-year in high school. Physical appearance is the main predictor when a child transitions into an adolescent. Adolescent males experience voice change, height and weight spurts, growth of facial and body hair and their first ejaculation experience. Adolescent females experience menstrual cycles, breast development, widen hips, and height and weight spurts. These physical changes are called puberty, or sexual maturation.

The onset of puberty varies between age and gender. There is a strong impact on early and late puberty in adolescent males and females. Adolescent females that reach puberty early are sometimes embarrassed and ashamed of their newly shaped body. Most of them appear older and sexually ready in the eyes of younger and older men. According to Paludi (2002) these females are physically ready for sexual activity, but mentally and emotionally they are not.

Adolescent males that reach puberty early are satisfied with their body change. They are taller and muscular, which enables them to perform better in sports. These males tend to become sexually active; they are accepted by peers and become popular with females because of their "adultlike" appearance (Paludi, 2002). Late maturing females feel left behind; they feel that they do not get the same attention from males as the early matured females. Their self-esteem is higher and they perform better in sports. Late maturing males are shorter and skinnier from the rest. They have extremely low self-esteem, peers ridicule them, they tend to shy themselves from others, and they avoid any sports. Adolescents face many obstacles in life and within those obstacles they must learn how to achieve them successfully. According to Paludi (2002), adolescents deal with identity development, building and maintaining friendships, physical appearance, and sexual activity, because at this time in development "everybody's doing it." Sex is the primary focus on almost every adolescent's mind. Their peers are having sex, so they want to join the "club"

and have sex as well, despite the consequences. Adolescents have many questions and concerns regarding sexual activity.

“What does it feel like,” “If I do it, my friends will like me more,” “My friends are doing it, so why can’t I have some fun,” “My boyfriend/girlfriend would LOVE me if I do it.” Most adolescent engages in sexual activity because they need and want to be accepted by their peers and/or their significant other. Some adolescents are curious about sex and want to find out what the big deal is about it. Adolescents have sex for the wrong reasons and don’t think about the consequences that may follow. In a study done by Prinstein and LaGreca (2004), reported that only 10.9%, of their sample of 148, reported never using birth control and 14.5% reported that they never used protection against STD’s. This study proves that adolescents are not concerned about the consequences of sex, just the pleasure and social acceptance. Although adolescents are engaging in sexual activity, many don’t. Despite the pressure from peers, adolescent that lives in a religious home or with parents that educate them about sex and the consequences, tend to wait longer to have sex. Not saying that these adolescents wait until marriage to engage in sexual activity, but there is a delay.

What prompts adolescents to engage in sexual behaviors as related to the influences of parenting, religion, and peer pressure? Despite the strong and positive relationship between parent and child and/or the high religious beliefs, peer pressure has the strongest influence toward adolescent sexual behavior. This essay will discuss the three influences and how each can directly or indirectly affect sexual decision making in adolescents.

Influential Factor: Peer Pressure

Could it be the effects of peer pressure that elicits sexual activity in adolescents? Being accepted from peers is very important in adolescence. Having high social preference and a healthy friendship offer benefits, such as opportunities to develop appropriate emotional regulation skills, practicing appropriate interpersonal behaviors, or receiving friendship support (Prinstein & LaGreca, 2004), decreases the chances of adolescent sexual activity. Engaging in sexual activity among adolescent is not to gain experience, enjoyment, or curiosity, it’s mainly to fit in some sort of peer group or “club.” Peer rejection is the number one reason adolescents engage in any risky behavior, particularly sex. Adolescents teased about not being sexually active, usually had sex to stop the teasing. Adolescents reported that if most of their peers are having sex; they are more likely to engage in sexual behaviors (Norman & Romer, 1998). Adolescents want to gain respect from their peers, so they will do anything to get that respect. Adolescent boys will more likely engage in sex to gain respect. Adolescent males that are not sexually active reported higher intention to initiate sexual intercourse within the next school year (Norman & Romer, 1998).

Adolescent believe that if they don’t have sex, they would be ridiculed and stigmatized. Adolescents with low social preference are more likely to engage in sexual behaviors to gain respect and boost their social skills. Most adolescents have sex for many wrong reasons, seeking acceptance from peers, seeking love away from home, and curiosity. Adolescents that perceive their peers to be

initiating new behavior tend to alter their own behavior to reflect their perception of the normative behavior. Adolescents that are not receiving any love or attention at home will seek love and affection elsewhere. Adolescents that look for love elsewhere have to deal with the pressure of not being loved, looking for love, and keeping that love. Once they found love, they have to deal with pressure from their significant other. The significant other may pressure them like saying, "I will love you if you do it," or "You must not love me if you don't." With the feeling of being wanted and loved these adolescents will do anything to keep their love interest and make them happy.

Some adolescents are curious about sex. They want to know more about it, they want to be apart of the group that is sexually active. Adolescents have sex to kill their curiosity. Acceptance is so important that adolescents overlook the consequences of sexual activity. Adolescents don't care about the consequences concerning sexual activity, like STD's or pregnancy. Consequences are far from their minds; they feel that no harm can come their way if they have sex for the first time.

Most adolescents that engage in sexual activity don't use any type of birth control or protection from STD's. In one study they reported that 10.9%, of a sample size of 148, reported that they never used birth control and 14.5% reported that never used any protection against STD's (Prinstein & LaGreca 2004). Peer pressure toward sex is the same across different cultures. In Musaka, Uganda being sexually experienced is important not just from the enjoyment, but also for the sense of belonging to an informal peer group or club (Kinsman, Nyanzi & Pool, 2000). Within the group or club one can share experiences, knowledge and opinions about sex. Like in the United States, adolescents in Uganda that are sexually experienced were seen as better people and demanded more respect at school. Adolescents that weren't sexual active were ridiculed and looked down upon. To reduce these negative actions they soon became sexually active. Future research should better describe how perceptions of peer norms are constructed, communicated and internalized by young adolescents.

By educating families about the roles of peer influence, this may encourage parents to address their child's perception of peer norms. Peer pressure is a strong motivating factor in regards with sexual behavior in adolescents, but parenting skills can also influence adolescent sexual behavior. Having an opened parent-child relationship can reduce early sexual activity in adolescents.

The Effects of Parenting

Parent-child closeness is associated with reduced adolescents pregnancy, postponing intercourse, having fewer sexual partners and the use of contraceptives (Miller, McCoy, Olsen & Wallace, 1986). When the parent/s are opened about sexual information, adolescents are less likely to engage in sexual activity at an early age. Although having an open parent-child relationship delays' sexual activities in younger adolescents, older adolescent are more influenced by peer pressure no matter how opened the parent-child relationship is.

Parent-child relationship is important to adolescents' decision-making, especially when it comes to sex. Adolescents don't make the right choices about sex because they are unaware of the consequences with sex. Peers talk about all

the positive outcomes about sex, the feeling, gaining power and respect. None of the negative outcomes about sex are told such as pregnancy, STD's, disrespect to parents and self. Parents have to be opened with adolescents about sexual information so their curiosity is killed, and they are aware of both positive and negative outcomes regarding sex. A stricter parenting style leads to early sexual activity in adolescents. One study found that Mormons, which are strict parents and have stricter views about sexual activity, reported higher permissiveness in adolescents (Miller, McCoy, Olson &, Wallace, 1986).

Stricter parenting rules affect adolescents plus parents that have no set rules. Adolescents become more permissive when the parents lack rules about dating. When the adolescents have no rules about whom they date, where they go, and the arrival time back home, tend to be more sexually active (Miller, McCoy, Olson &, Wallace, 1986).

Parents' attitudes and values about sex do influence adolescent sexual activity. If a parent is opened about sex and explains the positive and negative outcomes of sex, adolescents will respect parents' views about sex and postpone sexual activity. Forming a close parent-child relationship is the best way to delay adolescent sexual activity. Adolescents that wait to have sexual intercourse usually get positive responses from parents about how proud they are, or the parents would speak highly of them. To reduce the effects of peer pressure on sexual decision-making parents can have open conversations with their teens about sexual intercourse.

Parents should allow their children to be open and have their own opinions about sex. Having parent-child communication about sex will reduce an adolescent's curiosity about sex, and they will be aware of the consequences of sex. Open parent-child communication will also reduce the effects of peer pressure on adolescent sexual decision-making. Adolescent will be aware of the types of peer pressure, and they will be able to avoid the pressure from peers, especially in regards with sex.

Although positive response from parents has a delay in adolescents' sexual behavior, peer pressure is more influential. Parents influence younger adolescents, but as they get older they ultimately shifts from parent to peer (Norman & Romer, 1998). Parenting does not have a directly influence adolescents' decisions about sex, but parenting does indirectly affect adolescents. For example, the types of peers the adolescents involve themselves with and the timing of their sexual debut, indirectly affect adolescents.

Religion

Religion is another factor that delays early sexual behavior in adolescents. It has been found that having high levels of religion reduces early sexual behavior in adolescents. Religious involvement may deter adolescent sexual behavior because most religious institutions hold norms contrary to the act. Like parenting, religion affects the onset of sexual activity in adolescents, but the pressure from peers are more influenced. There are differences between religion and spirituality. Religion involves a set of institutionalized and beliefs and spirituality are the experience, the way an individual expresses their relationship with others, the world around them and God (Rostosky, Regenrus, Comer & Wright, 2003).

There are eight dimensions of spirituality church attendance frequency of attendance, religion importance, intrinsic motivation, a built-in motivating force of an individual decision-making, extrinsic motivation, how religion is pursued as the external social influences, belief in God degree to which an individual adheres a notion of a divine persona, divine support, self support components of an individual relationship with God and how it is positively related to self-esteem, and spiritual interconnectedness, supportive components between family and friends. Out of the eight dimensions of spirituality, only spiritual interconnectedness among friends is the only dimension that seems to delay sexual activity in adolescents. Adolescents who had friends who attended church were more likely to delay sexual activity (Rostosky, Regnerus, Comer &, Wright 2003). Having strong spiritual interconnectedness among friends delays sexual activity in both male and female adolescents. Adolescents that follow the same beliefs about premarital sex will influence other adolescents not to engage in premarital sex. In addition, religiosity delays the onset of sexual activity in females, but there is no effect in males. There were significant gender differences in religiosity and attitudes toward sexual behavior.

Females that are more religious sought more negative outcomes in sexual activity emotionally and health concerns (pregnancy and STD's). Males were more positive about emotions concerning sexual activity and negative outcomes concerning health related issues. Despite the importance of religion and beliefs, having multiple romantic partners increased the likelihood to engage in sexual intercourse, for both males and females. Having a religion with beliefs and rules helps control sexual behavior among adolescents. Strong beliefs of religion delays sexual initiation indirectly in older and younger adolescents. Religion indirectly affects adolescents with the anticipation of the negative consequences such as guilt, loss of respect, embarrassment of pregnancy, and/or upsetting parents. Religion also affects the onset of adolescent sexual activity as referred to demographically connections like gender, age, ethnicity, etc. African-American adolescent males that were more religious were more likely to engage in sexual activity than White non-Hispanic males and African-American males that were less religious.

To conclude, peer pressure is the strongest influential factor with sexual activity in adolescents. Good parenting and beliefs in religion delay the onset of sexual activity in younger adolescents. As they get older, adolescents stray away from religious beliefs and parents' wishes and follow their peer's actions. Being accepted by their peers is important for adolescents, being sexually active before getting married is not a concern when it comes to sex. Being ridiculed about being sexually inactive is something adolescent experience in middle school and high school. Most adolescents want to be apart of the sexually active group, so they can share ideas, opinions and excitement about sex. Those that are not sexually experienced by the time they reach high school, intend on having their first sexual encounter soon before the year of high school ends. Ultimately, sexual decisions are personal value choices. Yet they are molded and shaped by many social contexts in which adolescents develop. There may not be just one main factor that ultimately causes or deters sexual behavior in adolescence, but there is a whole host of influential factors, in which some are stronger than

others. Throughout this research, peer pressure appears to be the strongest motivating factor in whether or not an adolescent decides to engage in sexual behaviors. The best combination seems to be religiosity and peer interconnectedness, with parenting being the least influential. Though that does not discount the effects parenting has on adolescent sexual decision-making, a positive parent-child relationship does have some influence on sexual initiation and type of peer group orientation. Ways to reduce the strong effects peer pressure is to have open parent-child communication about sexual intercourse, the good and bad outcomes of sexual intercourse, and opinions about sex. Adolescents involved in youth groups at church become aware of opinions of peers their own age about risky behaviors, especially sexual behaviors. Youth groups and parents that speak positively and openly about sexual behavior are great opportunities for adolescents to be aware of the pressures of sex and other risky behaviors. To effectively reduce sexual risk taking among adolescents, programs need to be designed that address multiple social contexts and promote contradictory sexual ideologies.

References

1. Hardy, S.A, and Raffaelli, M. (2003). Adolescent religiosity and sexuality: An investigation of reciprocal influences. *Journal of Adolescence*, 26, 731-739.
2. Holder, D. W., Durant, R. H., Harris, T. L., Henderson-Daniel, J., Obeidallah, D., & Goodman, E. (2000). The association between adolescent spirituality and voluntary sexual activity. *Journal of Adolescent Health*, 295-302.
3. Kinsman, J., Nanzi, S., & Pool, R. (2000). Socializing influences and the values of sex: The experience of adolescents in rural Musaka, Uganda. *Culture, Health, and Sexuality*, 2, 151-166.
4. Meier, A.M., (2003). Adolescents' transition to first intercourse, religiosity, and attitudes about sex. *Social Forces*, 81, 1031-1053.
5. Miller, B. C., McCoy, J. K, Olsen, T. D & Wallace, C. M. (1986). Parental discipline and the control attempts to adolescent sexual attitudes and behavior. *Journal of Marriage and the Family*, 3, 502-511.
6. Norman, S. B., & Romer, D. (1998). Early sexual initiation: The role of peer norms, 102.
7. Paludi, M. A. (2002). *Human Development in Multicultural Contexts*, (4), 134- 146.
8. Prinstein, M., & La Greca, A. (2004). Childhood Peer Rejection and Aggression as Predictors of Adolescents Externalizing and Health Risk Behaviors: A 6-year Longitudinal Study. 72, 103-112.
9. Rostosky, S. S., Regnerus, M. D., Comer, M. & Wright, L. (2003). Coital debut: The role of religion and sex attitudes in the health survey- *Journal of Sex Research*,40.
10. Shah, F., & Zelnik, M.(1981). Parent and peer influence on sexual behavior, contraceptive use and pregnancy experience of young women. *Journal of Marriage and the Family*, 43, 339-349.
11. Teyber, E. (2001). *Helping Children Cope With Divorce*. 210-219.
12. Wills, T. A., Gibbons, F. X, Gerrard, M., Murray V. M., & Brody, G. H. (2003).
13. Family communication and religiosity related to substance use and sexual behavior in early adolescence: A test for pathways through self control and prototype perceptions. *Psychology of Addictive*.

Childhood Psychological Disorders

Dr. Om Prakash Singh

Lecturer, Dr. P.N. Singh Degree College, Chapra

Childhood psychological disorders can often be overlooked because a lot of people see childhood as a simple and carefree time without stress.

Childhood disorders may even go undiagnosed because the parents or guardians will just label the child as being a “brat”, “bad seed”, “baby”, or “whiner”. They may even accuse the child of making things up or being a faker. When people DO admit that the child has a disorder, they often assume that the disorder is simply a miniature version of the adult disorder, and that it’s not as serious. The truth is that the disorders can be as debilitating, or even more debilitating to a child.

One disorder that primarily affects children is Separation Anxiety Disorder. This disorder is characterized by excessive anxiety when separated from their home or caregiver.

It can be so severe that the child refuses to leave home or let an adult out of their sight. In order to stay home, the child may experience or complain of physical symptoms, such as stomachaches or headaches. This disorder may develop if the child’s parents have a divorce, after moving to a new place, after a prolonged illness in the child or a family member, or after a death in the family.

Another disorder that is very serious in children is Childhood Depression. Childhood Depression can be characterized by sadness, hopelessness, guilt fatigue, low self-esteem, sleep disturbances, bad concentration, excessive crying, outbursts, antisocial behavior, and unexplainable aches. Children from all social classes can suffer from Depression. In severe cases, Childhood Depression can lead to suicide, which is the third leading cause of death for children between the ages of eight and thirteen. Family environment, as well as genetics, can cause this disorder.

An extremely serious, and often undiagnosed, disorder is Conduct Disorder. This disorder can be characterized by repeat aggressive behavior, fire starting, bullying, vandalizing, breaking and entering, theft, running away, and skipping school.

It affects between eight and ten percent of males, and two to five percent of females, and can go undiagnosed because a lot of people see the kids as bad kids. When people stop believing that the children can be good, the children will stop believing it too, and the disorder will progress even further.

A disorder that is similar to, but less severe than, Conduct Disorder is Oppositional Defiance Disorder. This is characterized by blaming others when

mistakes are made, unwillingness to compromise, defiance of adult authority, and stubbornness.

The onset of this disorder is gradual, and starts with very mild symptoms, but if left undiagnosed it can escalate to the severity of conduct disorder. This may lead to behavior later in life that can lead to arrest, injury, or death.

On the other side of the diagnostic spectrum is Attention Deficit (Hyperactive) Disorder. This is a very well known condition that is one of the most overdiagnosed disorders ever.

Signs of this disorder may be; inattention, problems in school, forgetfulness, disorganization, impulse behavior, and compulsive speaking. It's estimated that about three to five percent of school aged children are affected, and that most of that number are boys. It could be caused by a combination of heredity and environmental problems.

Eating disorders are also found in children, but they tend to differ from the eating disorders found in teenagers and adults. One such disorder is Pica, which causes the child to eat non-foods, like paper, coins, and dirt, for more than one month. Rumination is another eating disorder that causes the child to regurgitate and re-chew their food. These eating disorders can be caused by abuse, depression, or use of drugs.

Phobias can affect anyone, but in children they can be particularly bad for two reasons. One is that the child can not express their fear through words in the same way that an adult can because they may not have the correct vocabulary to do so. Another reason is that people tend to confuse a child's phobias with common, "normal", childhood fears.

The difference between phobias and fears, is that fears can usually be outgrown with little, or more commonly, no type of treatment, whereas phobias cannot just disappear or be outgrown. Phobias may be characterized by a fear that is so severe that it interrupts daily life. For example, a child may be so scared of something that they refuse to leave their room or home in the fear that they may come in contact with what they are afraid of.

There are also disorders that affect children, but are usually not diagnosed until the teen or adult years. Manic depression is one such disorder, and it can cause very extreme mood swings. Another disorder is Schizophrenia, which can cause delusions, hallucinations, social withdrawal, and disordered thinking. Tourette's syndrome is another, and it can cause repeated involuntary movement and uncontrollable vocal tics. Finally, there are some disorders that affect children that don't fit the criteria for any named disorder. This is what doctors call Child Disorder NOS.

The symptoms can be anything from signs of phobia to conduct disorder, but there's either not enough symptoms to diagnose a certain disorder, or there's a behavioral anomaly that would not be present in the disorder. Childhood is not always a simple, carefree time without stress. There are children that live with disorders that can be so stressful that it leads them to violence or suicide. These disorders cause them emotional and mental stress that may affect them all the way through their lives.

References

1. Egendorf, Laura K.. *Violence: Opposing Viewpoints*. San Diego, California: Greenhaven Press, Inc, 2001.
2. Moeller, Thomas G.. *Youth Aggression and Violence*. Mahwah, N.J.: Lawrence Erlbaum Associates, Publishers, 2001.
3. Massing, M. "Movie violence still playing, the liberals just don't get it ." www.lionlamb.org. 2001. 19 Nov 2006 .
4. Ngoei, Enette. "Study: Eight Acts of Violence per Hour on Children's TV." www.beliefnet.com. 2006. Religion News Service. 1 Dec 2006 .
5. Overton, Willis F.. *Early Childhood television Viewing and Adolescent Behavior*. Boston, Massachusetts: Blackwell Publishers, 2001.
6. Palermo, George B. "Adolescent Criminal Behavior: Is TV Violence One Of The Culprits?" *International Journal of Offender Therapy & Comparative Criminology*. 39.1 (Spring 1995):23
7. Potter, W. James. *On Media Violence*. London, England: Sage Publication, 1999.
8. Sege, Robert. "Television Viewing and Violence in Children." *The Pediatrician As Agent Pediatrics Journal*. 94.4(Oct. 1994):33-35.
9. Torr, James D.. *Violence in Film and television*. San Diego, California: Greenhaven Press, Inc., 2002.
10. Valdivia, Angharad N.. *A Companion to Media Studies*. Malden, Massachussetts: Blackwell Publishing, 2003.
11. Alberta Court Family Justice. (2005). Alberta's family law act: an overview. Retrieved November 11, 2006, from <http://www.albertacourts.ab.ca/cs/familyjustice/FLAOverview.pdf>
12. Covell, K. (1999). Promoting parenting plans: a new role for the psychologist as expert in custody disputes. *Expert Evidence* 7,113-126.
13. Emery, R., Laumann-Billings, L., Waldron, M., Sbarra, D., and Dillon, P. (2001). Child custody mediation and litigation: custody, contact and coparenting 12 years after initial dispute resolution. *Journal of Consulting and Clinical Psychology*,69 (2), 323-332
14. Faust, D., Ziskin, J. (1988). The expert witness in psychology and psychiatry. *Science*, 241, 31-35.
15. Schuller, R., Ogloff, J. (Eds). (2002). *Introduction to psychology and the law Canadian perspectives*. Toronto: University of Toronto Press.
16. Sorenson, E., Golman, J., Sheeber, L., Albanese, I., Ward, M., Williamson, L and
17. McDanal, C. (1997). Judges reliance on psychological, sociological and legal variables in contested custody decisions. *Journal of Divorce and Remarriage* 27(1/2), 1-25.

Nightmare and its Disorders

Neetu Kumari

R.B. Roy College, Hajipur

A nightmare is a dream which causes a strong unpleasant emotional response from the sleeper, typically fear or horror, being in situations of extreme danger, or the sensations of pain, bad events, falling, drowning, being raped, becoming disabled, losing loved ones, unpleasant creatures or beings, getting attacked, getting eaten, squashed, diseased, burned, becoming frozen, murdered, or facing death. Such dreams can be related to physical causes such as a high fever, turned faced down on a pillow during sleep, or psychological ones such as psychological trauma or stress in the sleeper's life, or can have no apparent cause. If a person has experienced a psychologically traumatic situation in life—for example, a person who may have been captured and tortured—the experience may come back to haunt them in their nightmares. Sleepers may waken in a state of distress and be unable to get back to sleep for some time. Eating before bed, which triggers an increase in the body's metabolism and brain activity, is another potential stimulus for nightmares.

Occasional nightmares are commonplace, but recurrent nightmares can interfere with sleep and may cause people to seek medical help. A recently proposed treatment consists of *imagery rehearsal* or dream incubation. This technique was first described in Deirdre Barrett's book, *Trauma and Dreams* with cases of people suffering recurring nightmares of war, childhood abuse, adult rapes and natural disasters "incubating" or practicing imagery of a different outcome to the dream which involved mastering the threat. Two research studies have now shown this to be effective for both spontaneous, ideosyncratic nightmares and on nightmares in acute stress disorder and post-traumatic stress disorder.

Historic use of Term

Nightmare was the original term for the state later known as *waking dream* (cf. Mary Shelley and Frankenstein's Genesis), and more currently as sleep paralysis, associated with rapid eye movement (REM) sleep. The original definition was codified by Dr Johnson in his *A Dictionary of the English Language*. Such nightmares were widely considered to be the work of demons and more specifically incubi, which were thought to sit on the chests of sleepers. In Old English the name for these beings was *mare* or *mære* (from a proto-Germanic **marôn*, cf. Old Norse *mara*), hence comes the *mare* part in *nightmare*. The word might be etymologically cognate to Hellenic /*Marôn*/ (in the Odyssey) and Sanskrit /*Mâra*/ (supernatural antagonist of the Buddha). Folk belief in Newfoundland, South Carolina and Georgia describe the negative figure of the Hag who leaves her physical body at night, and sits on the chest of her victim. The victim usually wakes with a feeling of terror, has difficulty breathing because

of a perceived heavy invisible weight on his or her chest, and is unable to move i.e., experiences sleep paralysis. This nightmare experience is described as being “hag-ridden” in the Gullah lore. The “Old Hag” was a nightmare spirit in British and also Anglophone North American folklore.

Various forms of magic and spiritual possession were also advanced as causes. In nineteenth century Europe, the vagaries of diet were thought to be responsible. For example, in Charles Dickens’s *A Christmas Carol*, Ebenezer Scrooge attributes the ghost he sees to “... an undigested bit of beef, a blot of mustard, a crumb of cheese, a fragment of an underdone potato...” In a similar vein, the *Household Cyclopaedia* (1881) offers the following advice about nightmares:

“Great attention is to be paid to regularity and choice of diet. Intemperance of every kind is hurtful, but nothing is more productive of this disease than drinking bad wine. Of eatables those which are most prejudicial are all fat and greasy meats and pastry... Moderate exercise contributes in a superior degree to promote the digestion of food and prevent flatulence; those, however, who are necessarily confined to a sedentary occupation, should particularly avoid applying themselves to study or bodily labor immediately after eating... Going to bed before the usual hour is a frequent cause of night-mare, as it either occasions the patient to sleep too long or to lie long awake in the night. Passing a whole night or part of a night without rest likewise gives birth to the disease, as it occasions the patient, on the succeeding night, to sleep too soundly. Indulging in sleep too late in the morning, is an almost certain method to bring on the paroxysm, and the more frequently it returns, the greater strength it acquires; the propensity to sleep at this time is almost irresistible.”

Medical Investigation

Studies of dreams have found that about three quarters of dream content or emotions are negative.

One definition of “nightmare” is a dream which causes one to wake up in the middle of the sleep cycle and experience a negative emotion, such as fear. This type of event occurs on average once per month. They are not common in children under 5, more common in young children (25% experiencing a nightmare at least once per week), most common in adolescents, and less common in adults (dropping in frequency about one-third from age 25 to 55). Fearfulness in waking life is correlated with the incidence of nightmares.

Symptoms: During the nightmare, the sleeper may moan and move slightly. The victim is always awakened by these threatening and frightening dreams and can often vividly remember their experience. Upon awakening, the sleeper is unusually alert and oriented within their surroundings, but may have an increased heart rate and symptoms of anxiety, like sweating. They may have trouble falling back asleep for fear they will experience another nightmare. A person experiencing nightmare disorder would have trouble going through

everyday tasks; the lack of sleep and anxiety caused by the fearful dreams would hinder the individual from completing everyday jobs efficiently and correctly.

Causes: Nightmares can be caused by extreme stress or anxiety if no other mental disorder is discovered. The death of a loved one or a stressful life event can be enough to cause a nightmare but mental diseases like post-traumatic stress disorder and other psychiatric disorders have been known to cause nightmares as well. If the individual is on medication, the nightmares may be attributed to some side effects of the drug. Amphetamines, antidepressants, and stimulants like cocaine can cause nightmares. Blood pressure medication, levodopa and medications for Parkinson's disease have also been known to cause nightmares as well as SSRIs like Prozac and Effexor.

Demographic: Children are more apt to experience nightmares than teenagers and adults. Young children normally have nightmares once or twice a week and will usually not develop a nightmare disorder unless they are under severe psychological stress. Children who have persistent nightmares range from 10% to 50%. A child would usually not be diagnosed with nightmare disorder however, since children normally experience many nightmares when they are young. Students normally experience 4 to 8 nightmares a year and adults only have nightmares once or twice a year. About 3% of young adults report having recurring nightmares and 1% of adults recount having nightmares once or twice a week. If a student or adult is suffering from excessive nightmares, or has a recurring nightmare they may want to seek help as this may be a symptom of a more serious condition.

Treatment: There are many ways to treat dream anxiety without seeking the help of a therapist. Alleviating stress within the home and personal life is a good way to eliminate any anxiety the individual may have upon going to bed. A regular fitness routine and perhaps relaxation therapy would help to make the individual fall asleep faster and more peacefully. Yoga and meditation can also help to eliminate stress and create a more peaceful sleeping atmosphere. Psychotherapy can also help an individual learn how to cope and deal with the various stressors in their life. Diagnosis and medication can only be given to patients that report the recurring nightmares to a physician or psychiatrist. Therapy usually helps to deal with the frightening themes of the nightmares and alleviate the recurrence of the dreams. The persistent nightmares will usually improve as the patient gets older. Treatments are generally very successful.

Recent Research on Nightmare Disorder

- Dissociative Disorder is usually paired with Nightmare Disorder 57% of the time. Nightmare disorder is believed to be associated with Dissociative Disorders as a defense mechanism that is used to escape from the traumatic event that caused the Dissociative Disorder. People with Dissociative Disorder and Nightmare disorder are more likely to self-mutilate, attempt suicide, and have Borderline Personality Disorder.
- Borderline Personality Disorder with Nightmare Disorder is very common, since the stages of sleep vary from that of a normal person (i.e. increased stage one sleep, and less stage four sleep). People with Borderline

Personality disorder and Nightmare Disorder are usually the severest of those who have Borderline Personality Disorder; therefore, treating those with Nightmare Disorder may also help some with Borderline Personality Disorder.

- Hypnosis seems to be a new and effective treatment for those with Nightmare Disorder, since it increases relaxation.
- Nightmare disorder is also associated with those who have lower cholesterol. This connection is unclear; however, cholesterol may affect other hormones in the body (such as serotonin) which may affect one's sleep.

References

- Aldrich, Michael S. *Sleep Medicine*. New York: Oxford University Press, 1999.
- American Psychiatric Association. *Diagnostic and Statistical Manual of Mental Disorders*. 4th edition, text revised. Washington DC: American Psychiatric Association, 2000.
- Chokroverty, Susan, ed. *Sleep Disorders Medicine: Basic Science, Technical Considerations, and Clinical Aspects*. 2nd ed. Boston: Butterworth-Heinemann, 1999.
- Sadock, Benjamin J., and Virginia A. Sadock, eds. *Comprehensive Textbook of Psychiatry*. 7th ed. Vol. 2. Philadelphia: Lippincott Williams and Wilkins, 2000.

Value of Forest: Tribals and Dwellers

Santosh Ram

R.S., Magadh University, Bodhgaya

In India, many villages with a heavy population are located in the vicinity of forests. A vast majority of rural population especially tribals, thus depend on forests for meeting their basic needs of fuel, wood, fodder, small timber for agricultural implements and house construction, food and medicines. So the question of what is the value of the forest for tribals and dwellers. No doubt, it has a great importance for them but still they are deprived of certain rights like, right during the regular forest reservation / settlement processes, during irregularities in forest settlement / reservation processes and unsurveyed village, estate acquisition, shifting cultivation, encroachment, sacred groves, revenue forest boundary disputes. Today more than 50 million of tribal people live in and around forests. There is a clear overlap between the forest and the tribal maps of the country, as well as an overlap with poverty.¹

After India gained independence in 1947, most of the forest were nationalized. The issue of tribal people's rights in those forests has been fraught with contention and is central to political and development policy questions in India. Historically, tribals living within and on the fringe of forest areas have derived their livelihoods from forests. Forests in fact have influenced their collective imaginations, belief systems, and culture, thereby shaping their very identity. Even today, there is evidence of the coexistence of tribals and forests.²

In India, about 170,000 villages with a total population of 147 million are located in the vicinity of forests. A vast majority of rural Indians thus depend on forests for meeting their basic needs of fuel, wood, fodder, small timber for agricultural implements and house construction, and food and medicines. Resources from the "commons" provide the poorest of the poor with last-resort livelihoods as well as security of tenure in the form of a "place in the world."³

So, forest areas have been the most useful destination for the tribals and forest dwellers from the ancient times in India. Different states / UTs have their own geographical areas and protected forests. The following tables shows the total forest area by the different states / UTs and forest covers in India focusing on the reserved forest and protected forests. (Table 1).⁴

Table - 1

Assessment Area	Year	Forest Cover Estimate	% of Total Geographical Area
First	1987	64.08	19.49
Second	1989	63.88	19.43
Third	1991	63.94	19.45
Fourth	1993	63.94	19.45
Fifth	1995	63.89	19.43
Sixth	1997	63.34	19.27
Seventh	1999	63.73	19.39
Eighth	2001	65.39	19.89
Ninth	2003	67.78	20.62
Tenth	2005	67.71	20.60
Eleventh	2007	69.09	21.02

The following table also compares the forest areas of India with other different countries in the world, to understand the clear, picture about the forest area which is quite less compare to its total population than other countries. (Table 2).⁵

Table - 2

Country	Population (Million)	Forest area (000ha)	Other Wooded Land (000ha)	Total Area Under Forest and Wooded Land (000ha)	Forest Wooded Land (ha 1000/Population)
India	1079	67701	4110	71811	66
China	1326	197290	87615	284905	215
Brazil	178	477698	0	477698	2673
Indonesia	217	88495	0	88495	406
Germany	82	11076	0	11076	134
UK	59	2845	20	2865	48
French	59	15554	1708	17262	287

Now question arises also that what is the value of forest for tribals and dwellers. The distinctions between stock (the forest and flow output) is one aspect of forest resource management that is often overlooked or misunderstood. The problem arises when we try to put a value to these. Valuation of the forest or the stock is quite different from valuation of forest output or the flow of benefits from this stock. While the functions that the forest performs are varied and to an extent still not absolutely clear to ecologists, the valuation of the flow of benefits is much simpler. The object is to manage the forest in such a way that maximizes the interest or revenue, and thus make the forest as remunerative as possible.⁶

In this context it seems essential to first know the objectives to which a given forest of species is to be put, such as heavy timber, fuel or poles, or protection against erosion, or preservation for climate; this is an aspect of 'forest utilization and is rarely understood properly. However, forests provide numerous benefits and in this method of valuing forests, many other benefits are completely ignored. Such a valuation ignores the value of biodiversity. It ignores the value of medicinal products in the forest, especially to the locals. It

ignores the local livelihoods depends on the forest. It ignores the soils and watersheds that the forest stand protects. It ignores the benefits that forests provide as wildlife habitats. It ignores the support that forests provide for wilderness recreation. It ignores a host of related benefits that are still not understood properly.⁷ Valuation of forest is thus extremely difficult and complex. The longer-term social and environmental ramifications of current production and consumption decisions cannot be ignored. Economic rationality encompasses not only concerns of efficiency and equity, but also of ecological resilience and of intergenerational rights and obligations. The environmental services provided by forest uplands to the lowlands include water and soil conservation in purification, acid rain buffering, among other functions.⁸ The value of these functions is generally much greater than any use value that could be derived from direct consumption. The flows of benefits from the forests are actually undervalued in India. The reason is the absence of the market in these products. With the property rights vested with the state, marketing of the products have been least in the priority list. Forest fruits, medicinal herbs, twigs and branches for fuel, fodder and small timber for building purposes are the major forest produce for the forest dependent communities but are called 'minor forest produce' by the forest department. Timber is called the major forest produce, whereas for the local people, it is the opposite.⁹ The forest dependent community seldom needs timber. Timber is essentially used by the modern urban-industrial system. The Government control over the forests has definitely meant a reallocation of forest resources away from the needs of local communities, and towards urban and industrial needs. This has resulted in both "increased social conflict and increased destruction of the ecological resource itself."¹⁰

The forest policies of colonial India continued into the postcolonial periods, as exemplified by the National Forest Policy of 1952, which further reinforced the right of the state of exclusive control over forest protection, production and management. Just as the fulfilment of imperial needs was the priority of colonial forest policy, the demands of commercial industrial became the cornerstone of postcolonial forest policy. The encroachment of the state on forests and customary tenure rights of tribals forest-dwelling communities did not go unchallenged during the colonial and postcolonial periods. Environmental history in India has directed a significant amount of attention not only to the fate of forests in the country and its effects on forest-dwelling tribal/advansi peoples and their subordination but also to their resistance to increasing commercial exploitation and state control.¹¹

Reference

1. Poffenberger and McGean, 1996.
2. Ibid.
3. Elsworth, 2002.
4. South : Forest Survey of India (FSI), 2005, 2008, 2009.
5. Source : Current Science, Vol. 95, No. 2, 25 July 2008.
6. Agarwal, 1994.
7. Saigal, 2002.
8. Arnold, 2001.
9. Anon, 2007.
10. Roy Burman 2008.
11. Gadgil and Guha 1995.

Combating Environmental Degradation

Bisheshwar Manjhi

R.S., J.P. University, Chapra

Introduction

The landmark report of the World Commission on Environment and Development, entitled "Our Common Future", warned that unless we change many of our lifestyle patterns, the world will face unacceptable levels of environmental damage and human suffering. The Commission, echoing the urgent need for tailoring the pace and the pattern of global economic growth to the planet's carrying capacity, said that: "Humanity has the ability to make development sustainable and to ensure that it meets the needs of the present without compromising the ability of future generations to meet their own needs."

In the final analysis, the environmental crisis affects everyone on the planet, but the degree to which the inhabitants of different parts of the world contribute to this crisis depends on the level of their economic development and their consumption patterns. As much as 70% of the world's consumption of fossil fuel and 85% of chemical products is attributable to 25% of the world's population. Water consumption is also unevenly distributed. The per caput water consumption in the United States is about 2 300 m³ per annum, as compared to 1 500 m³ for the Canadians and 225 m³ for the British. The average per caput consumption of water in developing countries ranges between 20 to 40 m³. The consumption patterns for forest products and many other commodities have the same direct inverse proportion to the size of population of the top 20% of the richest societies. This profligate demand puts excessive pressure on both national and global natural resources. The rest of the world, comprising 80% of its population with a share of less than 20% of global income, has a far more modest consumption level.

While international environmental concerns are often expressed in broad terms such as desertification or climatic change, the environmental problems of concern to vulnerable groups in marginal areas are generally quite localized in nature, revolving around immediate issues, such as the degradation of a particular rangeland or soil erosion on farmland or the progressive shortening of fallow. These affect the poor because they are directly related to household food security. Degradation of the resource base generally translates into decreases in production or income and thus in the availability of food. Declining soil fertility leads to lower crop yields while rangeland depletion reduces offtake, and any deterioration in water quality adversely affects the fish catch. Degradation of common property resources pulls labour away from directly productive activities towards gathering—simply collecting non-wood and minor forest products—and probably diminishes opportunities for deriving income from this source. Linkages with food security can also be less direct. Shortages

of biomass may result in a transition to lower-nutrition foods that require less fuel for cooking. In addition, recurrent drought or natural calamities also directly result in progressive loss of food security prospects.

In their quest for food security, the rural poor have sometimes little choice but to overuse the limited resources available to them. The resulting environmental degradation imposes further constraints on their livelihood in what has been called a “downward spiral” or “vicious circle”. They are often forced to make trade-offs between immediate household food requirements and environmental sustainability both in production and consumption. Their negligible man-made capital assets, ill-defined or non-existent property rights, limited access to financial services and other markets, inadequate safety nets in time of stress or disaster, and lack of participation in decision-making can result in their adopting “short time horizons”, which favour immediate imperatives over longer-term objectives. This can result in coping strategies that rely on the drawing down of the capital available to them — mainly in the form of natural resources. It also makes them more vulnerable to environmental degradation, including degradation wrought by others than the poor themselves.

The poor may be both agents and victims of environmental degradation, especially in marginal areas, where the resource base is ill-suited to agriculture. But it cannot be assumed that the poor have an intrinsic propensity to degrade environmental resources. On the contrary, many poor traditional communities demonstrate an admirable environmental ethic and have developed complex resource management regimes. There is little evidence that the rural poor, when offered an appropriate environment-including secure tenure and access to markets-pursue resource-degrading strategies. Thus, while poverty may be an underlying cause of environmental degradation, it is more accurately seen as a proximate cause influenced by a complex of policy and institutional factors. The very same processes that lead to and perpetuate poverty constrain the poor in their decision-making with regard to natural resource management. Affluence and poverty affect the environment in different ways: poverty eradication would not erase environmental degradation but change the nature of environmental problems facing society.

Poverty in Fragile Ecosystems

Absolute poverty has been on the retreat in most high-potential areas in developing countries. The combination of more productive technologies, fertile land and water, and high levels of development and public investment have raised incomes significantly for people living in these areas. While this development has not always been equitable-or sustainable, the most important disparities are not between rich and poor people within high-potential areas, but rather between high-potential high-investment areas and fragile ecosystems. In the latter areas, politically marginal indigenous populations have been neglected and have been joined by new groups displaced from more fertile areas through a variety of processes. These processes, although varying across countries and regions, include expropriation, demographic pressures, land fragmentation, privatization of common property lands, and consolidation and

expansion of the commercial sector combined with reduced demand for labour due to mechanization.

While the challenge for poverty alleviation in high-potential areas remains considerable, the prognosis is not grim provided agricultural intensification proceeds without environmental destruction. On the other hand, for the 60% of poor populations who are found in fragile ecosystems and mainly remote and ecologically vulnerable rural areas, the challenge of environmentally sustainable poverty alleviation is immense. It has been estimated that 80% of poor people in Latin America live in such areas, 60% in Africa and 50% in Asia. Reliance on the currently prevailing patterns of growth will postpone the resolution of poverty in marginal areas, with severe implications not only for the people affected but also for the environment. The immediate-to-medium-term prospects for the rural poor to abandon these areas for other sectors of the economy, as was the case in Europe in the last century, are not promising. As a result, fragile ecosystems are rapidly becoming ghettos of poverty and environmental degradation.

The need for urgent action can be recognized in relation to the following characteristics of these regions:

- (a) They constitute a significant part of the world's land resources. Forty percent of the earth's land surface is considered dryland, of which approximately 70% is already degraded or subject to heavy degradation. On the other hand, hilly and mountainous regions cover about 21% of the earth land mass and, although not so extensive as dry lands, they exert a far-reaching influence on other areas, primarily through watershed functions.
- (b) The role of both ecosystems in terms of human habitat is also significant: approximately 900 million of the world's population are subsisting in dry zones. Although only about 10% of the world population live in mountain areas, a much larger percentage (about 40%) occupies the watersheds below. It is safe to assume that the future of mountain ecosystems affects the life of half of the world's population. From the Andes to the Himalayas, and from South East Asia to East and Central Africa a serious ecological deterioration caused by overgrazing, deforestation and excessive cultivation threatens the livelihood of these populations.
- (c) Mountains are important sources of water, energy, minerals, agricultural products and a major reserve for the world's biodiversity. Similarly, dry zones are rich in biodiversity, hosting many endangered species. Moreover, crops, grasses, trees, and livestock species, that form the core of survival in drought prone regions, exist in these regions only.
- (d) A high proportion of the absolute poor in ecologically fragile areas are indigenous peoples, estimated at some 300 million worldwide. They depend on renewable resources to maintain their well-being. This has led to the development of livelihood systems which are well-adapted to the harsh conditions in which they lived. Their holistic, traditional knowledge of their natural resources and environment constitutes a rich human heritage. However, their traditional ways of life are now being threatened,

disturbing the delicate balance of natural resource use. Nevertheless, viable technology and institutional arrangements for resource conservation in these areas could be built upon indigenous knowledge; and similarly effective disaster prevention policies can benefit from coping strategies developed by the local population.

- (e) Rural women play a key role in on-and off-farm activities in the developing countries. This is particularly true in the case of the ecologically fragile areas. With the growing male out-migration from marginal areas, the number of women headed households in these areas is increasing. Women are becoming more and more responsible for the day to day survival of the family. Women tend to be more vulnerable than men to the effects of environmental degradation because they are often involved in harvesting common property resources such as wood and water. Since women usually make a greater contribution to household food security than men, a decline in women's access to resources may have a significant impact on household consumption. Environmental degradation implies further burdens and responsibilities which are not compensated for by increased decision-making power.
- (f) Degradation of land and loss of its vegetative cover also have consequences at the global level, primarily because of its influence on carbon exchange, but also in terms of loss of biodiversity. The large amount of carbon stored in the vegetation of the dry zones, for example, averaging about 30 tonnes per hectare, decreases when the vegetation is depleted or disappears. Carbon-rich soils, frequently found in dry zones, store a substantial amount of this element (nearly half the total quantity of carbon is stored in the organic matter in the soil, much more than is found in the world's vegetation). The destruction of these soils has a very powerful effect on the carbon cycle and boosts the greenhouse effect as a result of the release of carbon.

Reference

- Population Growth, Modernization and Environmental Degradation : Arvind Kumar Singh, Radha Pub, 2007.
- Environmental Degradation and Protection: K K Singh; A K Singh; Alka Tomar and Vinod Singh, MD Pub, 2007.
- Environmental Degradation and Child Development : S. Wal, Sarup and Sons, 2006.
- Environmental Degradation : Socio-Economic Consequences : I.S. Chauban and Arun Chauban, Rawat, 1998.

Global Warming and Natural Climate Change in the Past

Arjun Rai

Member of Parliament, Lok Sabha (Sitamarhi, Bihar)

Earth's climate has changed long before we were pouring CO₂ into the atmosphere. Europe was far warmer in the Middle Ages. During the 17th and 18th century, it was much colder, prompting the 'The Little Ice Age', when the Thames was frozen over months at a time. Further back, there were times when the Earth was several degrees hotter than current temperatures. Warming of several degrees often took only centuries or decades.

What the science says...

Past climate change actually demonstrates that the climate is sensitive to radiative forcing. Having determined climate sensitivity from empirical observations, scientists can calculate the climate response to CO₂ forcing.

It's a well established fact that climate changes naturally and sometimes dramatically. The pertinent question isn't "has climate changed in the past?" (of course it has) but "what is causing global warming now?" To begin to answer that, it's helpful to look at the major causes of natural climate change in the past.

Solar Activity

Solar variations have been the major driver of climate change over the past 10,000 years. When sunspot activity was low during the Maunder Minimum in the 1600's or the Dalton Minimum in the 1800's, the earth went through 'Little Ice Ages'. Similarly, solar activity was higher during the Medieval Warm Period.

However, the correlation between solar activity and global temperatures ended around 1975. At that point, temperatures started rising while solar activity stayed level. This led a team of scientists from Finland and Germany to conclude "during these last 30 years the solar total irradiance, solar UV irradiance and cosmic ray flux has not shown any significant secular trend, so that at least this most recent warming episode must have another source." More on the sun & global warming...

Milankovitch Cycles

Earth's climate undergoes 120,000 year cycles of ice ages broken by short warm periods called interglacials. The cycle is driven by Milankovitch cycles. Long term changes in the Earth's orbit trigger an initial warming which warms the oceans and melts ice sheets - this releases CO₂. The extra CO₂ in the atmosphere causes further warming leading to interglacials ending the ice ages.

For the past 12,000 years, we've been in an interglacial. The current trend of the Milankovitch cycle is a gradual cooling down towards an ice age.

Volcanoes

Volcanic eruptions spew sulfate aerosols into the atmosphere which has a cooling effect on global temperatures. These aerosols reflect incoming sunlight, causing a 'global dimming' effect. Usually, the cooling effect lasts several years until the aerosols are washed out of the atmosphere. In the case of large eruptions or a succession of eruptions such as in the early 1800's, the cooling effect can last several decades. Strong volcanic activity exacerbated the Little Ice Age in the 1800's.

Summary

The usual suspects in natural climate change - solar variations, volcanoes, Milankovitch cycles - are all conspicuous in their absence over the past 3 decades of warming. This doesn't mean by itself that CO₂ is the main cause of current global warming - you don't prove anthropogenic warming by eliminating all other options. But the primary causes of commonly cited climate change in the past have played little part in the current warming trend.

As for CO₂, empirical observations show that CO₂ has a warming effect as a greenhouse gas, CO₂ is increasing in the atmosphere and the expected warming you would get from greenhouse gases is occurring. Any alternative theory that found a different cause of global warming would also need to explain why the expected (and observed) warming from CO₂ has not eventuated.

References

- Hubbard, E.F., Sallenger, A. 1995. "A Whirlwind of Activity: The USGS Responds to Hurricanes. In: Understanding the Earth." Reston, VA: U.S. Geological Survey.
- Hull, C.H.J. and J.G. Titus. 1986. "Greenhouse Effect, Sea Level Rise, and Salinity in the Delaware Estuary." Washington, D.C.: Environmental Protection Agency and Delaware River Basin Commission.
- Intergovernmental Panel on Climate Change (IPCC), 1994. *Radiative Forcing of Climate Change, the 1994 Report of the Scientific Assessment Working Group of IPCC Summary for Policymakers*, World Meteorological Organization, Geneva, Switzerland.
- Intergovernmental Panel on Climate Change (IPCC), *Second Assessment Report, Climate Change 1995*. World Meteorological Organization, Geneva, Switzerland.
- Lyle, S.D., L.E. Hickman, and H.A. Debaugh. 1988. *Sea Level Variations in the United States*. National Ocean Service, NOAA.
- NOAA, Office of Global Programs. 1994. "A Proposal to Launch a Season-to-Interannual Climate Prediction Program," Washington, DC.
- NOAA, Office of Global Programs. 1995. "International Forum on Forecasting El Nino: Launching an International Research Institute," Washington, DC.
- NOAA Office of Global Programs, 1994. *Reports to the Nation, No. 3, El Nino and Climate Prediction*, University Corporation for Atmospheric Research, Boulder, CO.
- NOAA Office of Global Programs, 1997. *Reports to the Nation, No. 4, Our Changing Climate*, University Corporation for Atmospheric Research, Boulder.
- Park, R.A., Lee, J.K. 1993. "Potential Effects of Sea Level Rise on South Florida Wetlands," Climate Change Division. Environmental Protection Agency.

Role of E-Business in the New Economy

Dr. Nripendra Bharti

Tilka Manjhi Chowk, Bhagalpur

In context of the electronic revolution taking place in our economy we must recognize these changes take place in a larger economic context. Global competition, interest rates, laws and regulations, social concerns, industry traditions, consumer preferences etc., are all part of environment affecting business activities.

Besides, electronic and non electronic businesses share available economic resources including natural resources, equipment, telecommunication employees' skills etc. E-business, globalization and internet are interdependent. The more global players exist, the more business they want to do which will attract more people to get direct internet access. There are many categories of e-business such as e-commerce, e-marketing, e-mailing, e-auction, and e-supply and so on.

The integration of these categories through internet enhances existing business or to create new virtual business. E-business commonly referred to as "e-Business" or "e-business enable companies to link their internal and external data processing systems more efficiently and flexibly, to work more closely with suppliers and partners, and to better satisfy the needs and expectations of their customers.

In practice, e-business is more than just e-commerce. While e-business refers to more strategic focus with an emphasis on the functions using electronic capabilities, e-commerce is a subset of an overall e-business strategy. E-business involves business processes spanning the entire value chain: electronic purchasing and supply chain management, processing orders electronically, handling customer service, and cooperating with business partners. E-business can be conducted using the Web, the Internet, intranets, extranets, or some combination of these.

Benefits of e-Business

Expand Market Coverage E-Business eliminates these limitations of geography and time zones. The whole world is the available market, 24 hours a day, 7 days a week, 365 days in a year. Worldwide business professionals, buyers, and decision-makers have access to the Internet, spanning all time zones. The buyer conducts business "where" and "when" they want to without traditional limitations. So, with e-Business a firm creates a global, "365x24x7" availability to its customers.

The firms can offer complimentary and supplementary products, and add-on promotions as buyers make selections. This leads to a larger volume of ordering, creating a higher revenue stream at a marginally low cost per transaction. It makes previously uneconomical markets attractive. This increases the size of the available market by turning marginal segments into profitable ones. This ability to turn frogs into princes is powered by e-Business's low variable costs for addressing marginal segments.

The power of the add-on products can also be sold into these previously unprofitable segments, turning them into substantially profitable ones.

Reduce Costs: The major cost-reduction benefit is the promise of changing the distribution of products and services to customers. Products requiring little or no experience in the buying cycle can be purchased by the customer on the Internet and delivered directly without intermediaries. The elimination of various layers of distribution is the major cost reduction benefit to the market.

The National Association of Purchasing Management outlines the following benefits:

- Reduction in process variations
- Reductions in costs and errors
- Vendor sourcing strategy support
- Improvements in process capability
- Procurement paradigm shift from passive to active
- Elimination of unwanted paper trail
- Improved access to information
- Reduction in costs and cycle times.

Strengthen Customer Relationships

The purpose of a business is to find and keep customers. E-Business has the ability to deliver benefits that can address both aspects of this statement, by delivering better purchase experiences to the buyer. Buyers are migrating to Internet buying in situations when it's faster, better, and cheaper than traditional methods. Faster e-Business assures faster delivery of products and services by speeding up order fulfillment, and delivering into just-in-time upstream processes, particularly in Business-to-Business environments.

Better Paper and client-server based systems with their "version control" limitations created problems that set limits to their efficiency. The "write-once, read-many" environment of e-Business assures that internal and external audiences see and work with the same up-to-date, accurate data. Additionally, where little customer-vendor interaction is required, e-Business creates an opportunity for virtual self-service counters.

Cheaper The Internet turns every vendor into an equal in a competitive bid. The customer now has more choice in suppliers. The customer has more

alternate vendors, and lower prices are anticipated in all e-Business driven markets.

E-commerce is the process of buying, transferring, or exchanging products, services, and/or information via computer networks, including the internet, seeks to add revenue streams, build and enhance relationships with clients and partners and to improve efficiency.

E-Commerce that is conducted between businesses is referred to as business-to-business or B2B. B2B can be open to all interested parties (e.g. commodity exchange) or limited to specific, pre-qualified participants (private electronic market). Electronic commerce that is conducted between businesses and consumers, on the other hand, is referred to as business-to-consumer or B2C. This is the type of e-commerce conducted by companies such as Amazon.com. E-Commerce is generally considered to be the sales aspect of e-business. It also consists of the exchange of data to facilitate the financing and payment aspects of the business transactions.

E-mail is a method of exchanging digital messages. E-mail systems are based on a store-and-forward model in which e-mail computer server systems accept, forward, deliver and store messages on behalf of users, who only need to connect to the e-mail infrastructure, typically an e-mail server, with a network-enabled device for the duration of message submission or retrieval. Email advertising becoming widely used as a means of distributing advertising messages to people on internet. Email advertising is being tied to the use of promotions and gimmicks. The main advantage of email advertising is that it is cheap to implement and can include feedback facility.

E-mailing Postal services and telecommunications companies are losing market share to the electronic communication, especially, e-mail. It combines the strength of a phone call is its immediacy and the letter has the advantage that everything is in written form. The internet enables instant communication in written form, either by e-mail or on line chat.

References

- Alvesson, M. and H. Willmott: *Commerce Studies*, Sage, New Delhi, 1992.
- Belkaoui, A.R.: *Accounting Theory*, London, Academic Press Ltd, 1992.
- Blanshard, B.: *The Uses of A Commerce Education*, La Salle, Open Court, 1973.
- Bragg, S. M.: *Accounting Best Practices*, John Wiley & Sons, 2001.
- Choi, F. D.S. and Mueller, G. G.: *International Accounting*, New York, Prentice-Hall International Inc, 1992.
- Dancy, J.: *Introduction to Contemporary Epistemology*, Oxford, Blackwell Publishers Ltd., 1996
- DeGeorge, R. T.: *Business Ethics*, London, Macmillan Publishing Co., 1990.
- Donald N.: *The Rhetoric of Commerce Education*, Madison, University of Wisconsin Press, 1985.
- Galbraith, J.K.: *A History of Economics: the past as the Present*, London: Penguin Books, 1987.

- Keen, S.: *Debunking Economics: The Naked Emperor of the Social Sciences*, Pluto Press, Sydney, 2001.
- Loomes, G. : "Experimental Commerce Education," New York, St. Martin's Press, 1989.
- Morris, J.: *Software Industry Accounting*, John Wiley & Sons, 2000.
- Roslender, R.: *Sociological Perspectives on Modern Accountancy*, London, Routledge, 1992.
- Ross, D. : *Commerce Theory and Cognitive Science*, Cambridge, Mass., MIT Press, 2006.
- Mellor, J. W.: *The New Economics of Growth*, Ithaca, Cornell University Press, 1976.
- P. Venkateshwara Rao: *Dairy Farm Business Management*, Biotech Books, Delhi, 2008.
- Parry M.L.: *Climatic Change, Agriculture and Settlements*, Dawson Folkestone UK, 1978.
- Smith, V. L.: *Papers in Experimental Economics*, Cambridge, Cambridge University Press, 1991.
- Throsby, David, *Economics and Culture*, Cambridge University Press, 2001.
- Tietenberg, Tom, *Environmental Economics and Policy*, New York, HarperCollins, 1994
- Towse, Ruth ed.: *A Handbook of Cultural Economics*, Edward Elgar, 2003.
- Weber, M.: *The Theory of Social and Economic Organizations*, New York, Oxford University Press, 1947.
- Roth, A. E. : "Introduction to Experimental Commerce," Princeton, Princeton University Press, 1995.